साहित्य

[शास्त्रीय समाधान]

शंकरदेव अवतरे

इस संस्करण के पूर्ण स्वत्व।

आराधना प्रकाशन

गोलादीनानाथ, वाराणसी।

[मूल्य सात रुपये]

साहित्य

[शास्त्रीय समाधान]

शंकर देव अवतरे

एकमात्र वितरक

कल्याण दास ब्रदर्स

ज्ञानवापी, वाराणसी १

प्रथम संस्करण

प्रकाशक—
शंकर देव अवतरे
काशी हिंदूविश्वविद्यालय, काशी।

मूल्य ७) रुपये

मुद्रक—
रामनिधि त्रिपाठी
मायापति प्रेस, मध्यमेश्वर, काशी।

नवम्बर '५७।

प्रिय शंकरदेव शर्मा 'अवतरे' की पुस्तक 'साहित्य के शास्त्रीय समाधान' प्रकाशित हो रही है, यह मेरे लिये अत्यधिक प्रसन्नता की बात है। श्री अवतरे जी बहुत अच्छे कवि और विचारक हैं। वे शास्त्रीय दृष्टि से साहित्य का अध्ययन तो करते हैं पर आधुनिक आलोचना-पद्धति को त्याग कर नहीं। उनके विचार सुलझे हुए हैं और विचार्य विषय को सहजग्राह्य करने की क्षमता भी उनमें है। मुझे आशा है कि हिंदी का सहृदय पाठक उनकी इस रचना से आनन्द और सन्तोष प्राप्त करेगा। परमात्मा से मेरी प्रार्थना है कि श्रीअवतरे जी को अधिकाधिक शक्ति और दीर्घजीवन प्रदान करें ताकि वे आगे चल कर साहित्य को उत्तम ग्रंथ-रत्नों से समृद्ध करते रहें।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

स्थापना

वाणी का वरदान जैसा मनुष्य को मिला वैसा अन्य किसी प्राणी को नहीं। उस वाणी से जैसा उपबृंहण उसने किया, उससे वाणी के कोश का ही उद्घाटन और संवर्धन नहीं हुआ, वाणी की श्रेष्ठता और वरिष्ठता का ही प्रमाण नहीं मिला, मनुष्य की ज्येष्ठता तथा उसके वाणी के उपयोग-विनियोग की उत्कृष्टता की भी सिद्धि हुई। सारा खेल बाह्य दृश्यप्रसार और अंतःकरण के विस्तार का है। बाहर जो बिंब है उसी का प्रतिबिंब भीतर है। जो रूपराशि, जो स्वरलहरी, जो सुवास, जो आस्वाद्य सामग्री, जो संस्पृश्य धारा बाहर घनीभूत, तरंगायित, प्रसरित, अवस्थित और प्रवाहित है उन सबका आनयन वह अंतःकरण के संनिकर्ष से भीतर भी करता रहता है। केवल ज्ञान से उसका संतोष नहीं हो जाता, उसमें अधिकाधिक कुतूहल भी जगता रहता है, बाह्य अनंत प्रसार के प्रति। आनीत अथवा प्रतिबिंबित्त के प्रति कुतूहल ही होकर नहीं रह जाता, उससे विकार का सद्भाव भी होता है और बारंबार इसके भावन से अनुभूति भी होती है। जो ज्ञान, जो कुतूहल, जो अनुभूति होती है उसे वह भीतर ही संचित नहीं रखता, अंतःकरण से बाहर भी करता रहता है। भीतर से बाहर वाणी या वाक् उन्हें ले आती है। वाक् के इसी बाह्य प्रस्फुटित रूप का आकलन 'वाङ्मय' कहलाता है।

अंतःकरण का वर्तन एक ही प्रकार का नहीं होता। इसी से वाङ्मय भी एक ही प्रकार का नहीं होता। यों तो वाङ्मय

अनेक रूप धारण करता है, पर सबकी सर्वसामान्य विशेषता की तालिका से यह प्रमाणित होता है कि एक ओर तो अंतःकरण की तल्लीनता की अभिव्यक्ति होती है दूसरी ओर उसकी तटस्थता व्याकृत रहती है। एक में उस वेग या शक्ति का रूप सामने आता है जिसमें दूसरा भी तल्लीन हो सकता है। दूसरे में स्थैर्य या ज्ञान सुस्थ रहता है जिससे दूसरे का अंतःकरण निमग्न नहीं, विचार के लिए उन्मग्न होता है। पहले में संकोच की प्रवृत्ति होती है दूसरे में विस्तार की। पहले में अंतःस्थ होने की वृत्ति रहती है दूसरे में बहिःस्थ होने की। पहले का प्रयोजन अर्थ का बोध करना मात्र होता है। दूसरे का प्रयोजन रमण कराना होता है। पहले में मीमांसा होती है दूसरे में रिरंसा। वाङ्मय की इस उभयथा स्थिति को नवीनों ने 'ज्ञान का वाङ्मय' और 'शक्ति का वाङ्मय' कहा। प्राचीनों ने 'शास्त्र' और 'काव्य' कहा है।

'काव्य' का दूसरा नाम 'साहित्य' है। 'साहित्य' में कौन 'सहित' रहते हैं?—शब्द और अर्थ। जो शब्द या वाणी होती है उससे कोई न कोई अर्थ, पदार्थ या वस्तु संकेतित रहती है। शब्द और अर्थ में इन दो के कारण त्रिधा स्थिति दिखाई देती है। कहीं शब्द से ही प्रयोजन होता है, कहीं अर्थ से प्रयोजन होता है और कहीं शब्द और अर्थ दोनों से प्रयोजन होता है। जहाँ शब्द और अर्थ संपृक्त रहते हैं, उनका यथावत् सहभाव रहता है, वे कहने भर के लिए समझने समझाने के लिए भिन्न कहे जाते हैं तत्त्वतः अभिन्न हो जाते हैं, वही साहित्य है। उनके संपृक्त होने और सहभाव से जो सृष्टि होती है उसी का नाम 'रस' है। यह सृष्टि 'रस' के आगे नहीं जाती, इसकी चरम विश्रांति रस ही है। पार्वती-परमेश्वर

के संपृक्त-सहभाव से 'कुमारसंभव' हुआ। कुमार के कौमार्य ने सृष्टि-संभव का नियमन कर दिया। यही वागर्थ के कुमार रस की भी नीति है। पर साहित्य में 'सहित' एकवचन या द्विवचन तक नहीं है, 'सहितस्य' या 'सहितयोः' तक ही नहीं है, उसकी प्रसक्ति 'सहितानां' में भी है, बहुवचन में भी है। यही कारण है कि संसार की कोई विद्या, कोई उपविद्या ऐसी नहीं है जिसे साहित्य अपने आभोग में न ला सके। यहाँ तक की वह अपना भी निरीक्षण करता है। उसमें काव्य ही नहीं होता, काव्य की उपज्ञा ही नहीं रहती; शास्त्र की प्रज्ञा भी रहती है। इसलिए 'साहित्य' में काव्य और उसके शास्त्र का भी साहित्य है। पार्थक्य के लिए काव्य को काव्य और उसके शास्त्र की 'साहित्य' संज्ञा हो गई। फिर यह इतना व्यापक हो गया कि वाङ्मय के पर्याय के रूप में भी प्रचलित हो गया, जो अधुनातन स्थिति है।

'काव्य' के अपर पर्याय 'साहित्य' और वाङ्मय के अपर पर्याय 'साहित्य' के कारण विद्या के क्षेत्र में विषम स्थिति उत्पन्न हो गई। पहले तो साहित्य को काव्य के रूप में विद्या ही कहते थे, पंचमी साहित्यविद्या कहलाती थी; पर मूर्ति, चित्र, संगीत और अभिनय के साथ काव्य को कला कहने का प्रचलन होने से वह उपविद्या की श्रेणी में पहुँचा दी गई। काव्य में उपविद्या का साहाय्य रहता है, उसमें मूर्तितत्त्व, चित्रतत्त्व, संगीततत्त्व या नादतत्त्व, अभिनयतत्त्व या संवादतत्त्व सहायक के रूप में आते हैं। इन सहायकों को भी काव्य या साहित्य कह देने में हृदय का संमान चाहे जितना हो पर बुद्धि का घोर अपमान है। भावुकता में कला को ही नहीं, विज्ञान को भी साहित्य कहने लगे कुछ मनचले। 'काव्य साहित्य है, कला साहित्य है, विज्ञान साहित्य है' उक्ति अविचारित रमणीय हो सकती है,

विचारित सुस्थ नहीं; कविता कही जा सकती है, पर शास्त्र नहीं। जो काव्य या साहित्य को साहित्येतर से पृथक् करते हैं वे शास्त्रचिंतन के नाते। इसमें उनके हृदय का संकोच देखना मनमानी ही कही जा सकती है, बुद्धिमानी नहीं।

काव्य की सत्ता पारमार्थिक या प्रातिभासिक नहीं है, प्रातिबिंबिक है। जो बिंब बाहर है उसका प्रतिबिंब भीतर है। जो बिंब भीतर है उसका प्रतिबिंब बाहर आता है। बिंब से प्रतिबिंब और इस प्रतिबिंब का बिंब होना तथा प्रतिबिंब से हुए बिंब का फिर प्रतिबिंब सामने आना काव्य-प्रक्रिया में सतत होता रहता है। इसलिए काव्य न तो प्रमा है, न भ्रम; वह कल्पना है। कल्पना की सृष्टि का काम अर्थ के बाध से नहीं चल सकता, बिंब के चारुत्व के दर्शन, रमणीयत्व के संवेदन और प्रतिबिंब के प्रदर्शन तथा प्रतिवेदन से ही चल सकता है। प्रदर्शन और प्रतिवेदन के लिए परपक्ष की अपेक्षा होती है। इसलिए काव्य या साहित्य केवल निर्माता से ही संबद्ध नहीं होता, ग्रहीता या भावयिता से भी संबद्ध होता है। वह वर्णयिता से ही संबद्ध नहीं होता वर्ण्य से भी संबद्ध होता है। वह कर्ता से ही संबद्ध नहीं होता नाट्य में अनुकर्ता से भी संबद्ध होता है। केवल नेता से ही नहीं उसका संबंध अभिनेता से भी होता है। इसलिए साहित्य काव्य और नाट्य का भी साहित्य है।

साहित्य के निर्माण में कभी संकल्प की स्थिति रहती है, कभी अनुसंधान की और कभी निश्चय या विमर्श की। उसकी अहंता संकल्प में, अनुसंधान में और विमर्श में लिपटी रहती है। पर वह अपनी अहंता का विसर्जन करके सर्जन करता है। कविता हो, उपन्यास या नाटक हो, निबंध या आलोचना हो, सर्वत्र उसे अपनी अहंता का विसर्जन थोड़ा-बहुत करना ही पड़ता

है। अहंता का विसर्जन ही होता है, विनाश नहीं। इसी से एक की कविता दूसरे की कविता से, एक का उपन्यास दूसरे के उपन्यास से, एक का नाटक दूसरे के नाटक से, एक का निबंध दूसरे के निबंध से, एक की आलोचना दूसरे की आलोचना से भिन्न होती है; पर साथ ही उनमें अभिन्नता भी रहती है, सर्वरूपता या विश्वरूपता की। व्यक्ति व्यक्ति के उक्त भिन्नत्व को व्यक्तित्व कहते हैं। यही जब विशेष रूप में प्रदर्शित होता है तब अधिक आत्मपरक होने के कारण रचना व्यक्तिवादिनी हो जाती है। इस प्रकार साहित्य में अंतःकरण की सभी वृत्तियाँ काम करती रहती हैं; कहीं प्रधान रूप से कहीं गौण रूप से। इसलिए साहित्य में अंतःकरण की मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार वृत्तियों का साहित्य रहता है और तत्प्रयत्नस्वरूप कविता, उपन्यास, कहानी-नाटक, निबंध-प्रबंध-आलोचना, उनकी शाखा-प्रशाखा का भी साहित्य रहता है।

इस प्रकार साहित्य अपने आभोग में जितना अधिक समेट सकता है उतना अधिक कोई साहित्येतर वाङ्मय कभी नहीं समेट पाता। साहित्य में समन्वय की प्रवृत्ति है और साहित्येतर में अनन्वय की। साहित्य साहित्येतर को अपने पास ही नहीं बुलाता, वह साहित्येतर के पास जाता भी है। कभी साहित्य अंगी होता है साहित्येतर अंग, कभी साहित्येतर साध्य होता है साहित्य साधन। पर यह कभी नहीं हो सकता कि साहित्य साहित्येतर हो जाय या साहित्येतर साहित्य। काव्य ज्योतिष नहीं हो सकता, ज्योतिष काव्य नहीं हो सकता। काव्य में ज्योतिष बुलाया जाता है और ज्योतिष में काव्य जाता है। ज्योतिष स्वयम् काव्य में नहीं आता और ज्योतिष काव्य को स्वयम् नहीं बुलाता। काव्य की समन्वय-वृत्ति उसे ही जाने को प्रेरित करती है। इसे यों समझिए कि कोई ज्योतिषी साहित्यिक नहीं हो सकता, साहित्यिक

साहित्यिक तो है ही ज्योतिषी भी हो सकता है। जब ज्योतिषी ज्योतिष के ग्रंथ की रचना करेगा तो उसमें केवल अर्थबोध का प्रयास रहेगा जब कोई साहित्यिक ज्योतिषी होगा और वह ज्योतिष के ग्रंथ का निर्माण करेगा तो उसमें चारुता और रमणीयता का नियोजन कर देगा। वैद्यक के कई ग्रंथ संस्कृत में चारुता और रमणीयता के नियोजनपूर्वक रचे गए हैं। इतने पर भी वे वैद्यक की ही संपत्ति हैं, साहित्य की नहीं। पुराण काव्यशैली पर लिखे गए हैं, पर वे पुराण ही हैं काव्य नहीं। काव्य भी पुराणशैली का ग्रहण करके लिखा जा सकता है, पर वह काव्य ही होगा, पुराण नहीं। रामचरितमानस ने परिष्कारपूर्वक पुराणशैली को स्वीकार किया, इसलिए वह पुराण नहीं कहा जा सकता उसे काव्य ही कहेंगे। पुराण की शैली साज-सज्जा है, साधन है, वस्त्राभूषण है। विजातीय या विलायती वस्त्राभूषण पहन लेने पर भी कोई भारतीय विजातीय नहीं हो जा सकता। उसमें विजातीय होने का भ्रम हो सकता है। जो रामचरितमानस को पुराण कहते हैं उन्हें इसी से शुद्ध भ्रम है, मिथ्या ज्ञान है।

यदि कोई यह कहे कि साहित्य और साहित्येतर के पार्थक्य को मान लेने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य कोई ऊँची वस्तु है अथवा साहित्य ऊँची वस्तु हो या न हो उसकी साधना से कोई ऊँचा नहीं हो सकता, तो कहना पड़ेगा कि विश्वरूप को समेटनेवाले साहित्य के संबंध में यह भी भ्रांति ही है। किसी साहित्येतर वाङ्मय का उद्देश्य या लक्ष्य अर्थ होगा, काम होगा, धर्म होगा, मोक्ष होगा। साहित्य का लक्ष्य एक साथ चतुर्वर्गफलप्राप्ति है। यहाँ भी साहित्य की समन्विति ही है। चारों वर्गों का, चारों पुरुषार्थों का साहित्य यहाँ रहता है। जो साहित्य में केवल अर्थ, केवल काम, केवल धर्म या

केवल मोक्ष देखते हैं वे साहित्य को साहित्येतर के रूप में समझ बैठते हैं या साहित्य की शैली में प्रस्तुत साहित्येतर को साहित्य कहना चाहते हैं। जिस प्रकार साहित्येतर को साहित्य समझना भ्रम है उसी प्रकार साहित्य को साहित्येतर समझना भी भ्रम है और इस भ्रम को दूसरों को सत्य बतलाना तो भारी भ्रम है, महाभ्रम है। साहित्य में अतिवादी नीति नहीं चलती उसमें समन्वितिवादी नीति ही चलती है। इसी से कहा गया है कि साहित्य लोकसाधन ही नहीं करता परलोकसाधन भी करता है। उससे केवल प्रसादन ही नहीं होता, परिष्कार भी होता है। सत्त्वोद्रेक के कारण ऐसी स्थिति होती है। रज और तम दब जाते हैं। साहित्य-साधना से सात्त्विकता में वृद्धि होती है। साहित्य की रचना के अनुशीलन से तमोगुण तो एकदम दब जाता है, पर कभी-कभी रजोगुण उस सात्त्विकता के साथ रह सकता है। इसलिए साहित्य में कभी अनुरंजन होता है और कभी चिन्मय संवित्ति। इसी से साहित्य में दो प्रकार के प्रवाह चलते हैं—एक को चारुत्वप्रवाह और दूसरे को अनुभूतिप्रवाह कह सकते हैं। चारुत्वप्रवाह के अंतर्गत अलंकार, गुण–रीति और वक्रोक्ति के मत आते हैं और अनुभूतिप्रवाह के अंतर्गत रस, ध्वनि, अनुमिति और औचित्य के मत। एक का संबंध काव्य या श्रव्यकाव्य की विकासपरंपरा से है और दूसरे का संबंध नाट्य या दृश्यकाव्य की विकासपरंपरा से। साहित्यनिर्माण में त्रिकोणात्मक स्थिति होती है। उसके एक कोण में कर्ता या निर्माता रहता है, दूसरे कोण में वर्ण्य या नेता रहता है, तीसरे में ग्रहीता या सामाजिक होता है। नेता के साथ कभी अभिनेता भी आ जाता है, अनुकार्य के साथ अनुकर्ता भी आ जाता है। कर्ता का संबंध शब्द से, नेता का संबंध अर्थ से और ग्रहीता

का संबंध प्रधान रूप से रस से होता है। प्रधान रूप से इसका संबंध सामाजिक से ही होता है। वह कर्ता, नेता, अभिनेता में भी हो सकता है, पर रूपभेद से। कर्ता में वह बीजरूप में रहता है, नेता में वह जलरूप में, अभिनेता में वह वृक्षरूप में और ग्रहीता में फलरूप में।

चारुत्वप्रवाह का संबंध शब्द से अधिक है, कर्ता से अधिक है। अर्थ से भी है, वर्ण्य से भी है। पर ग्रहीता से उतना अधिक नहीं। इसी से जब कर्ताविशिष्ट या व्यक्ति-विशिष्ट रचना होती है तो एक ओर वह व्यक्तिवादिनी और दूसरी ओर शैलीपरक हो जाती है। उस दृष्टि से विवेचन करने पर चारुता का ही विवेचन प्रमुख होता है। पर ऐसा न समझना चाहिए कि भारतीय चारुत्वप्रवाह को अनुभूतिप्रवाह का ज्ञान नहीं था। ज्ञान था, पर दृष्टिभेद था। चारुत्वप्रवाह शब्द पर अधिक क्यों झुकता था। इसीलिए कि वाणी की शब्दार्थयोजना की विशेषता ही भेदक तत्त्व है। 'उक्ति' की विशेषता से काव्य को पृथक् कर सकते हैं। वह उक्ति चाहे स्वभावोक्ति हो, चाहे वक्रोक्ति हो, चाहे रसोक्ति हो। स्वभावोक्ति को अलंकार इसीलिए माना गया कि काव्य में स्वभाव का कथन वैसा ही नहीं होता जैसा अन्यत्र होता है। स्वभाव के उस कथन में चारुत्व होता है। काव्य की उक्ति सूक्ति होती है, वार्ता नहीं। रसोक्ति या रसवत् को भी इसीलिए अलंकार कहा गया कि वहाँ भी चारुता अपेक्षित है। यह हो सकता है कि लोक की अनेक प्रत्यक्ष स्थितियाँ रसात्मक हों, उन प्रत्यक्ष स्थितियों का काव्य में नियोजन रसात्मक हो, पर यह नहीं हो सकता कि काव्य में प्रत्यक्षबोध चारुत्वहीन होकर आए। काव्योक्ति में और साधारणजनोक्ति में फिर अंतर नहीं रह जाएगा। अर्थात् साधा-

रण जन की वार्ता भी फिर काव्यपद की अधिकारिणी हो जाएगी। केवल शब्दार्थ काव्य नहीं है, शब्दार्थ का सहितत्व काव्य है। यह सहितत्व जैसे अन्यत्र रहता है उसी प्रकार रसोक्ति में भी। इसी से सहितत्व की व्याख्या में मम्मटाचार्य को सगुणौ, अदोषौ, अलंकृती (क्वापि अनलंकृती) कहना पड़ा। इसे यों समझना चाहिए कि केवल भाव या अनुभूति काव्य नहीं है। भाव या अनुभूति जब काव्य में आएगी या लाई जाएगी तो उसमें विशेष प्रकार की शब्दावली लानी पड़ेगी। इस विशेष प्रकार की शब्दावली को चाहे अलंकार कहिए, चाहे गुण-रीति, चाहे वक्रोक्ति। रीति को काव्य की आत्मा या वक्रोक्ति को काव्य-जीवित कहने का तात्पर्य यही है।

अनुभूतिप्रवाह का प्रतिपाद्य यह है कि चारुता के रहने पर भी काव्य में कुछ और अपेक्षित रहता है। इसलिए इसी की अपेक्षा से सबको मानना चाहिए। ध्वनि को आत्मा मानने पर भी वस्तु और रस दोनों की ध्वनि मानी जाती है। वस्तु की ही ध्वनि अपने स्वरूप के कारण केवल वस्तुध्वनि भी होती है और अलंकाररूप वस्तुध्वनि भी होती है, इस प्रकार ध्वनि के तीन रूप हो जाते हैं। वस्तु का तात्पर्य है तथ्य। किसी तथ्य तक पहुँचना या किसी अनुभूति तक पहुँचना दोनों स्थितियाँ हो सकती हैं। जहाँ केवल तथ्य तक पहुँचना होगा वहाँ अनुभूति न होगी, पर जहाँ अनुभूति तक पहुँचना होगा वहाँ किसी तथ्य तक पहले पहुँचना हो सकता है, फिर अनुभूति तक। पर तथ्य पर पहुँचकर ही अनुभूति तक पहुँचा जाय ऐसा नहीं होता। सीधे अनुभूति तक पहुँच जाया जाता है। क्रम होता है पर वह संलक्ष्य नहीं होता, शतपत्रपत्रशतभेदन्याय से सीधे अनुभूति तक पहुँच जाया जाता है। कमल की सौ पंखुड़ियाँ लेकर उन्हें सूई

से बेधा जाए तो सूई प्रत्येक पंखुड़ी से क्रमशः प्रविष्ट होकर सौवीं को बेधकर पार होगी, पर कार्य इतनी तीव्रता से होता है कि सूई के सबके पार पहुँचने में देर नहीं लगती। एक के अनंतर दूसरी पंखुड़ी के बेध का क्रम संलक्ष्य नहीं हो पाता! ठीक इसी प्रकार अनुभूति तक पहुँचने में क्रम संलक्ष्य नहीं रहता। अनुभूतिप्रवाह केवल रस का ही नहीं भाव, भावाभास, भावसंधि, भावोदय, भावशांति, भावशबलता और रसाभास का बोध भी रसात्मक कहता है। यहाँ तक कि चारुत्वप्रवाह जिसे चारुता कहता है उस 'नीरस' को भी यह प्रवाह रसात्मक ही मानता है। इसी से खेल-तमाशे को काव्य नहीं माना गया। पहेली काव्य नहीं है, उसमें किसी प्रकार के रसात्मक बोध की स्थिति न देखकर ही ऐसा कहा गया है।

परिणाम यह हुआ कि चारुत्वप्रवाह और अनुभूतिप्रवाह दोनों के समन्वय से एक विशेष प्रकार की स्थिति उत्पन्न हुई। 'अलंकार' और 'अलंकार्य' का स्वरूप स्पष्ट हुआ! 'अलंकार' और 'अलंकार्य' शब्दों से फिर भ्रम-भ्रांति होने लगी। तब यह स्पष्ट किया गया कि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो चारुत्वप्रवाह में हैं वे सब सर्वदा अलंकार ही हैं और जो अनुभूतिप्रवाह में हैं वे सब सर्वदा अलंकार्य ही हैं। जो अलंकृत किया जानेवाला होगा वह अलंकार्य और जो अलंकृत करने का साधन होगा वह अलंकार होगा। साहित्यशास्त्र में 'अलंकार' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है, उसकी व्याप्ति इतनी अधिक है कि साहित्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र कहते हैं। 'साहित्य' का पर्याय 'अलंकार' या 'अलंकार' का पर्याय 'साहित्य' नहीं, पर अलंकारशास्त्र और साहित्यशास्त्र अवश्य पर्याय माने गए हैं। उक्त सब प्रकार के प्रवाहों का मेल या उनका समन्वय भी साहित्य या सहितत्व के ही कारण है।

साहित्य की यह समन्वय-साधना बहुत व्यापक है। पहले कह आए हैं कि साहित्य की रचना त्रिकोणात्मक होती है। यदि कहा जाय कि साहित्य यहाँ भी समन्वय की ही साधना करके तीनों की सर्वसामान्य स्थिति उत्पन्न करता है तो बड़े मजे में कहा जा सकता है। कर्ता का ग्रहीता से एकत्व होने में नेता ही माध्यम है। साहित्य का यह एकीकरण मानसिक धरातल पर है और सूक्ष्म है। भावना से इसका संबंध है। भावना की सूक्ष्मता के लिए एक उदाहरण लीजिए। विरहिणी द्वितीया के दिन चंद्रदर्शन करते समय इस भावना से आनंदित होती है कि आज द्वितीया के दिन मैं ही चंद्रदर्शन नहीं कर रही हूँ मेरे प्रिय भी चंद्रदर्शन कर रहे होंगे। मेरे नेत्र चंद्र आलंबन पर जा टिके हैं और प्रिय के नेत्र भी इसी चंद्र आलंबन पर आ टिके होंगे। अतः पार्थक्य होते हुए, देशांतर होते हुए भी चंद्र आलंबन के माध्यम से आज मेरे नेत्रों के व्यापार और प्रिय के नेत्रों के व्यापार व्यधिकरण होते भी अधिकरण में आ गए, उनका एकाधिकरण्य हो गया, यह कितने आनंद की स्थिति है। साहित्य में कर्ता और ग्रहीता का एकाधिकरण्य होने के लिए आलंबन या नेता का माध्यम अपेक्षित है। जब यह कहा जाता है कि साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है तब उसका तात्पर्य इतना ही होता है कि आलंबनत्वधर्मयुक्त नेता से ही ऐसी स्थिति आ सकती है। जहाँ आलंबनत्व धर्म न होगा वहाँ औचित्य न होगा। द्वितीया का चंद्रमा दर्शनीय है, पर पूर्णिमा का चंद्र दर्शनीय न हो ऐसा नहीं है। शुक्ला चतुर्थी का चंद्रमा ही अदर्शनीय है। कोई विरहिणी पूर्णिमा के चंद्रमा के संबंध में ऐसी कल्पना क्यों नहीं कर सकती। इसी से कि द्वितीया के चंद्रदर्शन में ही समाजिक औचित्य है। पूर्णिमा के चंद्रदर्शन का वैसा लौकिक

नियम नहीं है। साधारणीकरण के लिए आलंबनत्व धर्म की बात उठाने से यह न समझना चाहिए कि आलंबनत्व धर्म दो सर्वसामान्य धर्मों या गुणों का होगा तो फिर सामान्य या साधारण का क्या साधारणीकरण, असाधारण या विशेष का साधारणीकरण ही हो सकता है। बात यह है कि काव्य या साहित्य के निर्माण में एक प्रयत्नपक्ष होता है और दूसरा भावना और भोग का प्रक्रियापक्ष होता है। निर्माता को किसी विशेष की कल्पना इस रूप में करनी चाहिए कि उसमें सबका आकर्षण हो सके। कल्पना काव्य में विशेष की ही होती है। सुख-दुःख तो सभी में होते हैं। पर किसी विशेष के सुख-दुःख ही वहाँ साधारण होते हैं। इसे यों समझना चाहिए कि राम और सीता के प्रेम की व्यंजना यदि हो रही है तो उनमें नायक-नायिका का आलंबनत्व धर्म होना आवश्यक है। साधारणीकरण में यह बाधा नहीं उठती कि राम और सीता तो उपास्य हैं। उपासक शृंगार का आस्वाद कैसा पाएगा। राम और सीता के पारस्परिक प्रेम के बीच औचित्य होने से यह बाधा नहीं आती। राम और सीता के प्रेम से शृंगार रस की अनुभूति और राम-सीता के उपास्यरूप में उपस्थित किए जाने से भक्ति की अनुभूति निर्बाध हो सकती है। इसे यों समझिए कि जहाँ कवि भक्ति के आलंबनरूप में राम और सीता को उपस्थित न करके केवल पति-पत्नी-प्रेम के आलंबनाश्रयरूप में ही उपस्थित करेगा, वहाँ स्थिति एक ही होगी, दुहरी स्थिति न होगी। दुहरी स्थिति से घबराने की कोई बात नहीं। कवि भक्ति का आश्रय है अतः तादात्म्य उसके साथ हो गया।

कोई कह सकता है कि कवि की मूल अनुभूति से ही तादात्म्य क्यों न मान लिया जाए। यहाँ इतना हो कहना पर्याप्त है कि

इसमें गौरव है। जहाँ प्रत्यक्ष आलंबन-आश्रय से ही काम चल जाता है वहाँ इस विस्तार में जाने की अपेक्षा ही क्या है। जहाँ प्रत्यक्ष कोई स्थिति स्पष्ट नहीं होती वहीं उसका शोध अपेक्षित है। इसमें कुछ बाधाएँ भी हैं उन सबका विस्तार करने की अपेक्षा प्रस्तुत पुस्तक में ही अवलोकन अच्छा होगा।

प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य के कुछ मूलभूत सिद्धांतों को नवीन स्थापना और नवीन शैली द्वारा समझाने का सत्प्रयास है। हिंदी में साहित्य की शास्त्रीय पद्धति का विवेचन, उसी ढंग से जैसे वह संस्कृत के साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों में है, करने का प्रयास रीति-काल के आचार्यों से लेकर आधुनिककाल के आचार्यों तक बराबर होता आया। पर साहित्यशास्त्र का विषय गूढ़ होने से समझानेवाले उसे उस रूप में न रख सके कि आधुनिक जिज्ञासा का पूर्ण समाधान हो सकता। भारतीय साहित्यशास्त्र को समझाने का आधुनिक प्रयास सबसे प्रथम आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया।

आधुनिक जिज्ञासा के समाधान के लिए दो प्रयास अपेक्षित हैं। एक तो भारतीय साहित्यशास्त्र को ऐसे रूप में समझाना जिससे उसके मूलभूत सिद्धांतों को कोई आँच न आए और वे आधुनिक जिज्ञासा के गले के नीचे उतार दिए जाएँ। दूसरे पश्चिमी आलोचना का अर्थात् आधुनिक समालोचना की मान्यताओं का उसके निकष पर परीक्षण करना। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने दोनों प्रकार के कार्य किए हैं। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने आधुनिकता की नीवँ इसी विधि से रखी है। जो अँगरेजी आलोचना की चकाचौंध के कारण शुक्लजी की इस आधुनिकता को नहीं देख पाते वह उन्हीं का दृष्टिदोष है। कोई भारतीय साहित्यशास्त्र और पश्चिमी आलोचना का तुलनात्मक अध्ययन करनेवाला मनीषी यह नहीं कह सकता कि

उनमें आधुनिकता नहीं थी। जो पश्चिमी आलोचना से अभिभूत हैं और भारतीय साहित्यशास्त्र से दूरीभूत उन्हें ही यह भ्रम होता है।

आधुनिक जिज्ञासा के समाधान के लिए जिन उभयविध प्रयासों की चर्चा की गई है उनकी एकत्र स्थिति अन्य किसी हिंदी के नए आलोचक में नहीं दिखाई देती, पृथक् पृथक् श्लाघ्य प्रयत्न अवश्य हुए हैं। इन दोनों के एकत्र प्रयास के दर्शन शुक्ल जी के अनंतर श्रीशंकरदेव अवतरे की इस पुस्तक में ही हुए हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र में पैठ के लिए संस्कृत भाषा के माध्यम से सभी विवेच्य सामग्री का अभिज्ञान परमावश्यक है। साथ ही पश्चिमी आलोचना के लिए अँगरेजी भाषा के माध्यम से ही उसका परिचय उत्कृष्ट रूप में सुलभ है श्री अवतरे में दोनों भाषाओं के अपेक्षित ज्ञान के कारण बड़ी स्वच्छ दृष्टि दिखाई पड़ती है। उनके रूप में मुझे भावी समर्थ आलोचक के दर्शन हो रहे हैं, ऐसे आलोचक के जो साहित्यसर्जना का मंथन करके हिंदी में आधुनिक युग के अनुरूप आलोचनाशास्त्र की अवतारणा कर सकता है। मेरी यह संभावना सत्य हो यही भगवान् शंकर से प्रार्थना है।

वाणी-वितान भवन
ब्रह्मनाल, वाराणसी
कार्त्तिकी, २०१४

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

उपकथन

यह पुस्तक अपने किस रूप में प्राचीन है और किस रूप में नवीन—यह प्रश्न अन्यथासिद्ध है। चीज आधुनिक बन जाय, तो सब-कुछ है। मैंने अपने जाने ऐसा कुछ भी नहीं लिखा जो विचारों की चोट खाकर न लिखा हो और समय की आवश्यकता के साथ न लिखा हो। मैं कहना चाहता हूँ कि जहाँ-तहाँ से ग्रन्थों की नोच खोंच करके अपने शब्दों में उनकी चूल मिलाने का काम मैंने इस प्रलेख में नहीं किया और न अपने लघु विवेचन की सीमा में जबर्दस्ती प्रसङ्ग ला-लाकर अपनी सारी ज्ञान-पूँजी ठोकने की कोशिश ही मैंने की है। ताजे घाव बीस पुस्तक पढ़कर इक्कीसवीं पुस्तक लिख डालने की प्रेरणा भी इस पुस्तक के मूल में नहीं है। मैंने अपने ज्ञान-तीर्थों से जो कुछ भी प्राप्त किया एवं उपलब्ध ग्रन्थों से जो कुछ भी ग्राह्य समझा उसे केवल विचार की दृष्टि से संगृहीत न करके क्रिया की दृष्टि से भी अपने व्यक्तित्व में पचाया है और इसी लिए वह सब-कुछ मेरा है। इन दोनों बातों में बड़ा अन्तर है कि हम कुछ लिखने चलें तो इधर-उधर की ताक-झाँक शुरू करें और दूसरे अपने संस्कार-मूलक दृढ़-विश्वास के साथ इधर-उधर देख-भाल कर लिखें। इन दोनों में से मैं किसी को अच्छा बुरा नहीं कहता पर मेरा सम्बन्ध दूसरी बात से अधिक है और शायद अत्यधिक है। क्योंकि मैं देखता हूँ कि मेरी अपनी रामधुन का एक अस्वस्थ नमूना तो यही है कि इस ग्रंथ में ग्रंथान्तरों के उद्धरण वे ही खिंचकर आ सके जिनके साथ मेरे संस्कारों का बहुत गहरा

सम्बन्ध था और कलम की लपेट में उनमें से भी बहुत कम रह गये। उद्धरणों की कमी निश्चय ही इस प्रलेख का दोष है। पर यह मेरा विनम्र रुचि-भेद भी है।

इस पुस्तक में साहित्य के कुछ ज्वलन्त प्रश्न उठाये गये हैं और उनका समाधान शास्त्रीय पद्धति से किया गया है। ऐसा लगता है कि साहित्य और उसका स्वरूप समझने की जितनी आवश्यकता इस बुद्धिवादी युग में आ पड़ी उतनी इसके आज-तक के इतिहास में पहले कभी नहीं रही होगी। यह, वह युग है जिसमें भारत के कुछ तथाकथित साहित्यालोचक शृंगारादि रसों के अतिरिक्त एक बुद्धिरस का नारा लगाने लगे हैं। पश्चिम के किसी आचार्य ने 'म्युजिक औफ आइडियाज्' का सिद्धान्त चलाया था। जिसके आधार पर लोगों ने साहित्य में छान्दस लय की अनावश्यकता बताते हुए विचारों में ही संगीत की स्थापना की थी। आजकल हिन्दी की नवीनतम कवितायें इसी सिद्धान्त की कुछ कायल भी हैं। किन्तु साहित्य में बुद्धिरस की स्थापना और भी एक कदम आगे की बात है जिसका कायल अब पश्चिम को होना चाहिए। रास्ता कैसा ही हो पर हम आगे जो बढ़ गये हैं।

साहित्य में यदि बुद्धिरस जैसा कोई रस है तो हम यह समझने में बिल्कुल असमर्थ हैं कि काव्य और गणित में क्या अन्तर है। ऐसी दशा में साहित्य का स्थायी प्रतिमान और उसकी आलोचना का मानदण्ड भी बौद्धिक हो जाता है जिस-का मतलब है कि या तो बुद्धि की आध्यात्मिक पहुँच के अनु-सार दर्शन-शास्त्रों को, और नहीं तो फिर बुद्धि के भौतिक विकास के अनुसार परमाणु और उद्जन बम के साथ-साथ रूस के द्वारा छोड़े गये कृत्रिम उपग्रह जैसी चीजों को महाकाव्य, नाटक

अथवा उपन्यास समझना चाहिये। पर क्या सचमुच इसी का नाम साहित्य है?

'साहित्य हृदय से हृदय का व्यवसाय है'—यह आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी के शब्दों में साहित्य की स्थापना है। सचमुच जिसके कारण साहित्य अन्य सभी वाङ्मयों से अलग छूट जाता है और जिसके कारण साहित्य, साहित्य है—वह हृदय का संवेदन-तत्व है। संसार के असंख्य प्राणियों के सुख-दुख की परिस्थितियाँ और कारण विभिन्न हो सकते हैं पर सुख-दुःख की संवेदना का रूप सब में एक ही है। संवेदना वह तार है जो प्राणिमात्र के भीतर से आर-पार निकला चला गया है। इसका एक छोर वहाँ है जहाँ से सृष्टि के धुँधले प्रभात का प्रारम्भ होता है और दूसरा वहाँ है जहाँ सृष्टि काल-रात्रि में अन्तर्हित हो। साहित्य इसी तार को झटका देकर प्राणियों में परस्पर सहानुभूति की झनझनाहट उत्पन्न करता है। बौद्धिक वात्या-चक्र में इधर-उधर भटकने वाले बुद्धिजीवियों को एक सीधी पंक्ति में लाने के लिये साहित्य इसी तार को कसता है। जो व्यक्ति, ईश्वर या किसी परात्पर शक्ति को न माने उसे हम मानने के लिये तैय्यार हैं पर जो प्राणियों की एकता प्रमाणित करने वाले संवेदन-तत्व को न माने उस पर बहुत दया आती है। केवल बौद्धिक परीक्षण अपने निर्माण में भी ध्वंसात्मक होते हैं। पंचतन्त्र की एक कथा में कुछ वैज्ञानिक पण्डितों ने अपनी विद्या के परीक्षण में एक मृत सिंह को जिला लिया था जिसका परिणाम यह निकला कि सिंह ने उठ कर उनका अन्त कर दिया। आज के विज्ञान-वादियों के बारे में भी इस प्रकार की आशंका होना अस्वाभाविक नहीं है। आशंका ही नहीं, इस बुद्धिमूलक भौतिक विकास ने मानव-जाति को बुरी तरह त्रस्त कर दिया है क्यों कि यह किसी

ऐसे सिंह का आविष्कार कर सकता है जो सौ-पचास प्राणियों का ही नहीं, प्राणिमात्र का बीज खोद कर खा जाय।

बुद्धि का जितना ही विकास होता जा रहा है संवेदना की उतनी ही अधिक आवश्यकता जीवन के लिए महसूस हो रही है। बुद्धि के माध्यम से हम जितने अलग-अलग फैल रहे हैं, संवेदन के माध्यम से उतनी ही एकता की गहराई चाहिये नहीं तो मानवता का यह बट-वृक्ष अपने ही भार को न सम्हाल सकेगा और विषम झञ्झावात का एक हल्का सा झटका ही इसके लिए काफी होगा। बुद्धि, 'अहं' का रूप है और बुद्धि का विकास 'मम' का। इसीलिए 'मैं और तू' का भेद और "मेरे तेरे" का झगड़ा बुद्धि ही कराती है। संवेदन अपने प्रत्यक्ष रूप में भी हमें एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति की सात्विक प्रेरणा दे सकता है जो इसकी सर्वसाधारणता का प्रमाण है। जब किसी की आपत्ति हमारे लिए भी संवेद्य होगी तभी हम उसके और अपने बीच एक साधारण सूत्र की स्थापना करते हुए सहानुभूति और सहयोग के लिए आगे बढ़ेंगे। जब संवेदन के इस सात्विक रूप का अनुभव हमें प्रत्यक्ष लोक में भी है, तब साहित्य के क्षेत्र में इसके लिए जो कुछ भी कहा जाय, कम है। साहित्य में सभी भाव अप्रत्यक्ष रूप से जो सामने आते हैं। यहां न तो भावों की अपवित्रता की आशंका है और न उसके दुरुपयोग की, जैसा कि प्रत्यक्ष जगत में कभी-कभी देखने को मिल जाता है। यहाँ इसीलिए संवेद्य के साथ एक साधारण सूत्र की तीव्रता इतनी सघन हो जाती है कि सामाजिक, सहानुभूति और सहयोग का पाठ ही नहीं पढ़ता बल्कि वह अपनी वैयक्तिक सीमाओं को एक क्षण के लिए भूल ही जाता है और उसकी अस्मिता गायब हो जाती है। यही मनुष्य के सात्विक रूप की पराकाष्ठा है जिसको अनुभव और आचरण

का अभ्यास सबसे अधिक और सबसे अधिक सरलता से साहित्य ही कराता है। हम नहीं समझते कि संसार में जीने के लिए और दूसरा को जीने के लिए उस सात्विक जीवन से भी ऊँचा कोई प्रयोजन या पुरुषार्थ है जिसकी स्थापना साहित्य में संवेदना-मूलक साधारणीकरण के द्वारा ब्रह्म स्वादसहोदर रस के रूप में यहाँ के महामनीषियों ने की है।

यह साहित्य के क्षेत्र और उसके स्वरूप एवं प्रयोजन का मूलभूत प्रश्न है जिसकी लम्बी मीमांसा इस पुस्तक के पहले और दूसरे परिच्छेद में चलती है। किन्तु इसके भीतर अनेक प्रासंगिक प्रश्नों की विवेचना भी पाठकों को मिलेगी। नमूने के लिए, जैसे—साहित्य के मूल में भारतीय प्रेरणावाद और पश्चिमीय अनुकृतिवाद का प्रश्न द्वितीय परिच्छेद के भीतर द्वितीय प्रकरण में उठाया गया है। भारत की साहित्यिक परम्परा कवि को एक स्वतन्त्र प्रजापति सिद्ध करता है जो अपनी इच्छानुसार विश्व को बनाता है (अपारे काव्य-संसारे कविरेकः प्रजापतिः यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते) और जिसकी रचना सच्ची है, मिथ्या नहीं (न कवेर्वर्णनं मिथ्या, कविः सृष्टिकरः परः)। कवि की प्रतिभा प्रधानतया कारयित्री है और अप्रधानतया भावयित्री, अनुकारयित्री है ही नहीं। ब्रह्मा की सृष्टि से भी कवि की सृष्टि विसदृश है। उस सृष्टि के नियम इस सृष्टि पर लागू नहीं होते वहाँ छः रस हैं, यहाँ नौ या उससे भी अधिक वहाँ कड़वे और कसैले रस भी हैं, पर यहाँ सब मधुर ही हैं। वह सृष्टि सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों है, पर यह सदा सुखात्मक ही है। वहाँ सारे काम नियत सम्बन्धों के आधार पर या अदृष्ट के अनुसार चलते हैं, पर यहाँ किसी भी कारण से किसी भी कार्य की सिद्धि में कोई नियत

सम्बन्ध नहीं है अर्थात् सभी कारण हेत्वाभास सिद्ध हो जाते हैं, और सब-कुछ अनुभूत होने के कारण कुछ भी अदृष्ट नहीं रहता (नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्य परतन्त्रांनव रसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेजयति)।

इस प्रश्न की विवेचना मुझे हाल ही में डा० नगेन्द्र के सद्यःप्रकाशित 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ में देखने को मिली; पर खेद है कि मैं उसका कोई उपयोग न कर सका। कारण, मैं अपने ढङ्ग से उक्त प्रश्न का विवेचन एक वर्ष पहले ही अपने प्रबन्ध (थीसिस में कर चुका था और अब मैंने उसमें कोई परिवर्तन करना उचित नहीं समझा।

तृतीय परिच्छेद का मूलभूत प्रश्न अलंकार और अलंकार्य का है। इसके माध्यम से कई जटिल प्रश्नों का समाधान वहाँ किया गया है। इनके शास्त्रीय रूप की विवेचना के उपरान्त इनके सामान्य सम्बन्धों के आधार पर साहित्य में साहित्यकार की बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी चेतना के फल-स्वरूप उपस्थित होने वाले क्रमशः क्लासिक या रीतिक और रोमाण्टिक या स्वच्छन्द काव्यवादों की, तथा साहित्याचार्यों की बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी चेतना के फल-स्वरूप पनपने वाले क्रमशः अलंकारसम्प्रदायों और अलंकार्यसम्प्रदायों जैसे काव्य-सम्प्रदायों की मीमांसा की गई है। उदाहरणार्थ हिन्दी साहित्य में जब हम अलंकार सम्प्रदाय की व्याख्या करने चलते हैं तो भरत मुनि से उठाकर अप्पयदीक्षित और जयदेव पर लाकर छोड़ते हैं। आखिर ३८ अलंकारों की स्थापना करने वाला भामह तो अलंकारवादी है पर ७० अलंकारों की स्थापना करने वाला मम्मट अलंकारवादी क्यों नहीं है? इसका क्या बुनियादी रहस्य है? सचमुच अपने यहाँ छः समुदायों की मौलिक मान्यताओं और तत्फल-

स्वरूप उनके कार्य-रूपों की समीक्षा अभी तक हम नहीं कर पाये। इस लेखक का इस विषय में पहला टूटा-फूटा प्रयत्न है। आगे किसी शक्ति-शाली लेखनी से यह कार्य पूरा हो जायगा—ऐसी आशा करनी चाहिए।

इस पुस्तक में अनेक ऐसी स्थापनायें है जिनके बारे में विद्वानों की प्रतिक्रिया अपेक्षित होगी। मनोविज्ञान की सामान्य संवेदना के समानान्तर साहित्य की विशेष संवेदना, ऐसी ही स्थापनाओं में से एकतम है। कुछ स्थापनायें ऐसी भी हैं जो समय की प्रतीक्षा करती रहेंगी। स्वच्छन्दतावाद और छायावाद सम्बन्धी समीक्षा कुछ इसी प्रकार की हैं। कुछ तलस्पर्शी आलोचकों ने प्रसंगात् स्वच्छन्दतावाद को छायावाद की एक शैली ही कह दिया था। किन्तु यह मान्यता बहुत जल्दी बेकार हो गई। विद्वानों को इन दोनों के बीच एकता ही प्रतीत हुई। डा० श्री कृष्णलाल ने अपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक ग्रथ में सबसे पहले इन दोनों की एकता-मूलक समानता का संकेत किया था। श्री त्रिभुवनसिंह जी ने इसी सूत्र के अनुसार 'छायावाद और स्वच्छन्दतावाद' नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण देकर 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की स्वच्छन्द धारा' में इन दोनों की अभेदता पर एक सन्तुलित भाष्यकार का काम किया है। अपनी धारणा है कि छायावाद, स्वच्छन्दतावाद के भीतर सबसे पहले आने वाली एक विशेष धारा है। मतलब यह है कि आधुनिक साहित्य, साहित्यकारों की अन्तर्मुखी चेतना का परिणाम है जिसका प्रारम्भ छायावाद से चल कर जनवाद (लगभग प्रगतिवाद) में होकर आगे को बढ़ रहा है। आज की नवीनतम कविताओं को हम स्वच्छन्दतावादी कह सकते हैं, छायावादी नहीं। तब फिर इन दोनों की एकार्थता कैसी? और

सचाई तो यह है कि छायावाद और आज की नवीनतम कविताओं के बीच जनवादी कविताओं का व्यवधान पड़ा हुआ है जिसके कारण छायावाद बहुत दूर कट जाता है। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने अपने 'चक्रवाल' की भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने जब साहित्य में पैर रखा तब छायावाद के बिस्तर बँध चुके थे। सीधा सा सत्य है कि हम छायावादी प्रसाद को सामान्यतः स्वच्छन्दतावादी कवि मानते हैं किन्तु सामान्यतः स्वच्छन्दतावादी कवि दिनकर को हम छायावादी कवि नहीं मानते, जनवादी कवि मानते हैं अर्थात् स्वच्छन्दतावाद की सामान्य धारा के भीतर जिस प्रकार प्रसाद जी छायावाद का नेतृत्व करते हैं उसी प्रकार उसी धारा के भीतर दिनकर जी जनवाद का। और नितान्त नवीन कवितायें भी अन्तर्मुखी चेतना के रूप में सामान्यतः स्वच्छन्दतावादी हैं, विशेषतः प्रयोगवादी हों या और कुछ। कहना चाहिये कि इस युग की अन्तर्मुखी चेतना का सामान्य प्रवाह स्वच्छन्दतावाद है जिसके भीतर छायावादी धारा अपना प्रौढ़ रूप ले चुकी है, जनवादी धारा अपना प्रौढ़ रूप लेने जा रही है और प्रयोगवाद जैसी धारायें अपनी किशोर अवस्था में चल रही हैं। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद और छायावाद—परस्पर पर्याय नहीं हैं। दूसरे शब्दों में इनका अभेद सम्बन्ध न होकर अंगांगिभाव का सम्बन्ध है। यह ठीक है कि स्वच्छन्दतावाद के रूप में हम छायावाद को अलग न समझें, किन्तु छायावाद की सीमा में हम स्वच्छन्दतावाद को ठोक नहीं सकते।

इसके अतिरिक्त कुछ बातों की पुनः स्थापना भी इस ग्रन्थ में की गई है। काल-क्रम से या धुँधली व्याख्याओं के कारण जिन मान्यताओं के स्वरूप कुछ आच्छन्न हो गये हैं उनका विवेचन

प्रसंगात् गौण होकर भी अधिक लम्बा हो गया है और यह इस लेख में सन्तुलन की कमी का दोष समझा जाना चाहिये। उदाहरणार्थ भारतीय साहित्य के छः सम्प्रदायों की बुनियादी व्याख्या के प्रसंग में रससम्प्रदाय का और उसके भीतर भी साधारणीकरण का बेडौल कलेवर और भी खटकता है। किन्तु ऐसा जहाँ भी हुआ है, पुनः स्थापना के लोभ से ही।

मेरी शैली कुछ कर्कश तो है किन्तु गिड़गिड़ाकर किसी बात को कहना भी आलोचना का स्वरूप नहीं हो सकता। स्पष्टता में कुछ न कुछ खर-खराहट होती ही है। शिष्टाचार की सीमा में हमें खोटे-खरे का परीक्षण करते हुए ही अपने पूर्वजों की थाती की रक्षा करनी है नहीं तो यह उत्तराधिकार कितने दिन चलेगा ? वैयक्तिक प्रलोभनों की, सामूहिक उत्थान के साथ पटरी नहीं बैठ सकती। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के इन शब्दों में मुझे किसी युग-पुरुष का सन्देश जान पड़ता है कि—साहित्य प्रयोजनातीत है। प्रयोजनातीत का मतलब निष्प्रयोजन नहीं है बल्कि प्रयोजनों की सीमाओं को अतिक्रान्त कर जाने वाला वह विश्वजनीन सत्य है जो वैयक्तिक पकड़ में नहीं आ सकता। सत्य कभी व्यक्तिगत नहीं होता, हम जो उसे अपने व्यक्तित्व में बाधना चाहते हैं वही असत्य है। साहित्य ऐसा ही सत्य है जो वैयक्तिक अभिव्यक्ति पा सकता है पर वैयक्तिक सीमा में नहीं रह सकता। वह इतना उँचा है जितनी वैयक्तिक कल्पना और इतना व्यापक है जितना समाज। साहित्य वह तीर्थ है जहाँ राग-द्वेष के यात्रियों को कोई फल नहीं मिल सकता। जो साहित्य के क्षेत्र में वैयक्तिक स्वार्थ लेकर चलते हैं वे सरस्वती-सम्प्रदाय के सच्चे सदस्य नहीं हैं। जो विद्या के वेष में अपने राग-द्वेष से कसे हुए हैं उन्हें सरस्वती के दरबार में हथकड़ी और बेड़ी पड़े हुए

चोर-डकैत समझना चाहिये। साहित्य की सीमा में अनेक ऐसी चलती-फिरती इकाइयाँ घूमा करती हैं जो करोड़ों की बात करती हैं पर उनका स्थानीय मान दशमलव से भी बाहर पड़ता है। हमें इन सभी बातों से खबरदार रहना चाहिए। मकान के प्रति जितनी ममता होती है उसके कूड़े-करकट के प्रति उतनी ही निर्ममता होना आवश्यक है। हम साहित्यानन्द तभी ले सकते हैं जब उसे गन्दगी से बचाये रहें। हमारी आधुनिक आलोचना का एक दोष यह भी है कि हम सब बातों को लीपा-पोती करते चलते हैं। कुछ यह भी ठीक है और कुछ वह भी ठीक है—कह कर हम कुछ भी ठीक नहीं रहने देते। हम सौ पृष्ठ लिख जाते हैं पर एक वाक्य नहीं कह सकते। हम वृत्त पर वृत्त खींचते चले जाते हैं पर केन्द्र का निर्णय पाठकों के सिर पटकते चलते हैं। सचमुच यह गोलमोल और चक्रव्यूही आलोचना सिद्धान्तों के मर्म का साक्षात्कार नहीं करा सकती। हम नहीं समझते कि इसका कारण हमारी विवेचना-शक्ति का अभाव है अथवा इधर-उधर का भय। मानी हुई बात है कि यदि आलोचक में अपने अन्तर्विश्वास की पाषाणी दृढ़ता है तो बरसाती बौछार उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती; और यदि वह कच्ची मिट्टी का पुतला ही है तो इधर-उधर के लोग उस पर कहाँ तक छाता ताने रहेंगे।

दूसरी ओर यह प्रवृत्ति भी खतरनाक है कि हम सौ बातों को जबर्दस्ती अपना केन्द्र समझ लेते हैं और किसी दूसरे की सुनते ही नहीं। अपनी शक्ति का विचार हम अपने भीतर भी नहीं कर पाते पर उसका अधिकार चारों कोनों पर चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि कोई कोना ही हमारा नहीं रह जाता। हम सब जगह कलम टेकते चलते हैं पर स्याही कहीं लगती ही नहीं। यह व्यर्थ का घटाटोप है और सत्य के आकाश में दुर्दिन

की घेरेबाजी है। जिस समय हम स्वयं सच्चे नहीं उस समय हमें सचाई के दर्शन नहीं हो सकते। जब तक हम 'मैं' से 'तू' का शिकार करते रहेंगे तब तक 'हम' से 'सत्य' का शिकार नहीं हो सकता। यदि हम स्वयं को सत्य के सुपुर्द करदें तो सत्य हमारा हो सकता है और हम स्वयं भी सत्य कहला सकते हैं। अपने ही स्नेह से हम जल सकते हैं, प्रकाश नहीं पा सकते। दूसरों के स्नेह से ही हमें प्रकाश मिल सकता है। और प्रकाश के लिये भी हमें अपने मस्तिष्क की खिड़कियाँ खुली रखनी चाहियें नहीं तो दिन में भी अन्धकार रहेगा।

जिस थीसिस का परिवर्धित-परिष्कृत रूप यह पुस्तक है उसकी पूर्ति मैंने गुरुदेव डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के चरणों में बैठ कर की थी। इस छोटी सी कितबिया की ही बात क्या है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस महामानव के उदात्त के विचारों से मैं प्रभावित हूँ। साहित्य-देवता आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने इस पुस्तक की 'स्थापना' लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा जी की छात्रवत्सलता मुझे सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा देती रही है। श्री पद्मनारायणाचार्य जी का स्नेह और डा० श्री कृष्णलालजी के उपकार आजीवन स्मरणीय रहेंगे। और भी न जाने किन-किन की सद्भावना मेरे जीवन के साथ जुड़ी हुई है जिसके बदले में, मैं स्वयं ही उनका बना रहना चाहता हूँ।

सहपाठियों में जिनके व्यक्तिगत विचारों का अनुदान इस ग्रन्थ में है, उनमें डा० हरद्वारीलाल शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन में उनका सहयोग मुझे मिला है। दो-एक जगह उनके पारिभाषिक शब्दों और विचारों का प्रयोग भी यथावत् कर दिया गया है। और भी न जाने कितनी पुस्तकों

के अध्ययन के चुनीदा संस्कार मेरी इस रचना में उतर-उतर कर आये हैं—यह कहना भी कठिन ही है। शायद एक बहुत बड़ी सूची ऐसे ग्रंथों की बनाई जा सकती है। जिसका उल्लेख मैं व्यर्थ समझता हूँ। किन्तु उन सभी ग्रन्थों के लेखकों का आभार एक उत्तरदायित्व के रूप में मुझे हृदय से स्वीकार है।

अन्त में यह कहते हुए मुझे बहुत दुःख है कि मेरी अकस्मात् मानसिक आपत्ति के कारण तसल्ली से प्रूफ न देखे जा सके, और मुद्रण की कुछ ऐसी त्रुटियाँ कहीं-कहीं रह गई हैं जो पाठक के दिमाक में कंकड़ी सी लगती चलती हैं। दूसरे संस्करण में इन्हें दूर कर दूँगा। इस समय सहृदय विद्वान मुझे क्षमा कर दें!

काशी विश्वविद्यालय
काशी

शंकरदेव अवतरे

विषय-सूची

प्रथम-परिच्छेद—साहित्य और साहित्येतर (पृ० १-८४)

५

प्रथम-परिच्छेद

साहित्य और साहित्येतर

१

यदि कुछ क्षण के लिए हमारे सामने से साहित्य का विवेचनासम्बन्धी सम्पूर्ण संचित कोष एक ओर खींच लिया जाये और हमें इस अनुयोग पर बोलना पड़े कि वाङ्मय की अन्य विधाओं से साहित्य को किस प्रकार अलग किया जाय तो दोनों के बीच किसी व्यवच्छेदक तत्व की तलाश में हमें अपनी एकान्त अनुभूतियों का बण्डल बांधकर सोलह आने व्यवहार के क्षेत्र में उतरना पड़ेगा और हमारा उत्तर कुछ इस प्रकार का होगा :—

साहित्य के किसी पद्यात्मक या गद्यात्मक खण्ड को पढ़ते-सुनते हुए हमारी प्रतिक्रिया अनुमोदनात्मक होती है। इसके भी दो रूप हैं। पहला तो वह—जब हम इतने भाव-विभोर हो जाते हैं कि शब्दों की गति पूर्णतः अवरुद्ध जान पड़ती है और सिवाय इसके कि हम अपने रोमांच, सिर-चालन आदि से उस उक्ति-खण्ड का मूक अनुमोदन करें, कोई दूसरा चारा हमारे पास नहीं रह जाता। दूसरा वह है जब हम सहसा शब्दों में फूट पड़ते हैं—"वाह क्या खूब, यही बात है, एक बार फिर' इत्यादि-इत्यादि। इस अनुमोदन में हृदय के साथ शब्दों का भी योग रहता है। इसके विपरीत वाङ्मय की अन्य विधाओं के सन्दर्भों को पढ़ते-सुनते हुए हमारी प्रतिक्रिया समर्थनात्मक होती है और उसका एक ही रूप है—शाब्दिक। यहां शब्द बुद्धि के सहयोगी बनकर आते हैं, हृदय के नहीं। इतिहास, भूगोल, दर्शन आदि के ग्रन्थों के किसी सिद्धान्त-वाक्य को समझ कर हम

यही कहेंगे—"हां, ठीक है; यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिये; यह जानना बहुत जरूरी है।" इत्यादि-इत्यादि।

स्पष्ट है कि अनुमोदन में संवेदन-संश्लिष्ट अनुभूति-तत्व की सबलता रहती है—समर्थन में प्रमा-पर्यवशिष्ट (अर्थात् शुद्ध बोध रूप में ही आदि से अन्त तक अवशिष्ट रहने वाले) ज्ञान तत्व की। अनुभूति मन की दशा-विशेष (वासना संस्कृत दशा-विशेष) उस हृदय से सम्बद्ध होती है जो उद्‌बुद्ध होकर ब्रह्मा-स्वाद-सहोदर रस कहलाता है अतः अनुमोदन में जिसमें कि हृदय का योग स्वाभाविक है, मोद अथवा आनन्द की स्वीकृति परस्तात् आ पड़ती है। ज्ञान, बुद्धि की उस प्रक्रिया-विशेप से सम्बद्ध है (मनोविज्ञान के अनुसार) जिसमें विचारों की सङ्गति स्पष्ट होने पर बौद्धिक प्रसाद उत्पन्न होता है अतः समर्थन में, जिसमें कि बुद्धि का योग स्वाभाविक है, प्रसन्नता की उपलब्धि होती है। अनुमोदन में हार्दिक प्रेरणा स्वतः आती है–समर्थन में विचारों की सङ्गति देखनी पड़ती है। अनुमोदन हृदय से होता है—समर्थन बुद्धि से। हम जिसका अनुमोदन करते हैं उसके साथ हमारी हार्दिक वृत्तियां आनन्दपूर्वक रमती हैं और अनुभूति की सघनता में तदाकार हो जाती हैं। पर समर्थन हम जिसका करते हैं उसके साथ हमारी बौद्धिक धारणाएँ हर्ष-पूर्वक समाधान पाती हैं और विचारों की समंजसता में तदनुरूप हो जाती हैं। अनुमोदन अभेद-वृत्ति से अथवा अपरवृत्ति से होता है—समर्थन भेद-वृत्ति से अथवा पर-वृत्ति से। जिसका हम अनुमोदन करते हैं उसके साथ हमारी हार्दिक वृत्तियों की अनुभूति होने के कारण, अभेद-सम्बन्ध अथवा अपर-सम्बन्ध ही रहता है—पर जिसका हम समर्थन करते हैं उसके साथ हमारी बौद्धिक वृत्तियों की सङ्गति होने के कारण

भेद-सम्बन्ध अथवा पर-सम्बन्ध ही होता है। दो टूक बात यह है कि अनुभूति से हम जिस वस्तु को पकड़ते हैं वह हमारी ही जान पड़ती है और उसे हम अपने पास न रखकर अपने व्यक्तित्व में ही पचा लेते हैं—पर बुद्धि से हम जिस वस्तु को विचारते हैं वह हमारे साधन के रूप में जान पड़ती है और उसे हम अपने से कुछ अलग रखकर अपने व्यक्तित्व को सजाते हैं। पहली वस्तु स्वत्व के भोग के लिए होती है—दूसरी स्वत्वोपयोगी प्रयोग के लिए। पहली हमारी स्वान्तः परिनिर्वृत्ति के काम आती है—दूसरी दूसरों पर प्रभाव जमाने के काम आती है। साहित्य में हम स्वत्व देखते हैं क्योंकि वह अनुभूतियों का क्षेत्र है—पर साहित्येतर वाक्य में हम स्व-प्रमाणत्व देखते हैं क्योंकि वह प्रमा का क्षेत्र है।

इसका मूल कारण यह है कि अनुभूति सजातीय होती है—विचार विजातीय। संसार के सभी मनुष्यों में विषय और परिस्थिति-भेद रहते हुए भी सुख-दुखात्मक अनुभूति की जाति एक ही है पर प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष यानी इन्द्रिय और विषय का योग एक होने पर भी विचारों में एक जातीयता नहीं होती। इसीलिए अनुभूतियों के द्वार पर हम परस्पर एकता का अनुभव करते हैं—विचारों के क्षेत्र में अनेकता का। अनुभूतियों के माध्यम से हम मिलते हैं—बिचारों के माध्यम से टकराते हैं। अनुभूतियों का माध्यम एकोन्मुखी है—विचारों का माध्यम बहुमुखी। समझौते का मार्ग एक है—झगड़े के मार्ग अनेक। अनुभूतियां हमें स्वयं चालित करती हैं। विचार हमें प्रत्युत ढोने पड़ते हैं। अनुभूतियों को पाकर हमारी चाल स्वाभाविक रहती है—ज्ञान का गट्ठर लाद कर हमारी गति अस्वाभाविक हो जाती है। सिर पर भारी

बोझ लेकर चलने वाले कुली की चाल उसकी अपनी स्वाभाविक चाल नहीं होती; वह उस बोझ की चाल है जिसे वह आपके इशारे पर कहीं भी चौरे में पटकने को तैयार है—किसी के भी सिर पर ठोकने को तैयार है। अनुभूतियां अनेक संवेदना-विन्दुओं से एक ही सामान्य भाव-भूमि की ओर बढ़ती हैं—विचार एक ज्ञान-विन्दु से अनेक विवेचना-क्षेत्रों में फैल जाते हैं। अनुभूतियां वृत्त के अनेक स्थानों से चलकर केन्द्र-विन्दु पर रुकती हैं—विचार केन्द्र-विन्दु से चलकर वृत्त के सम्पूर्ण सम्भावित स्थानों में मिलते रहते हैं। यही कारण है कि अनुभूति-प्रधान साहित्य, मनुष्यों को मिलाता है—समझौता कराता है—विश्व-बन्धुत्व की भावना भरता है—एकता की ओर ले जाता है और मानवता की सामान्य भाव-भूमि प्रतिष्ठित करता है जबकि विचार-प्रधान साहित्येतर वाङ्मय मनुष्यों को परस्पर टकराता है—सिद्धान्तों की रस्साकशी सिखाता है—भेद-वृत्ति कराता है—अनेक दिशाएं उपस्थित करता है और मानवता की छोटी-बड़ी ऊँची-नीची अनेक श्रेणियाँ बनाता जाता है। अन्य बौद्धिक शाखाओं की तो बात ही छोड़िये अध्यात्म-शास्त्र भी जो हमें एकता का उपदेश देता है, अपनी अनेक दिशाओं में भिन्न-विभिन्न है और इसीलिए वह साहित्य की भाँति एकता की अनुभूति नहीं कराता बल्कि एकता की सिद्धि करने के लिए बौद्धिक प्रमाणों की अनन्त बनस्थली में छोड़ देता है जहाँ प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी प्रमा के अनुसार प्रमाण इकट्ठे करता है। 'श्रुतिर्विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः' का यही मतलब है। हां, सबसे बड़ी बात जो अध्यात्म शास्त्र के समर्थन में कही जा सकती है वह यह है कि समस्त विचार-प्रधान वाङ्मय में यह सर्वोत्कृष्ट विद्या है और इसमें भेद जैसी किसी बात का मतलब

बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास से है जो किसी भी प्रकार मनुष्य-जाति के लिए हितकारी ही है। विज्ञान की भांति इसमें कोई ध्वंसात्मक विकल्प नहीं रह सकता।

पर साहित्य भाव-योग की साधना है। यहां भाव-समाधि लगती है। भाव वही—जिसमें सुख-दुःखात्मक अनुभूति की एक जातीयता रहती है। इसीलिए भावों की एकता या भावों की सामान्य भाव-भूमि वही है जहां हम दूसरों के साथ साधारणीकरण कर नहीं लेते बल्कि स्वयं हो जाता है। यहां पहुँचकर हमें यह मधुर अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रह सकती कि जड़-चेतन एक ही अक्षर की दो लिपियां हैं और जीव-मात्र एक ही स्पन्दन के विभिन्न संस्करण हैं। अनुभूतियों के हाथ पड़कर हमें खुल जाता है कि मनुष्यों में श्रेणि-विभाग व्यावहारिक मूल्य के कारण है—केवल बजारू कीमत के कारण है। एक प्रोफेसर की मासिक कीमत पाँच सौ रुपये है और चपरासी की पचास रुपये। पर यह कीमत उनके पदों के अनुसार है, मानवता के अनुसार नहीं। मानवता की कीमत एक ही है और वह अखण्ड है। इसलिए मनुष्यों में छोटे-बड़े का भेद आरोपित है—कल्पित है। संवेदना की दुनिया में हम सब एक हैं। तीन पैसे का कार्ड, आठ आने का दस्तावेज और पांच रुपये का नोट समाज के केवल काम चलाऊ सिक्के हैं—मूलतः वे सब एक कागद ही हैं।

संक्षेप में, यदि समस्त वाङ्मय हमारी ही स्वीकृति है तो साहित्य हमारी ही अभिव्यक्ति है—यदि समस्त वाङ्मय हमारे ही हैं तो साहित्य हम ही हैं।

२

अपनी सीमाओं में यह साहित्य की बहुत ही मोटी पहचान रही। किन्तु अभी इसी प्रकार बिना किसी शास्त्रीय सहायता के हमें अपने खुले मस्तिष्क से और भी साहित्य-शरीर के व्यापक प्रभाव के बारे में कुछ कहना पड़े तो हमें एक दृष्टि में उसका बाह्याभ्यन्तर सौन्दर्य भर लेना होगा और हमारी एक श्वास का विवरण कुछ ऐसे अक्षर लेकर उतरेगा :—

साहित्य की शब्दार्थमयी मूर्ति का प्रभाव-परिवेष कुछ ऐसा उदात्त और अभिराम होता है कि उसकी परिधि में कटु-वृत्तियां भी मधुर और कटु सत्य भी हृदय-स्पृहणीय ही लगते हैं।

इसका भाष्य यह होगा कि प्रयोजन की अनन्यग्राह्यता, सहज ग्राह्यता और अल्पाधिक ग्राह्यता प्रभाव-पर्यवलम्बी है। अर्थात् किसी वस्तु के प्रयोजन की सफलता का पैमाना उस वस्तु के प्रभाव पर अवलम्बित है। ज्वालामुखी का हल्का-सा विस्फोट ही धरित्री को कंपा देता है पर मक्षिका आकाश से पछाड़ खाकर भी एक पत्ता नहीं हिला सकती। आवश्यक नहीं कि प्रभाव किसी एक ही आवरण में नियत रहे। जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य और मूर्त, अमूर्त सभी पदार्थों में किसी न किसी सम्बन्ध से और किसी न किसी रूप में यह रहता है। यह अनिवार्यतः कर्ता में ही नहीं करण उपकरण और कार्य में भी बैठता है। उसी प्रकार यह साधक में ही नहीं—साधन, साधना और साध्य में भी दीखता है। यह भी आवश्यक नहीं कि इसकी व्याख्या ही की जाय, क्योंकि जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को है उसकी

सत्ता में किसी को क्या संदेह ? तथापि प्रयोजन या लक्ष्य का प्रत्यय (प्रतीति) किसी भी प्रभाव की सत्ता का सन्निबन्धन (सच्चा सबूत) है। सूर्य को लीजिये : उष्ण-स्पर्शता उसका नित्य लक्षण है। ऊष्मा और प्रकाश उसके प्रधान कार्य हैं और ये ही दूसरों की अपेक्षा में प्रयोजन भी हैं। रूपरंग आदि उसके अनेक उपकरण हैं। तेज उसका स्वरूप है। पर यदि इससे आगे बढ़कर यह प्रश्न किया जाय कि प्रभाव उसका क्या है? और वह कहां है ? तो उत्तर होगा कि इन सभी में अविच्छिन्न गति से झांकने वाला और जीवन-जगत के हृदय में जमकर बैठने वाला तत्व उसका प्रभाव है। बात स्पष्ट हुई कि किसी पिण्ड का कार्य जब दूसरों की अपेक्षा में प्रयोजन बन सकता है और उसका प्रभाव भी उस कार्य और प्रयोजन पर से उतर कर दूसरों के हृदय में अधिष्ठान पा लेता है तब कार्य और प्रयोजन का प्रभाव के साथ समवाय-सम्बन्ध अर्थात् नित्य सम्बन्ध ही मानना अधिक सङ्गत है। अब यदि इस सूर्य-रूप दृष्टान्त को साहित्यरूप दार्ष्टान्त में घटाया जाय तो एक ही भेद उपलक्षित होगा। वह भेद प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष का है। प्रत्यक्ष से मतलब इन्द्रियों का प्रत्यक्ष भोग और अप्रत्यक्ष से मतलब इन्द्रियों का अप्रत्यक्ष भोग अर्थात् इन्द्रियार्जित अनुभव का संस्काररूप में भोग। सूर्य को जब हम प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं तो उसके कार्य और प्रयोजन में द्विधा प्रभाव की स्थिति सम्भव जान पड़ती है। सामान्यतः सूर्य का कार्य और उसका फल-पर्यवसायी प्रयोजन श्लाघ्य प्रभाव का जनक है। पर इसी सूर्य का कोई प्रलयंकर अतिकार्य और ध्वंस-पर्यवसायी अतिप्रयोजन कटु प्रभाव की भी सृष्टि कर सकता है। श्लाघ्य प्रभाव का आस्वाद मानस द्रुति में कारण होगा और कटु प्रभाव का भोग मानस विद्रुति में। पर

साहित्य में प्रत्येक विषय से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। संस्कार रूप में ही किसी विषय का भोग यहां होता है और वह भी शब्दार्थ (श्रव्य काव्य में) और अभिनय (दृश्य काव्य में) के द्वारा संस्कारों की उद्बुद्ध दशा में ही। और क्योंकि संस्कारों की उद्बुद्ध दशा सदैव आह्लादकारी होती है अतः साहित्य के प्रभाव का आस्वाद नित्य एक रस होता है, वह मानस द्रुति में ही कारण होता है विद्रुति में नहीं। इसका फलितार्थ यही हुआ कि संसार की प्रत्यक्ष अनुभूतियां सुखात्मक हो सकती हैं तो दुःखात्मक भी हो सकती हैं। जिस पुत्र की उत्पत्ति से पिता को अथाह सुख मिल सकता है उसी की मृत्यु से मर्मान्तक दुःख भी। पर साहित्य में सम्पूर्ण अनुभूतियां अप्रत्यक्ष होने के कारण सुखात्मक ही होती हैं।

प्रत्यक्ष अनुभूतियों की व्याख्या जो ऊपर की गई है उससे यह स्पष्ट हो चुका है कि केवल संस्कारों की मध्यस्थता के कारण ही अनुभूतियों को अप्रत्यक्ष कहा गया है। अन्यथा शब्दार्थ का माध्यम तो साहित्य में क्या, अन्य वाङ्मयों में भी होता ही है। फिर साहित्य में मध्यस्थता भी वे ही संस्कार कर सकते हैं जिनका मनुष्य की सुख–दुःखात्मक वृत्तियों से लगाव है, नहीं तो शुद्ध प्रमात्मक संस्कारों की मध्यस्थता तो न्याय शास्त्र आदि में भी रहती है। वहां स्मृति केवल संस्कार से ही तो उत्पन्न मानी जाती है (संस्कार-मात्र-जन्यं ज्ञानं स्मृतिः) और प्रत्यभिज्ञा में भी संस्कारों को कारणता है। किन्तु साहित्य की स्मृति और प्रत्यभिज्ञा, न्यायशास्त्र की स्मृति और प्रत्यभिज्ञा से इसीलिए विसदृश हैं कि साहित्य में ये संवेदनात्मक अनुभूति से लिपटी रहती हैं जब कि न्याय-शास्त्र में ये प्रमात्मक अनुभव से। साहित्य की स्मृति और प्रत्यभिज्ञा के उदाहरण ये हैं:—

(क) सघन कुञ्ज-छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर ॥—बिहारी सतसई।

(ख) तू वही हिमालय है जिसके पैरों में लोटा था जहान;
अब सिर पर चढ़ा रहा सबको।

पहला स्मृति का उदाहरण है, दूसरा प्रत्यभिज्ञा का। पहले में मुख्यतः औत्सुक्य की और दूसरे में औग्र्य-भाव की व्यंजना है। सीधे शब्दों में यहाँ स्मृति और प्रत्यभिज्ञा भाव-मिश्रित हैं—शुद्ध ज्ञानात्मक नहीं है। शुद्ध ज्ञानात्मक स्मृति और प्रत्यभिज्ञा न्याय-शास्त्र का विषय है। यदि हम कल देखे हुए घड़े के रूप-रङ्ग का स्मरण आज करते हैं तो न्याय-शास्त्र की स्मृति का उदाहरण होगा। उसी प्रकार मथुरा में देखे हुए देवदत्त को जब हम बनारस में देखकर पहचान लेते हैं तो यह न्याय-शास्त्र की प्रत्यभिज्ञा कहलायेगी।

पूछा जा सकता है कि क्या साहित्येतर वाङ्मय प्रमात्मक अनुभव ही कराता है? उत्तर होगा—नहीं, वह अनुभूति भी कुछ न कुछ कराता है; किन्तु साहित्य की भांति यह अनुभूति उद्बुद्ध नहीं करता। अनुभूति करना एक बात है और अनुभूति उद्बुद्ध करना दूसरी बात। अनुभूति करने का अर्थ है—कि संवेदन-पुरस्सर किसी बात को बाह्य क्षेत्र से बौद्धिक वाहन के द्वारा आंतरिक क्षेत्र में ला उतारना और अनुभूति उद्बुद्ध करने का अर्थ है—बाह्यार्थबोध सम्बन्ध से संस्कारैकशेष अन्तःस्थित अनुभूति को उद्बुद्ध करना। अनुभूति करने का मतलब है—कोई चीज बाहर से हमारे भीतर गई और अनुभूति उद्बुद्ध होने का मतलब है—कोई चीज हमारे भीतर जगी। दूसरी बात यह है कि साहित्येतर वाङ्मय में प्रत्यक्ष अनुभूति का ही माहात्म्य है, साहित्य की भांति अप्रत्यक्ष अनुभूति का नहीं। क्योंकि

अप्रत्यक्ष अनुभूति का मतलब समझा गया है—संस्कारों का उद्‌बोध—यानी भावों का परिचालन जिसके लिए शब्द-विधान होना भी कवि की भावात्मक दशा में ही सम्भव है और यह सब साहित्येतर वाङ्‌मय में प्रत्युत दोष समझा जाता है। यहां तक कि आलोचना की भाषा में भावात्मकता को साहित्याचार्य भी अप्रामाणिक समझते हैं। फलतः इतिहास, राजनीति आदि के वाङ्‌मय अनुभव (शुद्ध वास्तविक ज्ञान) के अतिरिक्त, अनुभूति (मनोविकारात्मकता) के नाम पर यदि कुछ कराते हैं तो वह सब प्रत्यक्ष ही होता है यद्यपि विद्वान् इसका भी विरोध ही करते हैं क्योंकि भावों की प्रत्यक्ष उत्तेजना से कभी-कभी बहुत बड़ा अनर्थ हो सकता है और होता भी है। व्यक्ति और समाज दोनों को इसका अनुभव है।

यहाँ एक बात अपनी ओर से समझ लेने की है कि उपर्युक्त भेद के रहते हुए भी साहित्य का साहित्येतर वाङ्‌मय से कोई सापेक्ष सम्बन्ध भी हो सकता है अथवा नहीं। इसका उत्तर स्वीकारात्मक है। अभी कहकर समझा गया है कि की हुई अनुभूतियों का उद्‌बोध साहित्य में होता है। तो की हुई अनु-भूतियों का क्या अर्थ है? यही न कि वे बातें जिनकी हमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुभूति है। और अनुभूत्ति संवेदनात्मक होती है जिसमें सुख-दुखात्मक तत्व के साथ ज्ञानात्मक या वास्तविक (वस्तु-सम्बन्धी) अनुभव भी मिला रहता है। पशुओं को इसीलिए अनुभूति नहीं होती कि वहां सुख-दुःख तो होता है पर ज्ञान (अनुभव) नहीं रहता। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि सुख-दुख की अपेक्षा ज्ञान अथवा अनुभव का स्तर ऊँचा है क्योंकि पशु पहली श्रेणी तक ही पहुंच पाते हैं दूसरी तक नहीं। पर मनुष्य दूसरी श्रेणी तक पहुँचा हुआ है इस-

लिए कितना ही शुद्ध वास्तविक ज्ञान का अनुभव उसे क्यों न हो, सुख-दुःख का राई-रत्ती संस्पर्श उसमें अवश्य रहेगा। इसलिए जब हम कहते हैं कि साहित्य अनुभूति-प्रधान है—तो इसका मतलब यह नहीं है कि ज्ञान अथवा अनुभव वहां गौण रूप में भी नहीं है। इसी प्रकार जब हम साहित्येतर वाङ्मय को वस्तु-प्रधान बताते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि जिस वस्तु-तत्व की विवेचना हम शुद्ध ज्ञान-विज्ञान की सीमा में करते हैं उसका हमारे मनोविकारों से कोई सम्पर्क ही नहीं है। और जब ऐसी ही बात है तो जो अनुभूतियां साहित्य में उद्बुद्ध होती हैं उनके निर्माण में साहित्येतर वाङ्मय का कितना प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष योग है—यह आसानी से गले उतर सकता है।

निःसन्देह वाङ्मय की सम्पूर्ण शाखाएँ हमें अपने-अपने ढंग से संसार का यथासम्भव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अनुभव कराती हैं इसीलिए वे अपने-अपने क्षेत्र में उपयोगी होकर भी साहित्य की आधार-भूमियां है जिनके बिना साहित्य का आधा अस्तित्व खतरे में है—आधा इसलिए कि वाङ्मय से बाहर भी लोक का प्रत्यक्ष अनुभव उसका अस्तित्व बचाये रख सकता है। साहित्य के उद्भव पक्ष पर विचार करते हुए मम्मटाचार्य ने यही तो कहा था कि शक्ति, निपुणता और अभ्यास—इन तीनों को साहित्य के उद्भव में एक-कारणता है, अलग-अलग नहीं। अर्थात् तीनों के रहने पर ही काव्य का अस्तितत्व सम्भव है। निपुणता के लिए उसने लोक तथा समस्त वाङ्मय—इन दोनों को ही आधार माना है—

शक्ति निंपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतु स्तदुद्भवे ॥

—काव्यप्रकाश ।

इस बात को बिना समझे ही जो लोग साहित्य को सातवां आसमान बताते हैं वे जरूरत से ज्यादा भावुक हैं और जो साहित्य की लड़िया, लौकिक और शास्त्रीय ज्ञान-विज्ञान की भूमियों पर से चलती देखकर उसके उद्बुद्ध अतएव अन्त: परिष्कारकारी मनोविकारों की सात्विक चर्वणा नहीं कर पाते वे जरूरत से ज्यादा बुद्धिवादी हैं। पहले व्यक्ति निष्कर्मण्य, एकान्तिक और अबुद्धिवादी तक कहे जा सकते हैं—दूसरे व्यक्ति बौधन्धी (बहुधन्धी) भूतवादी और भ्रान्त तक माने जा सकते हैं। पहले व्यक्ति पैर फैलाकर बैठ गये हैं, उन्हें पीलिया रोग हो सकता है—दूसरे व्यक्ति बेतहाशा दौड़ रहे हैं, उनके हाथ-पैर टूटने का डर है। पहले व्यक्ति साहित्य को बुरका पहनाकर रखना चाहते हैं; उनकी धारणा है कि संसार की हवा लगते ही साहित्य की बेगम का सब कुछ चौपट हो जायगा, उनके यहां उसके साथ रमण करने का अधिकार गिने-चुने लोगों को ही हो सकता है जो हृदय के बादशाह हैं। ये लोग नहीं समझते कि साहित्य हृदय के दरिद्रियों को भी धीरे-धीरे हृदय प्रदान कर सकता है। दूसरे व्यक्तियों की संमति है कि विकासवाद के सिद्धान्त साहित्य के पेट में जितने ठूस-ठूस कर भरे जायँ उतना ही वह बलवान होगा; इनकी समझ में यह नहीं आता कि पेट में गया हुआ द्रव्य उतना ही सार्थक हो सकता है जितने का ठीक-ठीक रस-परिपाक हो सके, मात्रा और प्रकार के प्रतिकूल भुक्त पदार्थ बिजातीय द्रव्य बनकर मूल रस को भी दूषित कर देता है।

इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों की खामियां समझने के लिए एक उदाहरण दूं!

बैठी हुई है आप झोपड़ी के द्वार पर
और देह पति का पड़ा है बीच प्रांगण में
मुक्त बन्धनों से रोज के अनेक क्रन्दनों से
दूर-दूर-दूर कहीं निश्चिन्त लोक में
आज निर्जीव जीव जिसका चला गया
छोड़कर अनाथ तीन दूध-मुहें बालकों को
अपनी अनाथिनी अभागिनी के अंक में ।
आंख में न पानी और अंचल में दूध भी न
सूख ही गया है स्रोत जीवन का जिसके,
बोली एक बार पुचकार कर शिशुओं को
आओ ! आज तुमको लंगोटियां बनाऊंगी मैं
छोड़ गया है तुम्हारा बाप फटा चादरा ।

पहले प्रकार के व्यक्तियों को यह कविता कुछ शब्दों का व्यर्थ खेल जान पड़ेगी । हो सकता है कि वे अकाट्य प्रमाण देकर इसमें यह भी दोष निकाल लें कि पति के शव के सामने पड़े रहने पर भी जो स्त्री शोकार्द न होकर कर्म के बहुधन्धों में पड़ी हुई है उसमें न मानवीय अनुभूति है और न तो आचार-परायणता का प्रकाशक एकपातिव्रत । ऐसे व्यक्तियों की बन्द खोपड़ी में भूखे नंगे मजदूरों की वह प्रत्यक्ष अनुभूति की हवा प्रवेश नहीं पा सकी जो इस युग की विकासोन्मुखी समस्याओं का एकतर पक्ष है । यह उसी इदानींतनी वासना की एक रेखा है, जिसे हमारे प्राचीन आचार्यों ने प्राक्तनी वासना के साथ सामाजिक के लिए अनिवार्यतः आवश्यक बताया है । इसी इदानींतनी वासना के अभाव में पहले प्रकार के व्यक्तियों को यह व्यंजना नहीं हो सकती कि जिस पत्नी का नित्य आयव्ययी (लिविंग हैण्ड टु माउथ) पति मर कर एक पैसा भी बच्चों के लिए नहीं

छोड़ गया है उसके पास रोने का समय कहां है? उसे इसके सिवाय और क्या सूझे कि जो उसके मृत पति के चीथड़े बचे हैं उनसे ही अपने बच्चों को लपेटने की चिन्ता करे। जिस नग्न और कठोर भौतिक सत्य का वह सामना कर रही है उसे देखकर आज का सामाजिक जितना द्रवित होगा उतना उसे केवल रोती देखकर नहीं। आर्थिक वैषम्य मृत्यु से भी अधिक भयानक तथा करुणोत्पादक है - इसकी कितनी सफल व्यंजना यहां हुई है।

दूसरे प्रकार के व्यक्तियों को भी इसी उदाहरण से समझ लेना चाहिये कि रोटी-कपड़ों का हल्ला राजनैतिक या सामाजिक क्षेत्र में मानवी अधिकारों की युगानुकूल नई व्याख्या है अतः उसकी सफलता उसी क्षेत्र में है। साहित्य में यह उद्घोष व्यर्थ की टांय-टांय है और कर्ण के माध्यम से हृदय को उद्वेजित करता है। हां यदि इन बातों की प्रत्यक्ष अनुभूति साहित्य में व्यंजित होकर अप्रत्यक्ष बन जाय, जैसा की उदाहृत कविता में है, तो वह निर्विवाद साहित्य के स्वरूप के अनुकूल होगी और वह साहित्य इस युग के अनुकूल होगा। साहित्य वस्तुतः सम्पूर्ण वाङ्मय का फल है। समाज का जो कुछ भी अन्य वाङ्मय में होता है वह सभी साहित्य में आता है, पर ज्यों का त्यों नहीं आता—वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना की चलनी में छनकर आता है—हृदय की साधना में पक कर आता है; यही समाज और साहित्य का सच्चा सम्बन्ध है। इस दृष्टि से प्रत्येक साहित्य, यदि वह साहित्य है तो युगानुसारी होकर प्रगतिवादी और विकासवादी होता ही है। एतदर्थ साहित्य को साम्प्रदायिक कह डालना अनुभूतियों के आत्मघात के कारण, मानवीय चेतना के इतिहास में बज्र अपराध है।

साहित्य में विकासवादी सिद्धान्त और युग-सहजात सम-

स्याओं की प्रत्यक्ष ठूंस-ठांस से जो सबसे बड़ी हानि होती है वह साहित्य की स्वरूपहानि है। इसके लिए वह अपनी मान-हानि का दावा कर सकता है, और उन व्यक्तियों के प्रति कर सकता है जो राजनैतिक उपलब्धियों के लिए उसके प्रभाव से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं और उसके स्वरूप का दुरुपयोग कर उसे मिट्टी में मिलाना चाहते हैं। साहित्य का स्वरूप वह है जिसका प्रभाव अमोघ है और इसीलिए उसका प्रयोजन भी अव्यर्थ है। हम मान चुके हैं कि साहित्य का क्षेत्र वह है जहां हमारी अनुभूतियां हमारे भीतर उद्बुद्ध होती हैं और इसीलिए वे सर्वथा हमारी ही हैं। हमारी ही चीज को उद्बुद्ध करने वाली कोई वस्तु जितनी हमारी हो सकती है उतनी बाहर की और कोई वस्तु नहीं। साहित्य इसीलिए मनुष्य-समाज के सबसे अधिक पास है। इतना ही नहीं, हमारी अनुभूतियों की उद्बुद्ध दशा में उद्बोधक पदार्थ के साथ हमारे हृदय की तदाकार-परणति हो जाती है और इस प्रकार दोनों एक हो जाते हैं। यह उद्बोधक पदार्थ के प्रभाव की पराकाष्ठा है और साहित्य ऐसा ही उद्बोधक पदार्थ है। इस प्रकार जहां एक ओर साहित्य अनुभूतियों की सजातीयता (देखिए पृ० ५) के कारण मनुष्य-मात्र की सामान्य भाव-भूमि उपस्थापित करता हुआ मानवैकता का अमर- सन्देश देता है वहां दूसरी ओर वह मनुष्य के हृदय को तदाकारतया परिणत करके अपने सद्विचार और सात्विक भावनाओं में घोल देता है। यहां एक ओर साहित्य के प्रभाव की पराकाष्ठा है, दूसरी ओर हृदय के आस्वाद की। यही कारण है कि वैयक्तिक परिष्कार और सामाजिक समुत्थान का जो काम सैकड़ों लम्बे-लम्बे व्याख्यान और प्रवचन नहीं कर पाते उसे कविता की एक पंक्ति कर जाती है।

यदि इस अनुभूति शब्द की चीर-फाड़ की जाय तो इसके दो रूप अवगत होंगे। भावात्मक अनुभूति और वस्त्वात्मक अनुभूति। भावात्मक अनुभूति प्रत्यक्ष सुख-दुखानुभूति का संस्कारावस्थित रूप है जो अपने विशेष रूप में अभिव्यक्ति पाकर या उद्‌बद्ध होकर शृंगार, हास्य, करुण आदि रसों तथा रसाभासों की और रति, हास, शोक आदि भावध्वनियों तथा भावाभासों की सृष्टि करता है। सुख-दुःखों की स्थिति इनके मूल में रहने के कारण और इन्हीं सुख-दुखों की जीवन के साथ व्याप्ति अथवा नित्य-साहचर्य रहने के कारण ये रस-भावादि मानव-जीवन के सनातन प्राण हैं। इसीलिए जीवन सनातन है। जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि—'जग बदलेगा किन्तु न जीवन'—तब वह इसी जीवन-तत्व के विषय में प्रौढ़ोक्ति से काम ले रहा है। इससे अधिक और कुछ इसका अर्थ फोड़ना व्यर्थ है।

मानना पड़ेगा कि वस्त्वात्मक अनुभूति यद्यपि उपर्युक्त जीवन-तत्व से अवियोज्य (इन्सेपरेबिल) है तथापि वह उसकी दूसरी करवट है। प्रत्यक्ष सुख-दुःखों की स्थिति जिस परिस्थिति और वातारण की चारदीवारी के भीतर होती है वह नाम-रूपात्मक जगत ही वस्तु-स्वरूप है और उसका बोध भी वस्त्वात्मक है। अलंकार वस्तु का ही एक कंटा-छंटा रूप है। इस प्रसंग में उस पर अलग से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। हमारा मतलब या मत-वल केवल इतना है कि जिस प्रकार सुख-दुःक-मूलक भावानुभूति मनुष्य के अन्तःपक्ष में रहती है उसी प्रकार सुख-दुःख के क्षेत्र-भूत या कारण-भूत वस्तु-जगत की वस्त्वात्मक अनुभूति भी उसके भीतर है। भेद केवल इतना है कि भावानुभूति के मूल रूप सुख-दुःख सदा विषयिगत

(सब्जैक्टिव) ही होते हैं जबकि वस्त्वात्मक अनुभूति का आधार-भूत वस्तु-जगत सदा बिषयगत ही होता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि जब रस-भावादि के अपने कच्चे रूप सुख-दुःख भी विषयि-गत होने के कारण वाच्य नहीं होते तब रस-भावादि स्वयं कैसे वाच्य हो सकते हैं ? वे सदा व्यंग्य ही रहने चाहिये । दूसरी ओर वस्तु, वस्त्वात्मक अनुभूति के रूप में विषयि-गत होने के कारण व्यंग्य तो होगी ही, साथ ही साथ वस्तु-जगत के रूप में विषय-गत होने के कारण वाच्य भी हो सकती है । व्यंग्य-त्रयी के भीतर प्राचीन आचार्यों ने इसीलिए रसभादि को केवल व्यंग्य, और वस्तु-अलंकार को वाच्य और व्यंग्य—दोनों माना है । इसके विवेचन का अवसर आगे आयेगा । यहां प्रकरण इतना ही है कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष सुख-दुःख की स्थिति साहित्य में बिल्कुल विजातीय है ठीक उसी प्रकार सुख-दुख की स्थिति जिस परिस्थिति और वास्तावरण में होती है उसका हू-बहू बोधात्मक आकलन भी साहित्य के द्वार का कूड़ा है ।

साहित्य के मूल में भावना का जल है इसलिये उसका बाहर-भीतर, प्रयत्त-अप्रत्यत्त, वाच्य-व्यंग—सब कुछ हरा-भरा है । साहित्य का वाच्य चाहे वस्तु हो या अलंकार भावना से चालित होने के कारण भाव-संस्पर्श से सर्वथा शून्य नहीं होना चाहिये । विश्व-बन्धुत्व का सिद्धान्त हो या विश्व-संस्कृति का—समाजवाद का सूत्र हो या विकासवाद का—यथार्थवाद का मन्त्र हो या प्रकृति-वाद का, जब तक वह देशकाल से चलकर कवि या कलाकार में इदानींतनी वासना बनकर भावित नहीं हो पाता तब तक वह शुद्ध बौद्धिक सहानुभूति-मात्र है और उसका प्रयोजन देश-काल की आवश्यकताओं से केवल परिचय कराना है, जैसा कि अन्य

नैतिक राजनैतिक और सामाजिक पुस्तकें दिन रात कराती है। किन्तु जब ये ही सिद्धान्त, सूत्र और मन्त्र भावना-भावित होकर कवि की लेखनी से वस्तु-व्यंजना के रूप में फूट पड़ते हैं या कम से कम सरस अभिधान (वाच्य रूप में) पाते हैं तब वे समाज के हृदय को मुक्त दशा की ओर ले जाने के कारण असाधारणतया प्रभावशाली होते हैं और साहित्य की पदवी पाते हैं। भावना या कल्पना वह बरदान है जिसकी कृपा से कवि त्रिकालदर्शी कहलाता है। वह अतीत से जीवन लाता है, वर्तमान को जिलाता है और भविष्य को अमर बनाता है। वही सच्चा कलाकार है जो वर्तमान और अतीत का सन्धान कर सकता है और आज की ही नहीं, आज पर से अवश्यंभावित कल की समस्याओं को भी अभिव्यक्ति दे सकता है। ऐसे कवि या कलाकार अपने समय से पहले उत्पन्न हुए माने जाते हैं और युगान्तरकारी कहलाते हैं। एक आलोचक ने कहा है कि सुनने वाले उसी के पास जायेंगे जो भविष्य में बहने वाली हवा का अनुभव वर्तमान के सन्नाटे से कर ले।

'एन औडिएन्स वुड कम टु हिम हू फील्स दी विंड औफ मार्च ह्वैन दे डू नौट ब्लो'

भविष्य अतीत के गर्भ में पलता है और वर्त्तमान के प्रांगण में खेलता है—यह इसीलिये सत्य है कि संसार में युग-पुरुष पैदा होते हैं।

३

ऊपर रस-भावादि और वस्तु-अलंकार की अभिव्यक्ति (व्यंग्यता) के द्वारा हमने साहित्य को अन्य वाङ्मय से अलग देखने का प्रयत्न किया। किन्तु इस अभिव्यक्ति को साहित्य के भीतर अलङ्कार्य-पक्ष की अथवा व्यङ्ग-पक्ष की सीमा कहना अधिक न्याय-सङ्गत है साहित्य की सीमा नहीं। क्योंकि ऐसे भी स्थल और प्रकरण साहित्य में देखने को मिलते हैं जहां व्यंग्य कोसों दूर खड़ा रहता है। अनेक सूक्तियों में भी हमारा हृदय रमता ही है। आज की अनेक समस्या-प्रधान कृतियां भी साहित्य की ही सम्पत्ति हैं। तब साहित्य और अन्य वांग्मय के बीच दो टूक विभाजक रेखा क्या है—यह प्रश्न फिर से जी उठता है। पर नहीं भूलना चाहिये कि साहित्य की कसौटी वह प्रभाव है जिसकी आस्वादात्मकता में सहृदय-हृदय चमत्कृत होता है। यह अस्वादात्मक प्रभाव अलंकार्य-पक्ष में ही रहता हो—ऐसी बात नहीं है; अलंकार-पक्ष में भी यह रहता है। यह दूसरी बात है कि उतनी मात्रा में नहीं रहता जितनी मात्रा में अलंकार्य-पक्ष में। इसलिये शुद्ध अलङ्कार के रूप में, सूक्ति के रूप में या स्वभावोक्ति के रूप में जितने भी प्रकार कुछ न कुछ आस्वादात्मक प्रभाव रखने के कारण साहित्य के भीतर पड़ते हैं वे सभी प्रायः अलंकार-पक्ष की नियामत है—इसे हम आगे अलङ्कार और अलङ्कार्य की सीमा निर्धारित करते हुए प्रमाणित करेंगे।

साहित्य की सीमा-निर्धारण में आस्वादात्मक प्रभाव की बात कही गई है इसलिये इसके बारे में कुछ यहीं कह देना

आवश्यक है। रस-भावादि और वस्तु-अलंकार की जहां व्यंजना होती है उसे हम अलंकार्य-पक्ष मानते हैं। किन्तु आस्वादात्मक प्रभाव का यहां भी तारतम्य है जिसके कारण उत्तम-काव्य और मध्यम-काव्य की सीमायें बन जाती हैं। व्यंग्य के कमती-बढ़ती प्रभाव के कारण ही उसे गुणीभूत व्यंग्य और ध्वनि काव्य—ये दो संज्ञायें मिल जाती हैं। स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिये कि प्रभाव की महत्ता के कारण ही व्यंग्य की महत्ता है। इसके लिये सबसे, प्रौढ़ प्रमाण यह है कि जब कोई वस्तु-व्यंग्य किसी कारण-विशेष से अपना प्रभाव खो चुकता है तब वह साहित्य में व्यंग्य ही नहीं रह जाता। प्रभाव है तो व्यंग्य है नहीं तो व्यंग्य रहते हुए भी व्यंग्य नहीं है। लक्षणा के भेदों में रूढ़ लक्षणा इसी का एक अच्छा निदर्शन है। 'कुशल' शब्द को लीजिये। पहले इस शब्द का शक्ति-ग्रह कुशा लाने वाले व्यक्तियों के रूप में रहा होगा और इसका व्यंग्य रहा होगा दक्ष-रूप अर्थ। पीछे जब उसका दक्ष-रूप अर्थ ही अधिक प्रसिद्ध हो गया तब वह इसी अर्थ में रूढ़ हो गया और आज इसका अभिधेयार्थ से अधिक कोई वैशिष्ट्य नहीं है।

अच्छा छोड़िये 'कुशल' शब्द को। क्योंकि इसकी लाक्षणिकता विवाद-ग्रस्त है। कुछ विद्वानों की राय है कि इस शब्द का जब कुशानयन-रूप अर्थ अनुपपन्न ही नहीं हुआ तो लक्षणा की यहां प्रसक्ति ही कहां है। क्योंकि लक्षणा के लक्षण में शक्यार्थ यानी वाच्यार्थ के अनुपपन्न या बाधित होने की शर्त सबसे पहली है :—

"लक्षणा शक्य-सम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः"—न्यायमुक्तावली।

"मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता"—साहित्यदर्पण २।

और जब इन विद्वानों से यह पूछा गया कि जब आपके यहां 'कुशल' का कुशा नयन-रूप अर्थ उपपन्न ही है तब वही वाच्यार्थ होना चाहिये, दक्ष-रूप अर्थ कैसे वाच्यार्थ यानी संकेतित हो गया तब इन लोगों को एक सिद्धान्त का सहारा मिल जाता है और ये कहते हैं कि—'अन्यद्धि शब्दानांव्युत्पत्ति-निमित्तं, अन्यच्च प्रवृत्ति-निमित्तम्' अर्थात् शब्दों की व्युत्पत्ति के निमित्त कारण और उनकी प्रवृत्ति के निमित्त कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में इन लोगों के अनुसार शक्यार्थ-बोध के लिये व्युत्पत्ति को कारणता नहीं बल्कि प्रवृत्ति यानी प्रयोग को कारणता है। यानी कुशल शब्द का प्रयोग दक्षरूप अर्थ को सामने रखकर किया जाता है, कुशा लाने वाले के अर्थ में यह प्रवृत्त ही नहीं है। इसलिये इनके यहां 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ कुशा लाने वाले के रूप में होते हुए भी वह वाच्यार्थ, शक्यार्थ, अभिधेयार्थ या संकेतित अर्थ नहीं है बल्कि दक्ष-रूप अर्थ ही वाच्यार्थ, शक्यार्थ, अभिधेयार्थ या संकेतितार्थ है।

किन्तु अन्य रूढ़ लाक्षणिक प्रयोगों के बारे में तो किसी क कोई अड़चन नहीं है। एक प्रसिद्ध प्रयोग है—'कलिंगः साह-सिकः' यानी कलिंग प्रान्त साहसी है। यहां मिट्टी मकान-रूप कलिंग स्थान तो जड़ पदार्थ है; उसमें साहसी अर्थ अनुप-पन्न है; इसे उपपन्न करने के लिये लक्षणा आती है और कलिंग का अर्थ करती है—कलिंग प्रान्त वासी। तात्पर्य यह हुआ कि कलिंग देशवासी लोग साहसी होते हैं। किन्तु यहां इसका प्रयो-जन स्पष्टतः सर्वविदित है कि प्रयोक्ता यह कहना चाहता है कि अन्य प्रदेशवासियों की अपेक्षा कलिंगवासी अधिक साहसी होते हैं। परन्तु दुर्भाग्य से यह प्रयोजन अर्थात् व्यंग्य, लक्ष्यार्थ से ही

गतार्थ हो जाता है और लोग इसे लक्ष्यार्थ की सीमा में ही सिद्ध कर लेते हैं अतः यह उसी रूप में प्रसिद्ध हो गया। स्थायी प्रसिद्धि का नाम ही रूढ़ि है और रूढ़ि का परम्परित अर्थ है प्रभाव का चौपट हो जाना। इसी प्रकार जो-जो प्रयोजन अथवा व्यंग्य सामान्यार्थ से गतार्थ होने लगते हैं वे अपना प्रभाव खो बैठते हैं और अन्ततोगत्वा व्यंग्य ही नहीं रह पाते। रूढ़ि लक्षणा से अन्यत्र कहीं ऐसे प्रयोजन प्रतीयमान होकर भी यदि अपना स्वरूप पूर्णतः निश्चित किये रहते हैं तब वे व्यंग्य भले ही माने जांय अलंकार्य तो नहीं ही हो सकते। रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में सादृश्य व्यंग्य के रहते हुए भी जो उन्हें अलंकार्य न कहकर अलंकार ही कहते हैं—उसकी संगति यही है। जब तक मुख और चन्द्र का सादृश्य पहले से ही निश्चित न होगा तब तक "मुख चन्द्र है" इस रूपक में दोनों की अभेद-कल्पना और "मुख मानो चन्द्र है" इस उत्प्रेक्षा में उनकी अभेद सम्भावना हो ही नहीं सकती। समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा—आदि में भी प्रतीयमान, यद्यपि रूपक, उत्प्रेक्षा के प्रतीयमान सादृश्य की भांति पूर्णतः निश्चित तो नहीं होता पर निश्चित-प्राय होता है। इसका विवेचन आगे करेंगे और देखेंगे कि— इसीलिये इनमें भी अलंकार्य पक्ष पूरी तरह तो नहीं पर कुछ दब अवश्य जाता है।

उपर्युक्त शास्त्रार्थ से हमारा इतना मतलब सिद्ध हुआ कि जब व्यंग्यार्थ पूर्णतः निश्चित हो जाता है अथवा निश्चितप्राय हो जाता है तब उसका आस्वादात्मक चमत्कारी प्रभाव भी पूर्णतः नष्ट हो जाता है अथवा नष्ट-प्राय हो जाता है। पहला उदाहरण रूढ़ि लक्षणा के अनेक प्रयोगों में और रूपकादि अलंकारों में देखा जा सकता है और दूसरा उदाहरण समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में। हो सकता है कि रूढ़ि के उदाहरण

में दिये गये 'कलिंगः साहसिकः' वाले प्रयोग से कुछ नितान्त आधुनिक लोगों को पूरा-पूरा सन्तोष न हो। वे सन्देह कर बैठें कि उक्त प्रयोग में व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ एक ही जान पड़ते हैं। फलतः किस आधार पर कह दिया जाय कि लक्ष्यार्थ तो है—'कलिंगवासी साहसी होते हैं' और व्यंग्यार्थ है—'अन्य प्रदेशवासियों की अपेक्षा कलिंगवासी अधिक साहसी होते हैं।' यहीं क्यों न माना जाय कि जिसे व्यंग्यार्थ कहा गया है वह लक्ष्यार्थ ही है और व्यंग्यार्थ यहां कोई है ही नहीं ? और उस समय के लोग इसे व्यंग्यार्थ मानते होंगे—यह एक अटकल पच्चू है।

ठीक है, ऐसे लोग एक नितान्त आधुनिक प्रयोग से इसे समझ सकते हैं। आजकल बहुत-सी पुस्तकों के शीर्ष-स्थान पर लिखा रहता है—'दो शब्द'। अब इस 'दो शब्द' का क्या अर्थ है जब नीचे शब्दों की अक्षौहिणी खड़ी रहती है। मुख्यार्थबाध होने पर इसका लक्ष्यार्थ यही हुआ न कि लेखक-महोदय की दृष्टि से यह उनकी बहुत ही संक्षिप्त भूमिका है। और प्रयोजन या व्यंग्यार्थ यह है कि पाठक इसे बहुत बड़ी समझ कर विद्रावित न हों और इसे अवश्य पढ़ें। अब यहां यह उन्मुखीकरण रूप व्यंग्य अथवा लेखक का प्रेषणीयता-रूप प्रयोजन शिक्षित समाज में बिल्कुल निश्चितार्थ हो चुका है—रूढ़ हो चुका है। अतएव इसमें कोई आस्वाद न रहने के कारण इस प्रयोग का चमत्कारी प्रभाव या चमत्कारी प्रभाव न रहने के कारण कोई भी आस्वाद 'हरि ओम् तत्सत्' है।

इसी प्रकार कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि समासोक्ति अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में व्यंग्य रूढ़-प्राय है या नहीं—

यह तो नहीं कहा जा सकता, पर यहाँ चमत्कारारी प्रभाव नष्ट-प्राय नहीं है--यह कहा जा सकता है। इसके समर्थन में इन लोगों के पास एक ही जबर्दस्त सबूत है। और वह, यह कि प्राचीन आचार्यों ने इन अलंकारों को अलंकार्य भले ही न कहा हो पर गुणीभूत व्यंग्य कहकर मध्यम-काव्य की कोटि में स्वीकार किया है। इसका पहला उत्तर तो यही है कि इस तर्क से हमारे प्रतिपाद्य विषय पर कोई आँच नहीं आती। हम तो यही कहना चाहते हैं कि चमत्कारी प्रभाव के अवस्था-भेद से ही साहित्य की बाह्याभ्यन्तर सीमायें निर्धारित की जाती हैं। अब रहा इसका उत्तर कि प्राचीन आचार्यों ने समासोक्ति अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों को मध्यम काव्य कहा है इसलिए इनके भीतर चमत्कारी प्रभाव को नष्ट-प्राय या कम नहीं मानना चाहिए, तो हम पूछ सकते हैं कि जब इन अलंकारों में चमत्कारी प्रभाव किसी भी प्रकार नष्ट-प्राय या कम नहीं है तो प्राचीन आचार्यों ने इन्हें उत्तम काव्य क्यों नहीं माना। उन्होंने इन अलंकारों को मध्यम काव्य कहा--यही तो इस बात का उलटा सबूत है कि इनमें चमत्कारी प्रभाव उतना नहीं जितना उत्तम काव्य (ध्वनि-काव्य में होता है।

फिर मध्यम-काव्य की स्वीकृति व्यंग्य के ही चमत्कारी प्रभाव के कारण मानना तो कोई ठोस दलील नहीं है। मध्यम-काव्य तो ऐसी दशा में भी होता है जब व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ का चमत्कारी प्रभाव विशेष होता है। मध्यम-काव्य के आठ भेदों में से 'असुन्दर' नामक भेद का यही मतलब है कि जहाँ व्यंग्य वाच्य की अपेक्षा कम सुन्दर हो अर्थात् वाच्य अधिक सुन्दर या चमत्कारी हो। प्राचीन आचार्यों ने इसका उदाहरण यह दिया है :-

"वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनीकोलाहलं श्रृण्वन्त्या
गृहकर्म-व्यापृताया बध्वाः सीदन्त्यंगानि

(संस्कृत छाया)—ध्वन्यालोक २।

वानीर कुंज में उड़ते हुए पक्षियों का कोलाहल सुनकर गृह-कार्य में फँसी हुई नायिका के अंग ढिलिया गये (पक्षियों के उड़ने और शब्द करने का मतलब था कि उसका प्रेमी संकेत-स्थान पर पहुँच गया है) यहाँ 'उपपति संकेत गृह में पहुँच गया'—इस व्यंग्य की अपेक्षा यह वाच्यार्थ कि 'नायिका के अंग ढिलिया गये' अधिक चमत्कारी है।

और यदि चमत्कारी प्रभाव की अपेक्षा न करके केवल व्यंग्य के ही हलके-पतले रूप में उपस्थित होने के कारण मध्यम-काव्य की सत्ता मानी गई तो और भी गजब हो जायगा। लगभग सारे अर्थालंकारों की सेना मध्यम-काव्य का किला तोड़कर भीतर पहुँच जायगी। अर्थालंकारों में दो-चार ही ऐसे अलंकार हो सकते हैं जिनमें किसी वस्तु या अलंकारान्तर व्यंग्य का कोई संस्पर्श न हो। पुराने आचार्यों ने ही इसे बड़ी सज-धज से सिद्ध किया है। अप्पयदीक्षित ने उपमा को ही 'शैलूषी' नटी कहकर सारे अलंकारों के मूल में माना है।

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।

कुवलयानन्द।

और भामह ने तो बहुत पहले ही वक्रोक्ति के सिर पर ताज रख दिया था :—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थः प्रकाश्यत।
यत्नोस्यां कविना कार्यः कोलंकारोनया विना।

—काव्यालंकार

तब फिर यदि इस द्रोपदी के चीर की कोई व्यवस्था न की गई तो प्राय: समस्त अर्थालंकार मध्यम-काव्य बन बैठेंगे और काव्य का तीसरा भेद जिसे 'अवर' (अव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्) कहा गया है, निर्विषय अथवा प्रविरल-विषय हो जायगा। अर्थात् या तो अवर काव्य की सत्ता ही समाप्त हो जायेगी या फिर वह नाम मात्र के लिए ही रह जायेगा।

सिद्धान्त की बात यह है कि व्यंग्य की चार अवस्थायें हम देखते हैं। इनमें पहली अवस्था वह है जब व्यंग्य अपना प्रधान अस्तित्व लेकर उतरता है। ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य इसी को कहते हैं। दूसरी अवस्था में उसका अस्तित्व गौण रहता है और यही मध्यम काव्य का विषय है। तीसरी अवस्था में इसका अस्तित्व गौण तो रहता ही है पर साथ ही कुछ निश्चित अलंकारों का स्वरूपाधायक भी यह होता है, इस अवस्था में यह मध्यम-काव्य भी कहलाता है और तथाकथित अलंकार भी। चौथी अवस्था वह होती है जब या तो यह व्यंग्य लेशमात्र को भी नहीं होता और यदि होता है तो वह केवल किसी अलंकार का स्वरूपधायक ही होता है। यही अवर या तृतीय कोटि के काव्य का विषय है। अब इन चारों अवस्थाओं की सीमाओं की व्याख्या हो जानी चाहिए।

जहाँ तक पहली अवस्था में उत्पन्न होने वाले ध्वनि-काव्य की बात है वह बहुत ही स्पष्ट है यहाँ चमत्कारी प्रभाव की पराकाष्ठा होती है। विद्वानों ने इसे अभिधामूलक और लक्षणामूलक दो श्रेणियों में डालकर आश्रय और स्वरूप आदि के प्रकार से लगभग ५३५५ भेदों में विभाजित किया है। इन सबके उदाहरण नहीं दिए जा सकते और देने की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि उत्तम काव्य की सीमा के बारे में कोई

विवाद ही नहीं है। फिर भी नमूने के लिये, वस्तु अलंकार और रस की ध्वनि के क्रमशः उदाहरण ये हैं :—

(क) रण में पड़े निज बन्धुओं को एक बार निहार लो।
यम-धाम में ही अन्यथा होगा मिलाप, विचार लो ॥

—जयद्रथ-वध।

(ख) जिस दक्षिण दिशि में रवि का भी तेज मन्द पड़ जाये;
उसी दिशा में पाण्ड्य लोग रघु का न तेज सह पाये।

—(अनुवाद) रघुवंश।

(ग) वह वीर-वर जिस ओर को संग्राम करने पर तुला;
भागते हुए अरि-वृन्द से मैदान खाली हो चला।

—जयद्रथबध।

पहले पद्य में यह वस्तु-व्यञ्जना है कि मैं (अभिमन्यु) तुम्हें (लक्ष्मण, दुर्योधन का पुत्र) शीघ्र ही मारने वाला हूँ। दूसरे में यह व्यतिरेक अलंकार व्यंजित है कि रघु का प्रताप सूर्य से भी बढ़कर है। और तीसरे पद्य में वीर-रस या रौद्र-रस है।

दूसरी अवस्था व्यंग्य के गौण अस्तित्व वाली है जो मध्यम काव्य का विषय है। इसके आठ भेद हैं :—

अगूढमपरस्यांगं वाच्यसिद्धयंगमस्फुटम्
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्
व्यंग्यमेवं गुणीभूतव्यंग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः

—काव्यप्रकाश

देखना चाहिये कि इन आठ भेदों में व्यंग्य की गौणता किस प्रकार है। वस्तुतः यह गौणता तीन दशाओं में मान ली गई है। पहली दशा वह है जब व्यंग्य बिल्कुल निरपेक्ष और स्वतन्त्र तो होता है पर जरूरत से ज्यादा खुल्लम खुल्ला या जरूरत से ज्यादा

गूढ़ होता है। यह दोनों प्रकार का अतिवादी रूप व्यंग्य के लिए अपकर्ष की बात है। अर्थात् इस मान्यता के विरुद्ध है जिसे किसी कवि ने जरा रस-सिक्त भाषा में इस प्रकार कहा है :—

नांध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढ़ः
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्चकश्चित्सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः।

अगूढ़ और अस्फुट इसी दशा के दो भेद हैं। उदाहरण के लिये ये दो पद्य रखे जा सकते हैं :—

(क) जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि—काव्यप्रकाश।
(इस समय मैं जी नहीं रहा, क्या करूँ)

(ख) अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥—काव्यप्रकाश।

(आपके दर्शन न होने पर दर्शनों की उत्कण्ठा बनी रहती है और दर्शन होने पर बिछुड़ने का भय बना रहता है; इसलिये न तो मुझे वियुक्त दशा में सुख मिलता है और न संयुक्त दशा में।)

पहले उदाहरण में यह व्यंग्य कि मेरा जीना मृत्यु के बराबर है—बहुत ही स्पष्ट हो जाता है। यह अगूढ हुआ। दूसरे उदाहरण में यह व्यंग्य कि—आपसे संयोग बना रहे और साथ ही वियोग का भी डर न रहे, ऐसा उपाय कीजिये—कुछ कठिनाई से समझ में आता है; इसीलिये यह अस्फुट है।

दूसरी दशा वह है जब व्यंग्य सापेक्ष-स्वतन्त्र होता है। इसके चार भेद हैं। संदिग्ध-प्राधान्य, तुल्य-प्राधान्य काक्वाक्षिप्त और असुन्दर। पहले में वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता में समानकोटिक सन्देह बना रहता है। दूसरे में तुल्यकोटिक प्रधानता रहती है। इन दोनों ही भेदों में वाच्य प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आकर व्यंग्य का अपेक्षाकृत अपकर्ष कर देता है।

'काक्वाक्षिप्त' में व्यंग्य काकु-सापेक्ष होकर वाच्य-सहजात सा ही प्रतीत होता है। असुन्दर' में वाच्य, व्यंग्य की अपेक्षा के बल पर ही व्यंग्य की अपेक्षा सुन्दरतर होता है इन चारों के उदाहरण भी बहुत स्पष्ट हैं। जैसे:—

हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः
उमा-मुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।

—कुमार सम्भव।

(जिस प्रकार चन्द्रोदय के समय समुद्र में हिलोर उठने लगती है, अर्थात् वह अपनी मर्यादा का कुछ अतिक्रमण करता सा जान पड़ता है, ठीक उसी प्रकार शिवजी का संयम भी चंचल हो उठा जिसके फलस्वरूप उन्होंने पार्वती के मुख पर, जहाँ गुंजा-सदृश लाल वर्ण वाला अधरोष्ठ अपनी आभा बखेर रहा था, अपनी आँखों का व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया)

यहाँ व्यञ्जित होने वाली चुम्बनाभिलाषा प्रधान है अथवा वाच्य-स्वरूप लोचनों का व्यापार—यह सन्देह है। अतः यह व्यंग्य के संदिग्ध-प्राधान्य का उदाहरण हुआ। तुल्य-प्राधान्य का उदाहरण यह है :—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये;
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते।

—महाबीर चरित।

(परशुराम का दूत रावण को चेतावनी देता है कि ब्राह्मणों की अवमानना छोड़ देने में ही आपका कल्याण है नहीं तो आपके मित्र परशुराम बिगड़ जायेंगे)

यहाँ इस दण्ड की व्यञ्जना है कि परशुराम क्षत्रियों की भांति राक्षसों का भी अन्त कर देंगे। दूसरी तरफ मित्र आदि शब्दों से साम (नीति) स्पष्टतः वाच्य ही है दोनों का चमत्कार

एक दूसरे से कम नहीं है और फलतः व्यंग्य और वाच्य दोनों ही तुल्य रूप से प्रधान हैं।

काकु का मतलब स्वर-विकार है जिसके साथ व्यंग्य स्वयं ही आक्षिप्त हो जाता है। इसी लिये यह काकाक्षित कहलाता है। जैसेः—

'मन्थामि कौरवे-शतं समरे न कोपात्'

वेणीसंहार।

(भीमसेन कहता है कि मैं दुर्योधन प्रभृति सौ कौरवों को नहीं मथ डालूगा ! अर्थात् मथ डालूँगा)

यहाँ "मथ डालूँगा" यह व्यंग्य वाच्य के साथ ही उपस्थित हो जाता है।

असुन्दर का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है वहाँ कहा गया है कि यह व्यंग्य—कि "उपपति संकेत स्थान पर पहुँच गया", इस वाच्य की अपेक्षा असुन्दर है—कि "नायिका के अंग ढिलिया गये"। उपर्युक्त चारों उदाहरण द्वितीय दशा के हैं।

तीसरी दशा में व्यंग्य सापेक्ष-परतन्त्र होता है जिसके दो भेद हैं—वाच्यसिद्ध्यंग और अपरांग। वाच्य-सिद्ध्यंग का मतलब है जब व्यंग्य वाच्य की सिद्धि में लग जाता है जैसे—:

'प्रतापस्तव राजेन्द्र वैरिवंशदवानलः'

—साहित्य दर्पण।

यहां वंश (कुटुम्ब) पर जो आरोपण की दृष्टि से वेणु (वांस) रूप श्लिष्ट अर्थ व्यंग्य है वह प्रताप के ऊपर दावानल के आरोप की सिद्धि में लगा हुआ है। किन्तु यह परम्परित रूपक का बिषय हो जाता है और प्राचीन आचार्यों ने इसके लिये सब परम्परित रूपक के ही उदाहरण दिये हैं। किन्तु ऐसा स्थल भी

हो सकता है जहां परम्परित रूपक न हो और फिर भी मध्यम-काव्य के वाच्यसिद्ध्यंग का उदाहरण बन सके। जैसे:—

'फूल अम्बर में सजाये जा रही है चांदनी'

—सीकर

यहां फूल, तारों के लिये कहा गया है—यह चांदनी शब्द से प्रमाणित है। पर फूलों का आधार आकाश तो ठीक नहीं है अत: 'अम्बर' का श्लेष-व्यंग्य जो वस्त्र के रूप में है, वही 'फूल' शब्द की स्थिति को सिद्ध करता है।

अपरांग का उदाहरण यह है :—

जनस्थाने भ्रांतं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्
कृतालंकाभर्तुर्वदनपरिपाटीषुघटना
मयातं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता।

—भट्ट वाचस्पति।

[कोई भिखारी कहता है कि मुझे रामत्व तो मिल गया पर 'कुशलवसुता' यानी कुश और लव जिसके पुत्र हैं वह सीता नहीं मिली। और दूसरा मतलब है कि कुशल पूर्वक वसु (धन) मुझे नहीं मिला। रामत्व कैसे प्राप्त हुआ इसे व्यापार-साम्य से सिद्ध करता है कि कनक की मृगतृष्णा से और कनक मृग को तृष्णा से अन्धा होकर अनेक जनों के स्थानों पर और जनस्थान (दण्डकारण्य) में घूमा, पद-पद पर साश्रु होकर देहि (दीजिये कुछ) और वैदेही (सीता) यह प्रलाप किया और मैंने याचना करके किस राजा का बिगड़ा मुह नहीं देखा और दूसरी ओर लंकापति रावण का मुख मैंने इषु यानी बाणों से भर दिया था]।

यहां सम्पूर्ण श्लिष्ट विशेषणों से याचक का रामचन्द्र के

साथ सादृश्य व्यंग्य था जिसे 'मयाप्तं रामत्व' कहकर वाच्यार्थ का अंग बना दिया गया है।

अब व्यंग्य की तीसरी अवस्था का विश्लेषण करते हैं जिसमें वह गौण रहकर किसी अलंकार का स्वरूपायक होता है। इस व्यंग्य के पैर दोनों रकाबों में हैं। गौण होता है—इसलिये तो वह मध्यम काव्य है और किसी अलंकार विशेष का स्वरूपाधायक होता है इसलिए वह अलंकार-स्वरूप भी है ही। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी समाहित, समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, परम्परित रूपक आदि-आदि अलंकार इसीलिए तो मध्यम-काव्य भी हैं और अलंकार तो हैं ही। किन्तु एक बात यहाँ विशेषतः कहनी है और वह यही कि मध्यम-काव्य की कोटि में आने वाले प्रायः सभी अलंकार मध्यम-काव्य के उपर्युक्त आठो भेदों में फैले हुए नहीं है। वाच्यसिद्ध्यंग और अपरांग इन दो भेदों के भीतर ही प्रायः उनका समावेश हो जाता है। वाच्यसिद्ध्यंग के भीतर परम्परित रूपक को पीछे दिखाया ही जा चुका है। 'अपरांग' के रूप में भी एक अलंकार का उदाहरण देकर देख लिया जाय। समासोक्ति को ही लीजिए :—

आगत्य साम्प्रतिवियोगविसंष्ठुलांगीमम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते तन्वंगि पाद-पतनेन सहस्ररश्मिः॥

—काव्यप्रकाश

सूर्य प्रातः समय में कमलिनी को पैर पड़ कर मना रहा है क्योंकि वह रात्रि भर कहीं अन्यत्र था और यह उसके वियोग में विह्वल रही थी, मुरझाई हुई थी।

यहाँ सूर्य और कमलिनी के, समान कार्य, लिंग और विशेषणों से किसी शठ नायक और खण्डिता नायिका का व्यवहार व्यंग्य है। किन्तु यह व्यंग्य प्रस्तुत वाच्यार्थ पर आरोपित

होकर ही स्थित है और उसका उत्कर्षाधायक भी है, फलतः गौण होकर मध्यम-काव्य की ओर चला जाता है। दूसरी ओर प्रस्तुत सूर्य-कमलिनी-रूप वाच्यार्थ स्वतंत्र और सिद्ध रहते हुए भी समासोक्ति अलंकार तब तक नहीं हो सकता जब तक उक्त अप्रस्तुत व्यंग्य का अध्यारोप अपने ऊपर न कर ले। इस प्रकार जिस व्यंग्य की गौणता के कारण मध्यम-काव्य बना है वही समासोक्ति अलंकार का स्वरूपाधायक भी है।

अब रही व्यंग्य की चौथी अवस्था की बात जिसके दो पक्ष हैं। पहला पक्ष है जब व्यंग्य का सर्वथा अभाव होता है और दूसरा पक्ष है जब व्यंग्य अपना गौण-अस्तित्व भी नहीं रखता और किसी अलंकार का स्वरूपाधायक ही होता है। पहले पक्ष का उदाहरण देना कोई आवश्यक नहीं है। साहित्य में अनेक उक्तियाँ ऐसी मिल सकती हैं जिन्हें पीसकर भी कोई व्यंग्य नहीं निकाला जा सकता। दूसरे पक्ष के उदाहरण अनेक अलंकार हैं। नमूने के लिए सामान्य रूपक को ही ले लिया जाय। जब कोई कहता है—'मुखं चन्द्रः' तो यहाँ मुख और चन्द्र—इन दो भिन्न वस्तुओं की अभेदता वाच्य है और इन दोनों की समानता व्यंग्य है। बिना किसी समानता या सादृश्य के दो भिन्न वस्तुओं की अभेद-कल्पना ही अन्याय्य है अर्थात् हो ही नहीं सकती। और एक ही वस्तु में तो अभेद-कल्पना का कोई मतलब ही नहीं निकलता। फलतः मुख और चन्द्र का सादृश्य जबतक न होगा तब तक इन दोनों की अभेद-कल्पना करने वाला रूपक अपने स्वरूप में सर्वथा अनुपपन्न है।

प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार पीछे श्लिष्ट परम्परित रूपक में वाच्य की सिद्धि करने वाले व्यंग्य को गौण मानकर मध्यम-काव्य के वाच्य-सिद्धयंग भेद का उदाहरण मान लिया

है उसी प्रकार यहाँ सामान्य रूपक में भी अभेदता-रूप-वाच्य की सिद्धि करने वाला सादृश्य (उपमा व्यंग्य) गौण होकर मध्यम काव्य का वाच्यसिद्ध्यंग क्यों नहीं हो जाता ? उत्तर बहुत साफ है कि श्लिष्टपरम्परित रूपक में जो श्लिष्ट अर्थ व्यंग्य होता है वह स्वयं में चमत्कारी होने के कारण अपना अस्तित्व रखता है तभी तो वाच्य की सिद्धि करने पर उसे गौणता प्राप्त हो जाती है। किन्तु सामान्य रूपक में सादृश्य-रूप व्यंग्य का लेशतोऽपि चमत्कार नहीं है, बल्कि सादृश्य के आधार पर जो यहाँ दो वस्तुओं की अभेदता वाच्य होती है उसी में आलंकारिक चमत्कार है। यही बात है कि सामान्य रूपक जैसे अलंकारों का व्यंग्य अपना कोई अस्तित्व न रखकर उक्त अलंकारों के स्वरूप में ही अवसित माना जाता है।

अन्त में कहना चाहिये कि ऊपर जो व्यंग्य की चार अवस्थाओं का विश्लेषण किया गया है वह साहित्य की आभ्यन्तर सीमाओं से सम्बन्ध रखता है। इसीलिये यदि कोई विद्वान इनके भीतर परिवर्तन भी करें तो उससे साहित्य की बाह्य सीमाओं में कोई संकुलता नहीं आती। दूसरी बात यह है कि साहित्य जैसी लचीली और गतिमय वस्तु के भीतर रूढ़ तर्क अधिक काम नहीं दे सकते। यदि साहित्य शुद्ध बौद्धिक विश्लेषण की वस्तु बन जाय तो वह कुछ का कुछ सिद्ध किया जा सकता है। पर नहीं, यहाँ तो सभी बातों का समाधान चमत्कारी प्रभाव की तारतमिक स्थिति से होता है। इसी के आधार पर हमने ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य कहा और गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम-काव्य। फिर कुछ अलंकारों को मध्यम-काव्य के भीतर भी मान लेने का और अधिकांश अलङ्कारों को केवल अलङ्कार ही के रूप में स्वीकार करने का आधार भी

हमारे पास चमत्कारी प्रभाव की उच्चावचता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और चमत्कारी प्रभाव की सत्ता में प्रमाण है सहृदय-हृदय। शायद यही साहित्य की सत्ता में भी प्रमाण है। सहृदय व्यक्ति विभिन्न उक्तियों को पढ़-सुनकर बता देगा कि अमुक में चमत्कार बहुत है—अमुक में चमत्कार कम है—और अमुक में चमत्कार बहुत कम है। क्या चमत्कार है—क्यों चमत्कार है—कितना चमत्कार है—इन प्रश्नों का उत्तर वह नहीं दे सकता या देना नहीं चाहता। यदि देना भी चाहेगा तो बुद्धि के क्षेत्र में उतना ही उतरेगा कि हृदय का अनुमोदन मिलना बन्द न हो जाय। हृदय के आदान-प्रदान से कटकर बुद्धि साहित्य का निर्णय तो नहीं कर सकती और चाहे जो करे। इस सबसे जुड़-बटुर कर यही दिशा मिलती है कि साहित्य की आभ्यन्तर सीमाओं का यथा-सम्भव और यथा-शक्य निर्णय जैसे चमत्कारी प्रभाव की तारतमिकता के आधार पर होता है वैसे ही चमत्कारी प्रभाव के क्षितिज से ही साहित्य की बाह्य सीमाओं का पता लग सकेगा।

४

अभी प्रश्न वही बना हुआ है। उसका केवल चोला बदल गया है। पहले वह साहित्य की सीमा के बारे में था, अब साहित्य की सीमा निर्धारित करने वाले चमत्कारी प्रभाव के बारे में है। किन्तु यह प्रश्न आधा हल हो चुका है। हम देख चुके हैं कि साहित्य के एक पक्ष अलङ्कार्य में इस प्रभाव की किमात्मकता, कीदृशात्मकता और कियत्तात्मकता क्या है अर्थात् यह क्या है, कैसा है और कितनी मात्रा में बैठा है। उसी सरणि पर यह भी समझा जा चुका है कि यह अलङ्कार्य-पक्ष साहित्येतर वाङ्मय से कितना विसदृश है। अब साहित्य के द्वितीय पक्ष अलङ्कार में भी प्रभाव के स्वरूप की विवेचना करते हुए उसे अन्य वाङ्मय-रेखाओं से अलग निकाल लिया जाय तो उपर्युक्त प्रश्न का चतुश्चूलपूर्ण समाधान होगा। किन्तु जिस प्रकार अलङ्कार्य के भीतर घुसकर ही हमें तत्कोटिक प्रभाव की जानकारी हो सकी थी उसी प्रकार अलङ्कार की मीमांसा के माध्यम से ही तत्कोटिक प्रभाव का परिचय हो सकेगा।

अलङ्कार-पक्ष की मीमांसा का मूर्धन्य आग्रह है कि उसमें अलङ्कार्य-पक्ष से क्या वैसादृश्य है। सम्भवतः यहाँ यह स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि अलङ्कार्य और अलङ्कार का जो मतलब है वही हू-बहू अलङ्कार्य-पक्ष और अलङ्कार-पक्ष का तात्पर्य नहीं है। अलङ्कार्य का शाब्दिक और पारिभाषित अर्थ है—अलङ्करणीय यानी अलंकृत किये जाने योग्य भले ही कभी और कहीं वह अपनी इस योग्यता को भूल कर दूसरों को अलंकृत

करने लगे किन्तु इससे उसकी तथाकथित योग्यता नष्ट नहीं हो सकती—ठीक उसी प्रकार जैसे अपने सेवक के विवाह में उसके पीछे-पीछे चलने से किसी राजा की। इसीलिये हमारा पक्ष है कि व्यंजित रस-भावादि और वस्तु-अलङ्कार प्रधान न रहकर कभी और कहीं गौण भी हो जांय तब भी वे अलङ्कार्य की कोटि से नहीं गिरते-बशर्तें उनका अस्तित्व किसी न किसी रूप में अलग हो। गौण होकर भी अलग अस्तित्व होना आवश्यक है। राजा यदि सेवक के लिये अपना पद भी मिटा दे तब वह अपना राजापना नहीं रख सकता। इसी प्रकार यदि व्यंग्य भी अपनी व्यंग्यता किसी दूसरे के स्वरूप में अवसित करके रहना चाहे तो उसका अलग अस्तित्व नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि हमने पीछे समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा-आदि अलंकारों में गौण-भूत व्यंग्य को भी अलंकार्य माना है पर सामान्य रूपक, उत्प्रेक्षा आदि में केवल स्वरूपाधायक व्यंग्य को अलंकार से अतिरिक्त कुछ भी नहीं माना। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों को हम अलंकार्य नहीं मानते बल्कि उनके भीतर रहने वाले व्यंग्य को हम अलंकार्य कह सकते हैं। इसी का तिरछा अर्थ यह भी है कि व्यंग्य को छोड़कर प्रायः सभी कुछ अलंकार है। 'प्रायः' इसलिये कहा गया है कि साहित्य के भीतर कुछ वस्तु ऐसी भी हैं जो न तो पूर्णतः अलंकार्य ही हैं और न तो सर्वथा अलंकार ही। शब्दार्थ ऐसा ही तत्व है। यह काव्य का शरीर माना गया है। यह अनुप्रास उपमा आदि अलंकारों से अलंकृत भी होता है और आत्मस्थानीय ध्वनि का उत्कर्षाधायक होने के कारण अलंकार भी है। जो लोग आत्मवादी हैं उनके यहां तो शब्दार्थ केवल अलंकार-मात्र हैं और जो

भूतवादी हैं उनके लिये यही शब्दार्थ अलंकार्य तक हो सकता है। इसी खाई को पाटने के लिये हम शब्दार्थ को यहाँ अलंकृत या मध्यम-अलंकार कह कर छोड़ रहे हैं। आगे इसका स्वतन्त्र विचार होगा।

निष्कर्ष यह है कि प्रधान, और गौण अवस्था में भी अपना अस्तित्व रखने वाला व्यंग्य, अलंकार्य-पद-वाच्य है, तदतिरिक्त जो कुछ भी है उसे हम अलंकार नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। यही अलंकार्य और अलंकार का सीधा सा मतलब है। किन्तु अलंकार्य-पक्ष का मतलब केवल अलंकार्य से न होकर उसके साथ अप्रधान-भाव से उपस्थित रहने वाले अलंकार से भी है, उसी प्रकार अलंकार-पक्ष का मतलब भी केवल अलंकार से न होकर उसके साथ अप्रधान-भाव से उपस्थित रहने वाले अलंकार्य से भी है। अलंकार्य-पक्ष कह कर हम अलंकार से अलंकार्य को अलग नहीं कर सकते उसी प्रकार अलंकार पक्ष कहकर हम अलंकार्य से भी अलंकार को अलग नहीं कर सकते। अलंकार्य-पक्ष का अर्थ है कि हम अलंकार्य को प्रधान मानकर उसके साथ अलंकारों की स्थिति किस रूप में स्वीकार करते हैं और उसी प्रकार अलंकार-पक्ष का तात्पर्य है कि अलंकार को प्रधान मानकर उसके साथ अलंकार्य की स्थिति हमें किस रूप में ग्राह्य है। साफ बात यह है कि अलंकार्य-पक्ष और अलंकार-पक्ष दोनों में ही अलंकार्य और अलंकार रहते हैं पर अलंकार्य-पक्ष में अलंकार्य की प्रधानता है और अलंकार-पक्ष में अलंकार की यही इन दोनों का अन्तर है। किन्तु आभ्यन्तर सीमाओं में अन्तर रहते हुए भी अलंकार्य और अलंकार की तथा अलंकार्य-पक्ष और अलंकार-पक्ष की बाह्य सीमाओं में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता। इन दोनों में से किसी

की बाह्य सीमायें साहित्य की सीमायें हैं। क्योंकि यदि हमसे कहा जाय कि साहित्य को साहित्येतर वाङ्मय से अलग कीजिये तो हम यही करेंगे कि अलंकार-प्रधान अलंकार्य-पक्ष के भीतर अलंकार्य का वैशिष्ट्य दिखायें और अलंकार-प्रधान अलंकार-पक्ष के भीतर अलंकार का वैशिष्ट्य दिखा दें। पिछले तीन प्रकरणों में हमने अलंकार्य-पक्ष के अलंकार्य का वैशिष्ट्य दिखाकर आधा काम निबटा दिया है। अब इस प्रकरण में अलंकार-पक्ष के अलंकार का वैशिष्ट्य दिखाकर हम साहित्य और साहित्येतर वाङ्मय की सीमाओं के बीच एक बहुत मोटी रेखा खींचने जा रहे हैं।

अलंकार-पक्ष के भीतर अलंकार का वैशिष्ट्य दिखाने से पहले हम अलंकार्य-पक्ष और अलंकार-पक्ष की आभ्यन्तर सीमाओं के बारे में थोड़ा और स्पष्टीकरण करना चाहते हैं। इतना तो कहा ही जा चुका है कि अलंकार्य-पक्ष अलंकार्य-प्रधान होता है और अलंकार-पक्ष अलंकार-प्रधान। अलंकार्य के रूप में हम व्यंग्यत्रयी (रसभावादि, वस्तु, अलंकार) को मानते हैं जो हमारी अनुभूतियों के उद्बुद्ध रूप हैं। अलंकार के रूप में हम वाच्यद्वयी (वस्तु, अलंकार) को मानते हैं जो कि बोधात्मक हैं। इसलिये यह कहना चाहिये कि अलंकार्य-पक्ष में उद्बोध-तत्व (अभिव्यक्ति-तत्व) प्रधान रहता है और अलंकार-पक्ष में बोध-सत्व (वाच्य-तत्व)।

व्यंग्यत्रयी के मूल में बर्तने वाली अनुभूतियों की व्याख्या भी पीछे की जा चुकी है कि प्रत्यक्ष सुख-दुख की और तत्क्षेत्रभूत वस्तु-जगत की अनुभूतियाँ ही वे अनुभूतियाँ हैं जो उद्बुद्ध होकर क्रमशः रसभावादि और व्यंजित वस्तु-अलङ्कार के रूप में उपस्थित हो जाती हैं। दूसरी ओर ये ही दोनों प्रकार की

अनुभूतियाँ वाच्य होकर अलङ्कार-पक्ष की ओर चली जायेंगी। पर यहाँ एक परिष्कार अत्यावश्यक है कि दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ वाच्य नहीं हो सकती, केवल वस्तुजगत की अनुभूति ही वाच्य हो सकती है सुख-दुःख की अनुभूति नहीं। यही कारण है कि सुख-दुखानुभूति-प्रत्यर्पित संवेग-माध्यमिक स्थायी भावों का उद्बुद्ध रूप रस या संपूर्ण रस-चक्र व्यंग्य ही रहता है जब कि वस्तु और अलङ्कार व्यंग्य भी हो सकते हैं और वाच्य भी।

ऐसा क्यों होता है ?

इसके लिये उत्तरदायी हमारे मन का पक्षपात-पूर्ण व्यवहार है। ज्ञानात्मक, भावात्मक और इच्छात्मक—ये तीन प्रक्रिया मन की होती हैं। इच्छात्मक प्रक्रिया को यहाँ छोड़ दीजिये। ज्ञानात्मक और भावात्मक प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए हम देखते हैं कि एक मन का व्यापार होते हुए भी इनमें नितान्त वैसादृश्य है। ज्ञान हम जिस वस्तु का करते हैं उसकी व्याख्या हम कर सकते हैं पर भाव जिसका होता है वह स्वयं हम ही होते हैं अतः उसकी व्याख्या असम्भव है। ज्ञानात्मक प्रक्रिया में संवेदना (मनोविज्ञान के अनुसार) सबसे पहली अवस्था है और प्रत्यक्षीकरण दूसरी। शुद्ध संवेदना तो एक शिशु में ही सम्भव है किन्तु वयस्कों में वह उत्तेजना के गुण भी प्रगट कर देती है, और उन गुणों के सहारे तत्सम्बन्धी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—इन पांच विषयों में से किसी की भी संवेदना होने पर हम उससे सम्बद्ध उत्तेजना के सम्बन्ध में जान लेते हैं। अर्थात् जिस वस्तु का वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्द है उसे समझ लेते हैं। फूल के श्वेत, लाल या पीले रङ्ग की संवेदना हमें रङ्ग-स्वरूप गुण के

सहारे फूल का प्रत्यक्ष करा देती है किन्तु सुख-दुःख के सहारे भावों का प्रत्यक्ष हम नहीं कर सकते। फूल की व्याख्या हो सकती है क्योंकि उसके रूप, सुगन्धि—आदि का स्वरूप निश्चित है परन्तु भावों की व्याख्या कैसे हो सकती है जब सुख-दुःख का स्वरूप ही निश्चित नहीं है। यों तो तर्कशास्त्र में मन के अनुकूल-वेदनीयत्व को सुख और प्रतिकूलवेदनीयत्व को दुःख कह दिया है। पर इससे यह निश्चित कैसे हो कि वेदनीयत्वावच्छिन्न की ऐकान्तिक वृत्तिता किसमें है। अर्थात् सुख-दुःख अपने स्वरूप में ही अनैकान्तिक हैं। जो वस्तु हमारे लिये सुखकारी है वही दूसरों के लिये दुखकारी हो सकती है। फिर जो वस्तु हमारे लिये इस समय सुख-प्रद है कालान्तर में हमारे लिये ही दुःख-प्रद हो सकती है।

अच्छा, सुख-दुःख का आधार कोई निश्चित भी मान लिया जाय तब भी बात नहीं बनती। क्योंकि सुख-दुःख, के पर्याय या लक्षण 'अनुकूल वेदनीयत्व' और 'प्रतिकूलवेदनीयत्व' का स्वरूप उतना ही अनिश्चित है जितना स्वयं सुख-दुःख का। एक सुखी व्यक्ति क्यों सुखी है—यह तो कथञ्चित् जाना जा सकता है पर सुख का स्वरूप नहीं जाना जा सकता। उसी प्रकार अश्रु—आदि से किसी के दुःख की अभिव्यक्ति हो जायगी पर प्रतिकूल वेदनीयता का स्वरूप-बोध नहीं होगा। जब कोई दुःखी व्यक्ति अपने मुँह से अपना दुःख कहता है तो वास्तव में दुःख का कारण कहता है और हम उसका दुःख नहीं जानते वास्तव में दुःख का कारण जान लेते हैं।

इसका विशकलित अर्थ यही हुआ कि जब प्रत्यक्ष सुख-दुःख ही वाच्य नहीं हो सकते तब उनकी अनुभूति, अनुभूत्यनन्तर संवेग, संवेग-सदभ्यरत भाव और भाव-मूलक रस-चक्र की

वाच्यता के झमेले में कौन पड़े। यही कारण है कि सुख-दुःखानुभूति सीधी उछल कर भावात्मक क्षेत्र में पहुँचती है और उसका क्रम निर्धारित करना कठिन हो जाता है। आचार्यों ने इसीलिये इसे असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा है। दूसरी ओर वस्त्वात्मक अनुभूति उद्बुद्ध होकर भी भावों में गति उत्पन्न करती रहती है स्वयं भाव नहीं बनती, इसीलिये इसे लक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा गया है। यह बड़ी मजेदार बात है कि ज्ञानात्मक प्रक्रिया में संवेदना किसी भिन्न वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में कारण है किन्तु भावात्मक प्रक्रिया में यह बात नहीं होती। भावों का सम्बन्ध सुख-दुःख से है और जब सुख-दुःख के भाव उत्पन्न होते हैं तो ये सुख-दुःख किसी दूसरी वस्तु के न होकर हमारे ही होते हैं। और हम क्या हैं—इसका प्रत्यक्षीकरण न होकर अभिव्यक्ति ही हो सकती है। रस-पर्यवसायी भावों का सम्बन्ध इसी अस्मिता से होने के कारण उनको वाच्यता का प्रयत्न करना साहित्य में उलटा दोष है - और प्रत्यक्ष दोष है अर्थात् आत्म-स्थानीय रस-चक्र की हत्या है। क्यों ? इसका उत्तर प्रत्येक व्यक्ति के पास है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव इसमें प्रमाण है कि ज्ञानात्मक प्रक्रिया में तो ध्यान करने से ज्ञेय वस्तु प्रत्यक्ष होती जाती है लेकिन भावात्मक प्रक्रिया में ध्यान करते ही भाव बिलीन हो जाता है।

यह बात अवान्तर तो थी पर विषयान्तर नहीं अतः इस पर संक्षेप में विचार कर लिया गया। अब फिर मूल विवेचना-सूत्र पर आ जाना चाहिए। कहा जा रहा था कि अलंकार्य-पक्ष में व्यंग्य-तत्व की प्रधानता है और अलंकार-पक्ष में वाच्य-तत्व की। पर ऐसा क्यों होता है—यही विचारणीय है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कवि-मात्र का यही

काम है कि वह किसी भी वस्तु और तथ्य को अपने ढंग से उपस्थित करता है—अर्थात् चित्रण करता है। और चित्रण-मात्र में दो वृत्तियां काम करती हैं। पहली वृत्ति है जब कवि किसी अभिव्यक्ति का माध्यम वाह्य चित्रण को बनाता है यानी वाह्य-चित्रण में आन्तरिक अभिव्यक्ति की ओर उसका संरम्भ रहता है। दूसरी वृत्ति है जब कवि वाह्य-चित्रण में इतना रम जाता है या लग जाता है कि आन्तरिक अभिव्यक्ति गौण हो जाती है। पहली वृत्ति अलंकार्य-पक्ष की सिद्धि में कारण है और दूसरी अलंकार-पक्ष की। हिन्दी के साहित्य में भक्ति काल को अलंकार्य-पक्ष-प्रधान कहा जा सकता है और रीतिकाल और प्रथम द्विवेदी-काल को अलंकार-पक्ष-प्रधान। अलंकार-पक्ष को सिद्ध करने वाली वृत्ति की भी दो दशायें सम्भव हैं। पहली दशा में वाह्य-चित्रण के लिए वस्तु के स्वभाव की अपेक्षा वाह्य साज-सज्जा पर विशेष दृष्टि रहती है दूसरी दशा में वस्तु की वाह्य साज-सज्जा की अपेक्षा वस्तु के वाह्य रूप का आकलन विशेष होता है। पहली दशा को अधिकता रीतिकाल की आलंकारिकता में पाई जाती है और दूसरी दशा की पराकाष्ठा प्रथम द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मकता में। और संस्कृत साहित्य में तो उपर्युक्त अलंकार्य-पक्ष और और अलंकारपक्ष की दोनों वृत्तियों के तथा अलंकार-पक्ष की वृत्ति की दोनों दशाओं के प्रयोग का इतिहास ही नहीं लक्षणों का इतिहास भी स्पष्ट है। चित्रण में अभिव्यक्ति को महत्व देने वालों में ध्वनि-सम्प्रदाय और रस-सम्प्रदाय मुख्य हैं। अभिव्यक्ति पर गौण दृष्टि रख कर चित्रण-मात्र में रमने वाले प्रधानतः अलंकार-सम्प्रदाय और रीति-सम्प्रदाय हैं। वाह्य-चित्रण पर संरम्भ रखने वाले आचार्यों के दो दलों से भी हमारा परिचय है। वाह्य-चित्रण की साज-सज्जा पर जोर देने वाले लोग

तो अलंकारवादी थे ही पर कुछ विद्वान् ऐसे भी थे जो अनेक चित्रणों में बिना किसी साज-सज्जा के वाह्य स्वरूप का आकलन ही देखते थे। ऐसे चित्रणों या वर्णनों को उन्होंने स्वाभावोक्ति कह कर एक स्वतंत्र ही वाङ्-मय घोषित किया था (वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्) पिछले खेवे के आचार्यों ने पीछे इसे भी एक स्वतंत्र अलंकार कहकर अलंकारों में ही दीक्षित कर लिया।

"स्वभावोक्ति दुरूहार्थ स्वक्रिया रूपवर्णनम्"

साहित्य दर्पण

हमारी निर्भ्रान्त स्थापना है कि चित्रण का मतलब स्वभावोक्ति भी है चाहे स्वभावोक्ति ही चित्रण न हो। उपर्युक्त तीनों प्रकार के चित्रणों में इसे देखा जा सकता है। जहाँ तक स्वक्रिया रूप-परक चित्रण का प्रश्न है वह तो स्वभावोक्ति है ही जिसको स्वभावोक्ति नामक अलंकार-विशेष करके समझा जाता है। साज-सज्जा-परक चित्रण भी जो सम्पूर्ण अलंकारों की सृष्टि है, अपने साथ अप्रस्तुत रूपों को भले ही रखता है पर वे अप्रस्तुत रूप जिसके साथ और जिसके लिये लाये गये हैं वह तो प्रस्तुत ही है और प्रस्तुत स्वक्रियारूप-वर्ण्य होता है अतः स्वभावोक्ति से कुछ भी भिन्न नहीं है। उदाहरण से देखिये:—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्;
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्।

शिशुपाल वध।

रैवतक पर्वत का वर्णन है। कवि ने उस समय का चित्र खींचा है जब पर्वत के एक तरफ सूर्य का उदय होता है और दूसरी ओर चंद्रमा अस्त होने को होता है अर्थात् पर्वत, सूर्य

और चंद्रमा—ये सब प्रस्तुत हैं। इन्हें सजाने के लिए निदर्शना अलंकार से काम लिया गया है। पर्वत को हाथी और सूर्य-चंद्र को उसके दो घण्टों के रूप में चित्रित किया गया है। सूर्य-चंद्र की किरणों को रस्सी के रूप में कल्पित समझा गया है जिससे वे दोनों घण्टे बँधे हुए हैं। यहाँ कैसे कहा जा सकता है कि प्रस्तुत का स्वरूप वर्णित नहीं है। या चित्रित नहीं है ? और यदि है तो ऐसे साज-सज्जा-परक चित्रणों में भी स्वभावोक्ति का स्वरूप आ ही जाता है।

अब रहा व्यंग्य-परक चित्रण जिसमें अभिव्यक्ति का आग्रह होता है किन्तु यह भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत का वह प्रभावशाली रूप ही तो है जिसमें व्यंजना की क्षमता होती है, यहां भी प्रस्तुत का वर्णन स्वक्रियारूप के रूप में स्वभावोक्ति की पद्धति पर ही होता है।

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि
रुत्क्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचिलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।
—कुमार सम्भव ।

(शिव जी को अपने रूप में प्रकट देखकर पार्वती जी की क्या दशा हुई इसका चित्र इस पद्य में है। जिस वटु से पार्वती जी का विवाद चल रहा था और जिससे हटकर वे अन्यत्र चलने को प्रवृत्त हुई उसी को अपने उपास्य के रूप में आलम्बन देते हुए देखकर उन्हें सात्विक कम्पन होने लगा और शरीर में सात्विक स्वेद बह चला। जो पैर उन्होंने चलने के लिए उठाया था वह उठा ही रह गया; न आगे रखा जा सका और न पीछे। वेग से बढ़ती हुई नदी के मार्ग-स्थित किसी पर्वत से

टकराने पर जो दशा उपस्थित होती है वही हालत पार्वती जी की हो गई।

यहाँ अत्युत्कृष्ट शृंगार की व्यंजना है और स्वक्रिया रूप चित्रण भी अपनी पराकाष्ठा पर है। निःसन्देह रस-भावादि की व्यंजना प्रस्तुत के चित्रण पर ही निर्भर है। कुन्तक ने इसीलिए स्वभावोक्ति को अलंकार मानने वालों से फटकार कर पूछा था —

'अलंकारकृतांयेषां स्वाभावोक्तिरलंकृतिः
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ?'

—वक्रोक्तिजीवित

कुन्तक का मतलब स्पष्ट है और कदाचित् युक्तियुक्त भी है कि शक्तिशाली चित्रण, जिसमें स्वभावोक्ति स्वरूपतः गतार्थ हो रहती है, अलंकार्य-भूत व्यंग्यत्रयी की ओर चला जाता है पर क्योंकि स्वभावोक्ति के बिना कैसा भी चित्रण उपपन्न नहीं हो सकता या व्यंग्यपरक चित्रण भी सम्पन्न नहीं हो सकता इसीलिये वे स्वभावोक्ति को विभाव से अपृथक् मानकर व्यंजना के क्षेत्र में ही रखना चाहते हैं। आधुनिक आचार्यों में शुक्ल जी ने कुन्तक की बड़े जोरदार शब्दों में सिफारिश की है और स्वभावोक्ति को अलंकार मानने में अपनी पूरी असहमति प्रकट की है।

खैर स्वभावोक्ति को पृथक् अलंकार माना जाय—इसकी सिफारिश तो अभी नहीं की जा रही पर सभी चित्रण रसोत्पादक होते हैं—इसे कोई मानने को तैयार नहीं है और यदि कुछ भी चित्रण ऐसे होते हैं तो व्यंजना-पद्धति पर आरूढ़ नहीं हो सकते तब उन्हें क्या मानियेगा ? यदि कहते हो कि अन्य अर्थालंकारों के रूप में उन्हें मान लिया जाय तब प्रश्न उठता है

कि किन अर्थालंकारों के रूप में ? जितने भी अलंकार हैं सबकी अपनी-अपनी परिभाषायें हैं। कोई भी अलंकार ऐसा नहीं है जो केवल स्वक्रिया-रूप वर्णन को अपने भीतर एक पृथक् भेद मान ले यानी उसका अन्तर्भाव अपने लक्षण में कर ले। और यदि कहते हो कि कोई स्वतन्त्र ऐसा अलंकार मान लो जिसमें केवल स्वक्रिया-रूप वर्णन रहा करे तब तो एक पृथक् अलंकार स्वीकार करना पड़ ही गया, उसे स्वभावोक्ति न कहकर कुछ और कह लीजिये: नाम-मात्र का अन्तर होगा।

इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि स्वभावोक्ति अलंकार ने अलंकारों से बचा हुआ सारा विषय अपने में समेट लिया है। उक्ति और उक्ति-प्रकारों की कोई इयत्ता और ईदृक्ता नहीं की जा सकती। जिन उक्ति और उक्ति-प्रकारों को हमने कुछ अलंकारों में बाँध रखा है उनकी सत्ता इन अलंकारों में बँधने से पहले भी साहित्य में थी। और कौन जाने कि भविष्य के गर्भ में कितने अलंकारों के नाम छिपे पड़े हैं पर उनका अस्तित्व आज भी हमारी उक्तियों में हो सकता है। इसलिये हमें उदारता-पूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए कि जो कुछ भी व्यंग्य के नाम से और गुण अलंकारादि के नाम से हम समझते हैं उतना ही साहित्य नहीं है वल्कि वह भी साहित्य है जिसे हम आज कम से कम साहित्य में देखते हैं और अभी उसका कोई नामकरण नहीं कर पाये। और यह भी निश्चित है कि सबका नामकरण कभी भी संभव नहीं है क्योंकि समय की गति के साथ सदैव नये-नये साधन साहित्य में आते रहेंगे और उनकी कोई इयत्ता नहीं हो सकेगी। इस कथन का अपवाद उसी हालत में संभव है जब यह मान लिया जाय कि मानव-जीवन में कोई दशा ऐसी आ सकती है जब उसमें नये साधनों के प्रवेश पर

पूरी पाबन्दी लगा दी जायगी और उनकी संख्या निश्चित कर दी जायेगी। पर यह सब होते हुए भी इतना आँख मीचकर कहा जा सकता है और कान खोलकर सुना जा सकता है कि जीवन से संबद्ध साहित्य और साहित्येतर वाङ्मय एक ही दिशा में जीवन के साथ-साथ जा रहे हैं पर ऐसी समानान्तर रेखा के साथ जा रहे हैं कि जब तक जीवन है और जब तक काल की गति के साथ जीवन की प्रगति है, ये दोनों एक नहीं हो सकते। वह रेखा कौन सी है—इसी को बताने के लिए अब तक सारा उपक्रम किया गया है।

पहले सामाजिक की दृष्टि से विचार करते हैं और यह एक प्रयोग की दृष्टि है। किसी प्रकार का अनुभव या अनुभूति क्यों न हो उसका माध्यम तो इन्द्रिय-सहकृत मन ही है। मन की प्रधानतः तीन प्रक्रियाओं का निर्देश पीछे किया जा चुका है। ज्ञानात्मक, भावात्मक और इच्छात्मक। इच्छात्मक प्रक्रिया का कोई प्रसंग ही नहीं है। भावात्मक प्रकिया के बल पर हम अलङ्कार्य-पक्ष को साहित्येतर वाङ्मय से पृथक् कर ही चुके हैं। रसभावादि की व्यंजना तो भावात्मक क्षेत्र से सम्बन्ध रखती ही है, वस्तु-अलङ्कार की व्यञ्जना भी भावों को किस प्रकार चालित करती है—इसे भी देखा जा चुका है। अब तो हमें साहित्य के उस पक्ष को साहित्येतर वाङ्मय से अलग करना है जो साहित्येतर वाङ्मय की भांति मन की ज्ञानात्मक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है। यानी अब हम ज्ञानात्मक प्रक्रिया के भीतर ही कोई ऐसी व्यवच्छेदक वृत्ति निकालना चाहते हैं जो साहित्य के बोध प्रधान अथवा व्यंग्य-अलङ्कार-शून्य वर्णनात्मक पक्ष को विचार-प्रधान अन्य वाङ्मय से व्यवच्छिन्न कर सके।

ज्ञानात्मक प्रक्रिया के भीतर वर्तने वाली कई अवस्थायें हैं। हमारा काम पहली दो से निकल जायगा जिनका संकेत हम पीछे कर चुके हैं—संवेदना और प्रत्यक्षीकरण। इनमें भी संवेदना हमारे एकदम मतलब की चीज है। वास्तव में संवेदना का विशिष्ट प्रकार ही साहित्य को समस्त वाङ्मय से एक झटके में अलग करके रख देता है। शिशुओं के भीतर होने वाली शुद्ध संवेदना की बात कही जा चुकी है जिसका सम्बन्ध केवल रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से है, तत्संबद्ध रूपवान्, रसवान्, गन्धवान्, स्पर्शवान् और शब्दवान् वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से नहीं है। लैम्प के ऊपर दौड़कर आनेवाले कीट-पतङ्गों में भी केवल यही संवेदना रहती है। वे न तो प्रकाश गुण के माध्यम से प्रकाशवान पदार्थ की जानकारी कर सकते हैं और न तो उस गुण की ओर अभिमुख होने वाले अपने अन्तःपक्ष का ही परिचय रख सकते हैं। पर वयस्क पुरुषों में संवेदना से आगे प्रत्यक्षीकरण की अवस्था भी आती है। किन्तु यह समझना भ्रान्ति है कि अन्य अवस्थाओं के उपस्थित होने पर संवेदना समाप्त हो जाती है। नहीं, संवेदना ज्ञानात्मक प्रक्रिया के अन्त तक लिपटी चली जाती है और कभी-कभी तो ज्ञानात्मक प्रक्रिया के बाद भी यह नये सिरे से अर्जित होती रहती है। प्राथमिक दृष्टि में जिन रूपादि गुणों की संवेदना हमें होती है उसका आधार उस रूपवान् आदि पदार्थ का कलेवर-मात्र है जिसे सौन्दर्य-शास्त्र में भोग-तत्व कहते हैं। किन्तु इस संवेदना की व्याख्या होने पर अर्थात् उस रूपवान् पदार्थ का प्रत्यक्षीकरण होने पर भी हमें और कोई संवेदना हो सकती है। जिसकी व्याख्या हमें अन्य अवस्थाओं में अन्य वस्तुओं को समझ कर करनी पड़े। किन्तु उतना आगे बढ़ने की कोई

आवश्यकता नहीं है। प्राथमिक संवेदना को समझ लेने से ही सब कुछ निर्मल हो जायगा।

शब्दार्थ का प्रसङ्ग है अतः शब्द की संवेदना का उदाहरण ही अधिक उपयुक्त होगा। मान लीजिये दरवाजे पर किसी मित्र ने हमें पुकारा। हमारे कानों में वह स्वर टकराया। आगे शब्द को पहचान कर जो उसके सहारे हमें अपने मित्र को जानकारी होगी वह तो दूसरी अवस्था प्रत्यक्षीकरण का रूप है किन्तु इस पहचान और जानकारी से पहले जब तक हमारे सामने केवल शब्द है—वह संवेदना की दशा है। इस समय हमारे मन में उस शब्द की पहचान और उस शब्दवान् की जानकारी के लिये जो मानसिक उथल-पुथल के साथ क्रियोन्मुखता उत्पन्न होगी उसमें हमारी जिज्ञासा-वृत्ति का ही पूर्ण साम्राज्य है जिसमें कुतूहल की अनेक सीमायें व्यापृत हैं। यह एक प्रकार की संवेदना हुई।

किन्तु एक दूसरे प्रकार की शब्द-संवेदना और भी होती है। उसका भी हमें प्रत्यक्ष अनुभव है। मान लीजिये हमारे कानों में कोई सुन्दर स्वर-लहरी आ टकराई। इस समय हम स्वर की पहचान और स्वरवान व्यक्ति की जानकारी से पहले जब संवेदना की अवस्था में होंगे तब इस पहचान और जानकारी के लिये क्रियोन्मुखता में हमारी जिज्ञासा-वृत्ति पूर्णतः शिथिल सी और शब्द के कलेवर-मात्र में हमारी वृत्तियां रमती सी जान पड़ती हैं। यहां आस्वाद-मूलक भोग का आग्रह अधिक और जिज्ञासा-मूलक विचारों की छाया पकड़ने का मोह बहुत कम रहता है। बिल्कुल साफ है कि पहले प्रकार की संवेदना में हमारी मानसिक वृत्तियां किसी वस्तु के गुण-मात्र कलेवर से एकदम विचारों की ओर क्रियावती हो जाती हैं जब कि दूसरे प्रकार की संवेदना में

वे उस गुण-मात्र कलेवर का रुक-रुक कर आस्वाद अधिक करने लगती हैं। पहली में जिज्ञासा-मूलक कौतुक होता है जिसकी शान्ति के लिये हमें द्वितीय अवस्था प्रत्यत्तीकरण की शरण लेनी पड़ती है—दूसरी में स्वयं में, बलात्कारी आकर्षण होता है जो हमें सानन्द प्रत्यक्षीकरण की ओर मात्रा का संकल प्रदान कर देता है। पहली में प्रत्यत्तीकरण होने पर संवेदना से कोई मतलब नहीं रहता पर दूसरी में प्रत्यत्ती-करण के साथ हा संवेदना रमणीय होने के कारण साथ लगी रहती है और उसी के कारण प्रत्यक्षीकरण में मधुरता भी बनी रहती है। पहली संवेदना के बाद होने वाले अर्थ-रूप प्रत्यक्ष का यदि उपदेश से सम्बन्ध हुआ तो वह समझ कर लिया जाता है किन्तु दूसरी संवेदना के साथ होने वाले प्रत्यक्षी-करण में वही उपदेश-रूप अर्थ मधुर जान पड़ता है। पहली संवेदना के साथ होने वाला उपदेश प्रभु-संमित या सुहृत्संमित होता है क्योंकि वह शुद्ध बोधात्मक है। पर दूसरी संवेदना के साथ वही उपदेश कान्ता-संमित होता है क्योंकि उसमें सरसता है। पहली संवेदना के बाद होने वाले प्रत्यत्ती-करण में विचारित-सुस्थता है जो कि समग्त साहित्येतर वाङ्मय का मूल है किन्तु दूसरी संवेदना के साथ होने वाले प्रत्यक्षी-करण में अविचारित-रमणीयता है जो कि साहित्य की बुनियाद है। इस प्रकार शुद्ध शब्दार्थ-बोध की दशा में ही मन की ये दोनों संवेदनायें (जो एक ही बाप की लड़की हैं) साहित्येतर वाङ्मय और साहित्य को लेकर अलग-अलग हो जाती हैं। कहना चाहिए कि सामाजिक की शब्दार्थ-विषयक इस विशेष संवेदना (जो कि सामान्य संवेदना से विसदृश है) के बल पर ही साहित्य अन्य समस्त वाङ्मय से अलग कट जाता है।

कवि और कलाकार शब्दार्थ का ऐसा कलेवर उपस्थित करता है कि श्रोता अथवा पाठक को उसकी संवेदना-मात्र में ही बलात्कारी आकर्षण प्रतीत होता है और उसकी चित्तवृत्ति पिघल कर आगे आने वाली प्रत्यक्ष क्रिया के बोध या उपदेश की मुहर के अमिट अक्षर धारण करने के लिए सहज ही तैयार हो जाती है। संस्कृत की उक्ति है कि कामदेव पहले अपने बसन्त-वैभव की रमणीयता से कामिनियों का हृदय ढीला कर लेता है और फिर उसमें अपने कभी न निकलने वाले बाणों को ठोक देता है। साहित्य भी पहले शब्दार्थ की मधुर संवेदना से विनेयों को उन्मुख कर लेता है और फिर उनके सात्विक स्वच्छ चित्त-पट पर अपनी कभी धुंधली न पड़ने वाली, उपदेश की रंगीन कूंची फेर देता है। शब्द और अर्थ की संवेदना में उसकी कारीगरी शब्दालंकार और अर्थालङ्कार आदि के रूप में, शब्दार्थ-व्यापार की संवेदना में अभिधा-आदि के रूप में और शब्दार्थ के अनेक विधि-विधानों में रीति, संघटना, गुण वृत्ति आदि के रूप में होती है जिन्हें थोड़े से नाम देकर नहीं खपाया जा सकता। रस-भावादि और वस्तु-अलंकार की व्यंजना की बात तो छोड़ ही दीजिये, साहित्य के भीतर शुद्ध वाच्य ही ऐसे हैं जिनकी मधुर संवेदना हमें होती है पर साहित्य के विचित्र्य वक्ता भी उन्हें किसी निश्चित कठ-घरे में बन्द नहीं कर पाते।

यदि कोई यह कहे कि इतिहास-भूगोल आदि साहित्येतर वाङ्मय के शब्दार्थ की संवेदना सामान्य क्यों होती है और साहित्य में यही मधुर क्यों होती है तो इसका उत्तर मन के स्वभाव के अध्ययन से मिल जायगा। मन सदैव किसी वस्तु को गुणों के माध्यम से ही पकड़ता है। गुणों में भी द्रावकता,

विद्रावकता और अनुभयात्मकता (सामान्य) के धर्म रहते हैं। द्रावकधर्मी गुणों से मन साकर्षण चिपट जाता है और उसके साथ ही साथ प्रत्यक्ष की ओर यात्रा करता है। विद्रावक या सामान्य धर्मावलम्बी गुणों को पकड़ कर वह ज्ञान-यात्रा की ओर अलग से लम्बा कर देता है और जिज्ञासा-मूलक आवश्यकता हुई तो प्रत्यक्ष के रूप में ही उनसे मिलता है। फलतः गुणों की प्रभाव-मात्रा का भेद होने के कारण अथवा मन की वेदनीयता-गत पक्षपात-पूर्ण वृत्ति के कारण साहित्य के शब्दार्थ की संवेदना अन्य वाङ्मय के शब्दार्थ की संवेदना से भिन्न हो जाती है। यही साहित्य के अलंकार-पक्ष में शब्दार्थ के भीतर आस्वादनीय प्रभाव की स्थिति है जिसे मन अपने ऊपर साभिराम स्वीकार कर लेता है और साहित्य के किसी भी कल्याणकारी प्रयोजन में अन्तर्हित होने के लिए साभिनिवेश उतर जाता है इसीलिए साहित्य के अलंकार-पक्ष में भी साहित्य के प्रयोजन और प्रभाव का वैसा ही नित्य-सम्बन्ध है जैसा अलंकार्य-पक्ष में दिखाया जा चुका है।

यहां यह पूछा जा सकता है कि साहित्य के शब्दार्थ में वह कौन-सा द्रावक गुण है जिसके कारण उसकी संवेदना मधुर होती है यानि साहित्येतर वाङ्मय के शब्दार्थ की संवेदना की तरह सामान्य नहीं होती ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देने का मतलब है कि अब हम कवि और कलाकार की दृष्टि से भी संवेदना पर विचार करने जा रहे हैं। कवि और कलाकार का अन्य वाङ्मय के लेखकों से यह स्पष्ट अन्तर है कि वह किसी भी बात को मन से साक्षात् करके ही कहता है। मन से साक्षात् करने का मतलब है कि एक तो वह बात अप्रत्यक्ष हो जाती है अर्थात् मूलतः कटु रह कर भी

मधुर हो जाती है दूसरे उस बात की न्यूनताओं की पूर्ति मन से कुछ-न-कुछ अवश्य हो जाती है। जो कवि या कलाकार किसी वस्तु को अपने मानसिक व्यापार से जितना सुंदर और पूर्ण बना कर उपस्थित करेगा उतना ही बड़ा कवि या कलाकार वह होगा। कवि ने जो कुछ भी अपने जीवन में प्रत्यक्ष किया है और जो कुछ भी उसे स्मरण है—उस सबको शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति देने से पहले वह अपने मन से अर्जित करता है। इसे हम अर्जित संवेदना या भावना भी कह सकते हैं। किन्तु जब यही अर्जित संवेदना या भावना शब्दार्थमयी अभिव्क्त में सक्रिय हो उठती है तब कल्पना कहलायी है। तो इस बात का उत्तर हो गया कि साहित्य के शब्दार्थ की प्रारम्भिक संवेदना (यानी विना अच्छी तरह समझे ही मधुर आकर्षण) सामाजिक के लिए क्यों मधुर होती है। कवि की अर्जित संवेदना यानी भावना जिसमें कटु भी मधुर हो जाता है और सर्वांग-सौन्दर्य सर्वांग-पूर्णत्व की कल्पना जो भावना का ही क्रियात्मक रूप है, साहित्य की शब्दार्थमयी सृष्टि में कारण होती हैं। सामाजिक भी जब इस सृष्टि से परिचय करेगा तो उसकी संवेदना भी तदनुरूप ही होगी यानी मधुर ही होगी। अन्तर केवल इतना रहेगा कि कवि की संवेदना, जिसके बल पर वह वस्तुओं को मन से अर्जित करता है और पीछे सर्वांग-सुंदर और पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है, उसकी कारयित्री प्रतिभा की जड़ है और सामाजिक की संवेदना जिसके द्वारा वह समुपात्त भावों को पकड़ कर रमण करता है और जरूरत पड़ने पर कुछ चीजों की कल्पना भी कर लेता है, उसकी भावयित्री प्रतिभा की वृत्ति है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि या कलाकार की कारयित्री प्रतिभा के साथ गौण रूप से भावयित्री प्रतिभा भी रहती है क्योंकि वह अपने

जीवन के सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्मृत पदार्थों की संवेदना-पुरस्सर भावना करके ही तो कल्पना पर चढ़ाता है। दूसरी ओर सामाजिक की भावयित्री प्रतिभा के साथ उसकी कारयित्री प्रतिभा भी गौण रूप से माननी ही पड़ती है। क्योंकि कवि की कल्पना में जो कुछ उपस्थित है उसकी भावना तो वह प्रधानतया करता ही है साथ ही आवश्यकतानुसार भावों के बीच की छूटों को भी वह अपनी कल्पना से भरता चलता है। कवि या कलाकार में कारयित्री प्रतिभा प्रधान होती है और सामाजिक में भावयित्री।

साहित्य को छोड़कर अन्य समस्त वाङ्-मय मन के इस पक्षपात से सर्वथा मुक्त हैं। वहां संवेदना का मतलब वस्तु-बोध के लिए, वस्तु-बोध से पहले होने वाली उत्तेजना-मात्र से है। आगे शुद्ध-बुद्धि के क्षेत्र में विचारों की संगति की ही आग्रह वहाँ रहता है। बौद्धिक प्रमाण और तर्क की ही वहाँ सोलह आने चलती है। भावना को वहाँ कोई नहीं पूछता और कल्पना को धक्का देकर निकाल दिया जाता है। भावना में संक्रमित होने वाली और कल्पना में साकार होने वाली संवेदना को साहित्येतर वाङ्-मय में संक्रामक रोग समझा जाता है। और यह उस वाङ्-मय के स्वरूप के अनुगुण ही है अनु-गुण नहीं।

पर साहित्य में संवेदना का एक-क्षत्र राज्य है। इसकी सवारी के बिना साहित्य-महापुरुष एक पैर भी नहीं चलते। ज्ञानात्मक प्रक्रिया का श्रीगणेश इसी से होता है—यह कहा जा चुका है। भावात्मक प्रक्रिया में यही अपने पुनरुपात्त रूप में आती है—इसे भी देखा जा चुका है। भावात्मक प्रक्रिया के समाप्त हो जाने पर भी यह टहलती रह जाती है। इसका व्या-

हारिक सबूत यह है कि भावों से छुट्टी पाकर भी हम उनकी चर्वणा का बहुत-कुछ अनुभव जिसके बल पर प्रस्तुत कर देते हैं वह अनुभूति की अन्तरात्मा संवेदना के अतिरिक्त और क्या है ? यही नहीं मन को इच्छात्मक प्रक्रिया में भी इसका अव्याहत प्रवेश है। भाव के एक बार विलीन हो जाने पर यदि इच्छात्मक प्रक्रिया से हम उसे लौटाना चाहें तो नहीं लौटा सकते पर संवेदना लौटायी जा सकती है जो फिर से भावों की सृष्टि भी कर सकती है।

अर्थ—साक्षात्कार से पहले ही साहित्य में शब्द-मात्र की जो मधुर संवेदना कही गई है वह अन्य वाङ्मय की सामान्य सवेदना से भिन्न होने के कारण प्रारम्भ से ही साहित्य को साहित्येतर वाङ्मय से अलग कर लेती है किन्तु संगीत कला में भी तो शब्द-मात्र की संवेदना मधुर होती है फलतः साहित्य और संगीत कला को किस प्रकार अलग कीजियेगा यह जिज्ञासा बहुत ही स्वाभाविक है। किन्तु इसमें अड़चन की कोई बात नहीं है। साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों को एकता को कारणता है जब कि संगीत केवल शब्द पर ही खड़ा रह सकता है। संगीत में यह ध्वन्यात्मक संवेदना अर्थ-निरपेक्ष शब्दों में भी स्वरूपतः अवसित हो सकती है जब कि साहित्य में यह अर्थ-सापेक्ष होकर ही स्वरूपतःपूर्ण होगी। कितना मोटा अन्तर है ?

यदि इस अर्थ-सापेक्षता पर थोड़ा और भी विचार किया जाय तो पता लगेगा कि यह ध्वन्यात्मक संवेदना साहित्य में उसी समय तक संवेदना है जब तक यह अर्थ-सापेक्ष क्या, अर्थानुकूल भी हो शब्दों की मसृण ध्वनि रौद्र-रूप अर्थ में साहित्य की संवेदना के विरुद्ध उसका उलटा दोष होगा जब कि संगीत में अर्थ-निरपेक्ष भी होने से अर्थ के वे ही इसकी वास्तविक

सत्ता सिद्ध हो जाती है। यही बात यदि और भी कसकर पकड़ी जाय तो इसका कारण भी व्यक्त हो जायगा। अभी कहा गया था कि मन के अमूर्त व्यापार से अर्जित संवेदना के सहारे कवि या कलाकार शब्दार्थ की सृष्टि करता है। अतः वह शब्द और अर्थ की सृष्टि परस्पर पूर्णतः सापेक्ष तो होगी ही उस संवेदना के किसी प्रकार विरुद्ध भी नहीं हो सकती। यदि कहीं विरुद्ध हो जाती है तो निश्चय ही वहाँ उस कवि या कलाकार ने अपने भीतर बैठे हुए अपने उस चिन्मय-रूप कवि या कलाकार की बात नहीं सुनी जिसके कारण वह कवि या कलाकार बना हुआ है। जब एक विरही कवि को अपनी रात्रि की लम्बी बेचैनी की और रात्रि से पहले उसकी सूचना देकर हृदय मसोसने वाली दीर्घ-सूत्री संध्या की अस्पष्ट चेतना है तब उसके मुँह से यह पंक्ति इसी प्रकार निकलेगी –

दिन जल्दी जल्दी ढलता है,

इस प्रकार नहीं कि:—

दिन ढलता है जल्दी-जल्दी

क्यों ? स्वर तो दोनों में वे ही हैं, ध्वनि भी उभयत्र आगे पीछे वे ही हैं, मात्रायें भी उतनी ही हैं, छन्द भी दोनों का एक ही है, अक्षर भी वे ही हैं और उतने ही हैं। कि बहुना, गद्य से पद्य को अलग करने वाली लय (रिथम) भी है ही। फिर क्या बात है कि संगीत की दृष्टि से तो दोनों पंक्तियों में संवेदना है पर साहित्य की दृष्टि से दूसरी पंक्ति संवेदना के विरुद्ध है ?

उत्तर यही है कि साहित्य की अर्थ-सापेक्ष संवेदना द्वितीय पंक्ति में स्वरूपतः अनुपपन्न है और पहली में उपपन्न। विरही के सामने दिन की गति तो अपेक्षाकृत बहुत शीघ्र होती है किन्तु मुश्किल से कटने वाली लम्बी रात्रि की सूचिका

सन्ध्या उसके आगे मटक-मटक कर चलती हुई जान पड़ती है। यही बात कवि ने शब्दों के विन्यास से भी स्पष्ट कर दी है और शब्दों की ध्वनि से भी। दिन पहले, और रात्रि की ओर बढ़ने वाली उसकी संध्या, बाद में आती है अतः दिन शब्द पहले और ढलता शब्द का विन्यास बाद में हुआ है। शीघ्रता-वाची शब्द जल्दी का दिन की अतिशीघ्रता का द्योतक दुहरा प्रयोग है और संयुक्त व्यंजन ध्वनि के द्वारा उसकी (दिन की) झटका मार कर आगे बढ़ने वाली कर्कश चाल का संकेत है। पर ढलता शब्द के पढ़ने से मालूम होता है कि कोई अज्ञात वेदना कवि के हृदय में धीरे धीरे सरक रही है। 'ढ' और 'ल' की लगातार ह्रस्व ध्वनि उक्त अर्थ में सहायक है और अन्त में 'ता है' की गहरी ध्वनि में यह उसी प्रकार शान्ति से उतर जाती है जिस प्रकार कवि से उसका अज्ञात वेदना रात्रि की गहरी छाया में तसल्ली से आ मिली है।

ऊपर के उदाहरण से यह भी साफ हो गया कि साहित्य के शब्दों की संवेदना ध्वन्यात्मक ही नहीं वर्णात्मक भी होती है और इसीलिये यह कहना आवश्यक नहीं रहा कि साहित्य के पद्यात्मक भागों में ही शब्दों की संवेदना नहीं होगी गद्यात्मक रूपों में भी वह अनिवार्यतः होती ही है। क्योंकि साहित्य-मात्र की सृष्टि में पूर्वोक्त अर्जित संवेदना ही निदान-कारण है जो शब्दों एवं अक्षरों का विन्यास ही अपने अस्पष्ट किन्तु निश्चित प्रवाह के अनुकूल ही करती है, साहित्य की एकान्त बौद्धिकतापूर्ण समस्या-प्रधान कृतियाँ भी जिस कारण साहित्यिक हैं और उनमें जीवन की कोई भी समस्या चाहे वह सामयिक हो चाहे चिरंतन, व्यष्टिगत हो या समष्टिगत, तुल्यबल विरोधी तार्किक समर्थनों के द्वारा ऐसे निनिगमना-विरह के साथ उपस्थित की जाती है कि

औचित्यानौचित्य की एक-कोटिक प्रामाणिकता दब जाती है और लचीले और सजीले प्रमाणों के भंवर-जाल में हमारी बुद्धि थकित और चकित रहकर भी निर्विण्ण होना नहीं जानती बल्कि स्तम्भित होकर हृदय का रमण कराती है उसका कारण यह अर्जित संवेदना ही है जो कल्पना के हाथों संशय, विपर्यय, तर्क और यथार्थ की चोटी पकड़े रहती है। अन्यथा यह सारा धन्धा न्याय-शास्त्र बनकर रह जाय।

५

इस परिच्छेद के भीतर एक बात और कहनी-सुननी है। साहित्य को अन्य वाङ्मयों से व्यवच्छिन्न करने वाली हमारे पूर्वजों की इस मान्यता की क्या संगति है कि प्रभु-संमित वेदादि ग्रंथ शब्द-प्रधान, सुहृत्संमित इतिहासादि ग्रंथ अर्थ-प्रधान और कान्ता-संमित साहित्य-ग्रंथ शब्दार्थोभय-प्रधान होते हैं। वस्तुतः यह मान्यता व्यावहारिक ही नहीं वैज्ञानिक भी है। व्यावहारिक इसलिये कि इसके विरुद्ध आज तक किसी को कोई शिकायत नहीं हुई। और वैज्ञानिक इसलिए कि प्रयोग और विश्लेषण की कसौटी पर यह एक साथ खरी उतरती है।

किस प्रकार ?

इस अनुयोग पर विचार करने से पहले चतुर्थ प्रकरण की कुछ बातों का स्मरण कर लेना चाहिये। दो चीज हमारे सामने बहुत साफ हो चुकी है। पहली यह कि साहित्य को सम्पूर्ण वाङ्मय से अलग करने वाला बुनियादी तत्व अर्जित संवेदना है। दूसरी यह कि यह संवेदना एक ओर मन से अर्जित किये जाने के कारण किसी प्रत्यक्ष वस्तु को जब शब्दार्थ के माध्यम से प्रस्तुत करती है तो वह वस्तु नितान्त वाच्य या विवरणात्मक होकर भी पाठक के सामने चित्र के रूप में आती है और चित्र में यदि मन का स्वारस्य हो तो वह किसी भी रूप में ललित कला है। कितनी ही एकान्त बौद्धिकता-पूर्ण कृति क्यों न हो, यदि वह साहित्यिक है अर्थात अर्जित संवेदना के बलपर उपस्थित की गई है तो उसमें बौद्धिक कुतूहल और तार्किक ग्रन्थियां रहते हुए भी

उसकी चित्रोपमता चेतश्चमत्कार का विधान किसी न किसी हद तक अनिवार्यत: करेगी। दूसरी ओर यही संवेदना मन के द्वारा अर्जित होने के कारण अर्थ-सापेक्ष भी होगी क्योंकि जो नितान्त विवरणात्मक वस्तु भी इस संवेदना के द्वारा चित्रवत् उपस्थित होगी वह अपने अर्थ के अनुकूल ही शब्द-विधान लेकर आई हुई होती है। फलतः शब्दों की अक्षरों और उनकी ध्वनियाँ की, संवेदना मधुर ही होगी। इस प्रकार कवि या कलाकार की अर्जित संवेदना के कारण पाठक के लिये भी साहित्य के शब्द और अर्थ दोनों की संवेदनायें स्वभावतः रमणीय तो रहती ही हैं, एक दूसरी के अनुकूल होने से परस्पर सापेक्ष भी होती हैं। ये रमणीय होती हैं अतः साहित्य कान्ता-संमित है और ये सापेक्ष होती हैं अतः साहित्य शब्दार्थोभय-प्रधान है। इससे यह भी समझ में आ जाता है कि साहित्य का 'सह तयोः (शब्दार्थयोः) भावः'-यह निर्वचन और 'शब्दार्थो काव्यम्' यह लक्षण क्यों किया जाता है।

यद्यपि अन्य वाङ्मय के लिये भी यह कथन समान उतरता है कि 'शब्दार्थयो नित्य-सम्बन्धः' और इसीलिए वहां भी शब्द और अर्थ-दोनों का ही महत्त्व है। यह भी ठीक है कि वहां भी शब्दों के बिना अर्थ की और अर्थचित्र (जो संकेत-ग्रह से ही सम्बद्ध होने के कारण भले ही रमणीय न हो) के बिना शब्द की उपस्थिति असम्भव है। किन्तु फिर भी साहित्य और साहित्येतर वाङ्मय में शब्द और अर्थ दोनों को महत्त्व देने वाली दो भिन्न दृष्टियां हैं और उनमें जमीन-आसमान का अन्तर है। साहित्य में हम देख चुके हैं कि शब्द और अर्थ दोनों की संवेदना सापेक्ष मधुर है फलतः यहां शब्द और अर्थ का महत्त्व चमत्कारी प्रभाव के कारण है। व्यंजना के क्षेत्र में पहुँच कर भी

यदि शब्द की व्यंजकता होती है तो अर्थान्तर के आश्रय से ही होती है अतः अर्थ भी वहाँ सहकारी है, उसी प्रकार जहां अर्थ की व्यंजकता होती है वहां वह शब्द-बोध्य होने के कारण शब्द की सहकारिताप्राप्त किये रहता है। यह प्राचीन आचार्यों की स्थापना है :—

शब्द बोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यंजकत्वे तदन्यस्य सहकारिता।'

—काव्य प्रकाश

स्पष्ट है कि व्यंजना के क्षेत्र में भी यदि शब्द और अर्थ के बीच किसी एक की व्यंजकता है तो दूसरा चमत्कार की दृष्टि से भी सहायक है केवल परस्पर सापेक्ष सत्ता की दृष्टि से ही नहीं जैसा कि अन्य वाङ्मयों में होता है। फिर क्योंकि साहित्य के भीतर ही चमत्कार की दृष्टि से कहीं शब्द प्रधान है तो कहीं अर्थ इसलिये साहित्य दोनों को ही प्रधान मान लेता है। गौण नहीं, क्योंकि न्याय है—प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति। फिर कहीं-कहीं तो दोनों एक साथ व्यंजक रहने पर चमत्कार की दृष्टि से भी दोनों एक ही जगह और एक ही साथ प्रधान होते हैं। शब्दार्थ शक्त्युत्थ ध्वनि इसका उदाहरण है :—

"लोचन जल कागज मसि मिलिकै ह्वैगई स्याम स्याम की पाती"

यहाँ प्रत्येक पद से विप्रलम्भ शृंगार की व्यंजना है; पर दूसरे 'स्याम' शब्द की इतर-व्यंजना का भी उसमें पूर्ण सहयोग है। पत्रिका काली ही नहीं हुई बल्कि स्वयं स्याम (श्रीकृष्ण) भी हो गई और उसे छाती से लगाकर राधा को तकरीबन-तकरीबन उतना ही सुख मिला जितना स्वयं श्रीकृष्णजी के मिलने पर मिलता। 'स्याम' शब्द को बदल देने से यह व्यंजना नहीं रहेगी अतः यहाँ शब्द भी व्यंजक है।

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखने पर साहित्य शब्दार्थों-भय-प्रधान ही सिद्ध होता है।

इसे और भी स्पष्ट करने की इच्छा होती है कि साहित्य में शब्द के लिए कहीं अर्थ के गुणीभाव या अर्थ के लिए शब्द के गुणी-भाव का मतलब यह नहीं है कि गौण, प्रधान के तेज से निस्तेज होकर एक ओर बैठ जाय बल्कि यह अर्थ है कि प्रधान की तेजो-वृद्धि में गौण अपने को समर्पित कर दे और केवल एक की ही प्रधा-नतया प्रतीति हो। गौण का एक स्वरूप वह होता है जब वह अपने से अतिशायी के सामने हत-प्रभ होकर उदासीन भाव से अलग ढाई चावल पकाने लगता है। दूसरा स्वरूप वह है जब वह अपने से अधिक चमकने वाले को अपना सहयोग प्रदान करता है और उसमें तदाकार होकर एकशेष की स्थिति ला देता है। साहित्य के शब्दार्थ की गौणता इसी दूसरे रूप में है जो एक-शेष की दशा में पहुँच जाता है। महाकवि कालिदास ने 'रघु-वंश' के मंगलाचरण में 'वागर्थौ' से द्वन्द्व समास के एक शेष 'पितरौ' की उपमा देकर साहित्य की इसी व्यापक सीमा का सुडौल संकेत किया है।

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।

—रघुवंश १

मालूम पड़ता है कि कवि-सम्राट् जान बूझ कर ही साहित्य की इस विराट सीमा का उद्घाटन कर रहा है। इसका सबूत भी इसी पद्य में मौजूद है। वह शिव-पार्वती की बन्दना कर रहा है जो वागर्थ (साहित्य) के सामान हैं—अर्थात् जिनका उपमान वागर्थ ही हो सकता है। उपमान उपमेय से कुछ बड़ा ही होना

चाहिये। पार्वती—परमेश्वर की यानी सोपाधिक ब्रह्म की कल्पना फिर भी परिच्छिन्न ही होगी जब कि वागर्थ उसके विराट स्वरूप संसार का व्यापक बोध है। इसलिये इस बात की संगति भी है कि 'वागर्थ—प्रतिपत्ति' के लिये ही वह 'पार्वती-परमेश्वर' की वन्दना क्यों कर रहा है।

यह तो साहित्य के भीतर शब्दार्थोभय प्रधानता की बात रही। कान्तासंमितता के ऊपर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि साहित्य की संवेदना की बात पीछे कही ही जा चुकी है जिसके कारण शब्द और अर्थ दोनों सुन्दर होते हैं। शब्दार्थ के इसी सौन्दर्य के कारण साहित्य कान्ता—संमित पहले और शब्दार्थोभयप्रधान बाद में होता है। सक्षेप में कहना चाहिये कि साहित्य की सीमायें जो शब्दार्थोभयप्रधानता और कान्ता—संमितता के नाम से हमारे पूर्वजों ने निर्धारित की थीं उनके मूल में अर्जित संवेदना का व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक रूप पीछे सिद्ध किया जा चुका है।

पर संवेदना और अर्जित संवेदना की पूरी व्याख्या कर दी गई है-ऐसी डींग हम नहीं मार सकते। मनोविज्ञान भी कभी इस कोटि तक पहुँच सकता है—इसमें बहुत-बहुत संदेह है। ससार में असंख्य बातें ऐसी हैं जिनका हमें प्रत्यक्ष अनुभव है पर वे ऐसी क्यों हैं—इसका उत्तर हमारे पास नहीं है। संवेदना की अनेक दशायें ऐसी हैं जिनकी सत्ता की व्याख्या हम नहीं कर सकते। महाकवि कालिदास ने यह बात भली भांति समझी थी तभी उसने अनेक अज्ञात संवेदनाओं की सत्ता का सम्बन्ध जन्म जन्मान्तर से लगाकर छुट्टी पाई थी।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्

पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोपि जन्तुः।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि ॥

—अभिज्ञान शाकुन्तल

अपबीती के स्मरण और कथन में प्रायः सबको आनन्द आता है। और यह भी संवेदना ही है। हमारे जीवन की दुःखद घटनायें भी कालान्तर में मधुर हो जाती हैं—इसका अनुभव किसको नहीं है? यह कहना तो कठिन है कि दुःखद घटना हमारे जीवन में कब तक कटु रहती है और किस सीमा से आगे वह मधुर पीड़ा के रूप में बदलने लगती है। सामान्यतया हम इस विषय में जो कुछ जानते हैं वह इतना ही है कि जब तक कोई दुःखद घटना हम पर जबर्दस्ती छाई रहती है तब तक वह कटु है पर जब हम उसे स्वयं स्मरण करना चाहते हैं या किसी माध्यम से स्मरण करना चाहते हैं तब निश्चय ही हमारे मन का स्वारस्य होता है और इसी लिए वह मधुर पीड़ा में पर्यवसित होनी चाहिए। सुख के दिन भी हमें बुरे दिनों में स्मृति पथ पर मधुर-पीड़ा देने वाले होते हैं। संवेदना के ये दोनों प्रकार, शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति पाकर रस-भाव के क्षेत्र में पहुंच जाते हैं। प्रसाद का 'आँसू' पहले प्रकार की अभिव्यक्ति का सुन्दर उदाहरण है। उसका पहला पद्य ही श्लिष्ट अभिधावृत्ति से इसे प्रमाणित करता है—

जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आंसू बनकर वह आज बरसने आई ॥

—आंसू

दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति इस पद्य में देखिये—

शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता ।
तदा तदास्या भ-नेषु सौख्यलक्ष्माणि दध्यौ गलदश्रु रामः ॥
—राघवानन्द महापात्र ।

[शिरीष के समान कोमलांगी सीताजी पर्वतों पर जब-जब अनेक कष्ट सहती थीं तब-तब श्री रामचन्द्र जी उनके (सीता जी के) महलों के अनन्त सुखों का ध्यान करके अश्रु बहाते थे]

सुखात्मक और दुःखात्मक बातों के अतिरिक्त कुछ बातें अनुभयात्मक भी होती हैं और वहाँ भी स्मृति और प्रत्यभिज्ञा काम करती हैं। स्मृति में शुद्ध संस्कार ही कारण होते हैं प्रत्यभिज्ञा में कोई और भी मध्यस्थ होता है। शुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में हमारी स्मृति और प्रत्यभिज्ञा भी राई-रत्ति घटाना-बढ़ाना पसन्द नहीं कर सकती। किन्तु जब किसी बात को सुन्दर देखने का स्वारस्य हमारे मन में होता है तब ये स्मृत और प्रत्यभिज्ञा हमारी अर्जित-संवेदना की अंग बन जाती हैं। शुक्ल जी ने अपनी 'रस-मीमांसा' में प्रत्यक्ष रूप-विधान, रूप-विधान और कल्पित-रूप-विधान के प्रसंग में इस बात को बड़े विस्तार से समझाया है कि स्मृति और प्रत्यभिज्ञा साहित्य के क्षेत्र में कल्पना की किस प्रकार सहयोगी बनकर आती है। पीछे हम भी साहित्य और न्यायशास्त्र की स्मृत तथा प्रत्यभिज्ञा का विवेचन कर चुके हैं।

संवेदना की भांति अर्जित-संवेदना भी थोड़ी-बहुत प्रत्येक व्यक्ति में रहती है क्योंकि इसका सम्बन्ध चयनात्मक मन से है जो मनुष्य के सामान्य स्वरूप में कारण है। परंतु एक विज्ञान-शास्त्री इसे बुरी तरह दबोचे रहता है और इसे क्रियात्मक रूप नहीं दे सकता। इसी लिये संवेदना का पुनरुपात्त रूप अर्जित-

संवेदना (भावना) और क्रियात्मक रूप कल्पना को संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं में अप्रामाणिक करार दे दिया जाता है। फिर भी यह कहना कठिन है कि बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक या यथार्थवादी के जीवन में यह कभी कभी उसके सूखे ज्ञान के अम्बार को ढकेल कर नहीं चमक जाती। प्राकृतिक दृश्यों में या कम से कम आमोद-प्रमोद के अवसरों पर यह अच्छे से अच्छे यथार्थ-वेत्ताओं को पछाड़ देती है और ऊंचे से ऊंचे तत्ववेत्ताओं की छाती पर चढ़ बैठती है। सबसे बड़ा अस्वाभाविक नियन्त्रण जो इस पर किया जा सकता है वह यही है कि कोई साक्षर व्यक्ति वाङ्मय के क्षेत्र में इसे लिखित रूप न दे। इस प्रकार मनुष्यमात्र में व्याप्त रहते हुए भी अर्जित-संवेदना की यह, वह कोटि रही जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पैर नहीं रख सकती।

अर्जित-संवेदना की द्वितीय कोटि वह है जब कोई निरक्षर व्यक्ति किसी असामर्थ्य के कारण इसे लिखित रूप नहीं दे सकता और इस प्रकार यह वाङ्मय के क्षेत्र से दूर ही पड़ी रहती है। साधन-सामर्थ्य होने पर निरक्षर भी साहित्यकार हो सकते हैं और इसका उदाहरण कबीर हैं। पर तीसरी कोटि है जब कोई साक्षर व्यक्ति इसे लिखित अभिव्यक्ति देना चाहता है। बस, विशेष कर इसी तीसरी कोटि में साहित्य का संसार बसा हुआ है।

यह सोचना भी निरपवाद नहीं है कि उपर्युक्त तृतीय कोटि में पड़कर प्रत्येक व्यक्ति साहित्यकार हो जाय। पहले तो यही बात है कि अर्जित संवेदना वैयक्तिक संस्कारों पर निर्भर करती है जो प्रत्यक्ष अनुभूतियों की तीव्रता और उनके प्रभाव-ग्रहण की वैयक्तिक क्षमता के कारण प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न-भिन्न मात्रा में तथा कमती-बढ़ती प्रेरणा-शक्ति के रूप में मिलते हैं। फिर किसी वस्तु की सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण विधित्सा भी प्रयत्न की वैयक्तिक

क्षमता पर आधारित है। अर्थात् कल्पना भी प्रत्येक व्यक्ति की प्रौढ़ और अभिव्यक्ति के पूर्णतः अनुकूल होनी असम्भव है जैसी कि एक सच्चे साहित्यकार में होनी चाहिये। कल्पना की प्रौढ़ता का मतलब है कि किसी वस्तु के सर्वांग-सौंदर्य और पूर्णत्व के लिये उच्चतम सूझ। और अनुकूलता का तात्पर्य दो बातों से है। पहली बात तो है कि कल्पना भूत, भविष्यत, वर्तमान में से चाहे किसी भी काल की हो या किसी भी देश की हो, ऐच्छिक हो या प्रायोगिक, मौलिक हो या ध्येयात्मक, किसी न किसी सम्बन्ध से ही वह संस्कार-सहकृत वैयक्तिक संवेदना से सीमित रहती है। मूल-सम्बन्ध और सादृश्य-सम्बन्ध आदि की तो बात ही क्या, विपरीत-सम्बन्ध और विधि-निषेधात्मक-सम्बन्ध से की गई कल्पना भी साहित्य में अनुकूल ही होती है। साहित्य-शास्त्र में इनके उदाहरण बहुत ख्यात-विख्यात हैं। फिर भी दिशा-मात्र के लिए कुछ नमूने दिये जाते हैं—

मूल-सम्न्ध से :—

'उपदिशति कामिनींनां यौवन-मद एव ललितानि'

—रविगुप्त (सुाभषित)

यौवन-मद असंख्य विभ्रम (निजाकत) पैदा कर देता है—यह मूल बात है जिसके आधार पर यौवन-मद को अनेक विभ्रमों के उपदेशक के रूप में कल्पित किया है।

सादृश्य-सम्बन्ध से : —

'यह निर्झर मेरे ही समान किस व्याकुल की है अश्रुधार'

—डा० रामकुमार वर्मा

यहाँ कवि ने सादृश्य के आधार पर बड़ी प्रौढ़ कल्पना की है। व्याकुल के अश्रु अविच्छिन्न से धारावत् फूटते हैं और वेग के

साथ गिरते हैं। निर्भर भी स्वतः फूटकर सततगति से चलता है और वेग के साथ गिरता है। भाव-विह्वल की अश्रुधार अज्ञात (अव्याख्येय) भावों की चऊँआई से गिर रही है। निर्भर भी किसी पर्वत के अज्ञात गर्भ से निकल कर उच्च स्थान से गिरता है। रहस्यवादी कवि का अश्रु अपने मूल में कितना रहस्यात्मक है पर वह इस भूतल के नग्न और कठोर सत्य से टक्कर खा-खाकर बढ़ता है। झरना भी पाषाणों से टकराता हुआ इस धरती पर उतरता है। इससे भी आगे जब अश्रु और झरना को सामान्य धर्म के रूप में उपस्थापना हो जाती है तब कवि के साथ 'किसी' शब्द से व्यंजित किसी कूटस्थ की समानता वाच्य होकर जीव और ब्रह्म के उस सम्बन्ध की कल्पना कराती है जिसकी अनेक कोटियाँ हमारे रहस्यवादी साहित्य में स्वीकृत हैं।

विपरीत सम्बन्ध से :

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्
विदधदीदृशमेव सदा सखे ! सुखितमास्स्व ततः शरदांशतम्।

—काव्यप्रकाश।

यहाँ किसी दुष्ट अपकारी के प्रति उपर्युक्त पंक्तियाँ कही गई हैं जो ठीक उलटा ही मतलब रखती हैं। अभिधा वृत्ति से तो यहाँ यही कहा गया है कि आपके उपकार के बारे में क्या कहा जाय, आपने तो सज्जनता की पराकाष्ठा कर दिखाई, ईश्वर करे इसी प्रकार कार्य करते हुए आप सौ वर्ष जियें; पर लक्षणा के बल पर अर्थ निकलता है कि आपने बड़ा भारी अपकार किया है, आप दुष्ट शिरोमणि हैं, भगवान करे ऐसे दुष्कर्म करते हुए आप क्षण भर भी जीवित न रहें।

विधिनिषेध-सम्बन्ध से :

भम धार्मिक विश्वस्तः स श्वाद्य मारितस्तेन ।
गोदावरी कच्छ कुंजवासिना दृप्तसिंहेन ॥
—गाथासप्तशती ।

यहाँ एकान्त क्रीड़ा में सायंकाल को नित्य विघ्न करने वाले किसी साधु के प्रति किसी पुंश्चली की उक्ति है। उसका कहना है कि साधु जी हमारा पालतू कुत्ता जो प्रतिदिन आपको तङ्ग किया करता था वह गोदावरी-कच्छ में रहने वाले किसी सिंह ने मार दिया है अतः आप कुत्ते से न डर कर विश्वस्त और निर्विघ्न घूमियेगा। पर इसका निषेध-रूप अर्थ है कि अब तुम इधर आये तो शेर खा जायगा अतः मत आना।

निषेध-विधि-सम्बन्ध से :

निःशेष-च्युत-चन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तत्वी तवेयं तनुः
मिथ्या वादिनि दूदति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।
अमरु शतक

यहां नायिका ने दूती से कहा है कि तू वापी में स्नान करने चली गई उस अधम (नायक) के पास (बुलाने के लिये) नहीं गई। पर 'अधम' आदि शब्दों के प्रयोग से यह व्यंजना है कि तू उसी के पास रमण करने गई थी। सम्भोग और वापी-स्नान के समान लक्षण यहां वर्णित हैं।

कल्पना की अनुकूलता का तात्पर्य जिस दूसरी बात से है वह 'अपृथग्यत्ननिर्वतन' है। ध्वनिकार ने अलंकारों को 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' इसी अभिप्राय से कहा था। कितनी ही प्रौढ़ कल्पना क्यों न हो, जब वह पृथक यत्न (संवेदना से बाहर) में अपनी

शक्ति खपाने लगती है तब कला में कृत्रिमता का सृजन अधिक होने लगता है। केशवदास जी इसके बेजोड़ उदाहरण हैं। उन्होंने अपनी प्रौढ़ किन्तु संवेदना-भ्रष्ट कल्पना से कहीं बन्दर को गणेश जी तो कहीं गणेश जी को बन्दर बना डाला है। और यह सब उन्होंने किया है जानबूझ कर ही, क्योंकि उन्हें अपनी कल्पना का कौशल दिखाना था जो कि हिन्दी की रीतिकालीन कविताओं का प्रायः मेरु-दण्ड ही है।

इन्हीं उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण किसी युग में कोई दो-एक ही सच्चे साहित्यकार उत्पन्न हुआ करते हैं। सफल साहित्य कार भी एक युग में दस बीस से अधिक होने कठिन हैं। सामान्य साहित्यकारों की संख्या करना तो असम्भव है जो एक दिन में सैकड़ों पैदा होते हें और एक घण्टे में पचासों बनते हैं। पर क्या किया जाय, ये महाकाल ऐसे निर्दयी हैं कि उनके रथ में हर एक को बैठने के लिये जगह नहीं मिलती। बहुत ही कम कलाकार उनके रथ में बैठकर युग-युगान्तरों की यात्रा कर पाते हैं, नहीं तो उनके रथ-चक्र से कुट-पिस कर सब मिट्टी हो जाते हैं। किन्तु छोटे से छोटे साहित्यकारों का महत्व भी इस बात से है ही कि वे कुट-पिसकर साहित्य-क्षेत्र की खाद बनते रहते हैं और उसे उर्वरता प्रदान करते हैं नहीं तो किसी भी युग-कलाकार का उपजना ही असम्भव हो जाय। मौसमी लेखक जिन अनेक बातोंसे वातावरण की स्थापना करते रहते हैं सच्चा कलाकार उन्हीं सब बातों का अखण्ड उपयोग करता हुआ प्रयोग करता है अर्थात् उसी वातावरण में पनप कर प्रौढ़ होता है। पेड़ के पत्तों की महत्ता अपने जीवन-काल में छाया-दान करने से ही नहीं है— जमीन में मिलकर भविष्यत् बीजों को खाद देने से भी है।

साहित्य की शब्दार्थोभयप्रधानता और कान्ता-संमितता

की यह संक्षेप में व्याख्या हो गई इससे अधिक इस विषय पर कुछ कहना अनपेक्षित नहीं तो अनावश्यक है। अब साहित्येतर वाङ्मय की उन दोनों रेखाओं पर भी कुछ विचार कर लिया जाय जिन्हें हमारे पूर्वाचार्यों ने प्रभु-संमित और सुहृत्-संमित कहकर दोनों को क्रमशः शब्द-प्रधान और अर्थ-प्रधान कहा है।

साहित्येतर वाङ्मय के बारे में यह अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है कि साहित्य की भांति वहां अर्जित-संवेदना के बल पर शब्द-विधान नहीं किया जाता। यह अन्य वाङ्मयों का गुण ही है कुछ विगुण नहीं। इसके अलावा साहित्य-प्रकारी कथन वहां अप्रमाणिक तो है ही उसके स्वरूप का घातक भी है। वहां तथ्यात्मक सफाई जितनी होगी उतना ही उसका स्वरूप प्रभावशाली होगा और उसका फल होगा बौद्धिक प्रसाद। अतः साहित्य के शब्दार्थ वाले चमत्कारी प्रभाव से वह प्रभाव बहुत विसदृश है जो अन्य वाङ्मम में पाया जाता है। दोनों प्रकार के प्रभावों के फल भी इसलिये भिन्न हैं। साहित्य के प्रभाव का सम्बन्ध चेतश्चमत्कृतिविधायी आस्वाद से है—अन्य वाङ्मय के प्रमाव का संबंध बुद्धि-चमत्कारी बोध से है। साहित्य का फल मानसिक आह्लाद (मनोरंजन) से लेकर हृदय-मुक्ति तक है। और अन्य वाङ्मय का फल बौद्धिक प्रसाद से लेकर आध्यात्मिक मुक्ति तक है। साहित्य में निबन्धों से लेकर महाकाव्यों तक इसकी अनेक श्रेणियां हैं। अन्य वाङ्मय की शाखायें भी इसी श्रेणि-विभाग के आधार पर खड़ी की गई हैं। गणित के विद्यार्थी को एक सवाल निकाल लेने पर जो प्रसन्नता होती है वह शास्त्रीय दृष्टि से बौद्धिक है। खोज और आविष्कार कर लेने वाले किसी वैज्ञानिक की प्रसन्नता कुछ और पुष्ट होती है। दार्शनिक की प्रसन्नता और भी गम्भीर

होती है। योगी इस दौड़ में सबसे आगे निकल जाता है जिसकी बुद्धि को गीता में पर्यवस्थित कहा गया है (बुद्धिः पर्यवतिष्ठते) मूल बात यह है कि ज्ञान का अधिकरण आत्मा होने के कारण बौद्धिक प्रसाद भी जितना-जितना आध्यात्मिक होता जायगा उतना-उतना अपने पराकाष्ठा-स्वरूप कैवल्य की ओर बढ़ता चला जायगा।

अब रही यह बात कि साहित्येतर वाङ्मय में भी न सही अर्जित-संवेदना के बल पर, पर किसी न किसी अर्थ-चित्र के कारण ही शब्द-विधान होता है। ऐसी दशा में यह कैसे सम्भव है कि उसका वह शब्द-विधान उपपन्न अर्थ के प्रभाव से अछूता रह जाय? नहीं रह जायगा तो इस बात की क्या संगति है कि साहित्येतर वाङ्मय की एक रेखा में शब्द ही प्रभावशाली होता है और दूसरी रेखा में अर्थ ही। और यदि इस बात की संगति नहीं बैठती तो यह भी असंगत है कि अन्य वाङ्मय में वेदादि ग्रन्थ शब्द-प्रधान ही होते हैं और इतिहासादि अर्थ-प्रधान, दोनों अलग-अलग उभय-प्रधान नहीं हो सकते।

ठीक है पर इस पर भी ध्यान जाना चाहिये कि जिन उपपन्न अर्थों की प्रामाणिकता से अन्य-वाङ्मय में शब्द-विधान होता है वे प्रमाण नाम से अभिहित हैं। और प्रमाण-मात्र को चार खानों में रखा जाता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द। शुद्ध-विशुद्ध ज्ञान ही इन चारों का प्रयोजन है चाहे वह ज्ञान संसार-विषयक हो अथवा ईश्वर-विषयक। अब इस ज्ञान के अनुसार किये गये शब्द-विधान की संवेदना पाठक अथवा श्रोता को कैसी होगी—इस पर ही उत्तर का सब कुछ दार मदार है।

सिद्ध के आधार पर साध्य की सिद्धि होती है साध्य के आधार पर नहीं। यही कारण है कि प्रमाण सदैव सिद्ध ही होता है। फलतः उपर्युक्त चारो प्रमाण सिद्ध हैं। फिर क्योंकि ये शुद्ध

ज्ञानात्मक ही होते हैं अतः किसी साध्य की सिद्धि भी ये ज्ञानात्मक ही करेंगे। सिद्ध होने वाली वस्तु ज्ञान की दृष्टि से जितनी ही साफ होगी, स्वरूप की दृष्टि से उतनी ही प्रभावशाली होगी। ऐसी वस्तु बुद्धि की शक्ति के भीतर उतर कर ही बुद्धि को प्रभावित करेगी और बुद्धि उस वस्तु का ज्ञानमय स्वरूप जितना अपने में उतार सकेगी उतनी ही वह प्रभावित होगी। जिस कोटि तक प्रभावित होगी उसी कोटि तक प्रसन्न भी होगी। अब विचारणीय यह है कि यह प्रसाद जो ज्ञान के विशद स्वरूप का फल है, उन शब्दों को भी इस प्रभाव का कुछ हिस्सा देता है या नहीं जिनके माध्यम से उसके असाधारण कारण किसी सत्य ने अभिव्यक्ति पाई है। जहां तक सुहृत्-संमित वाङ्मय का प्रश्न है, इसका स्पष्ट उत्तर है कि नहीं। कारण बहुत साफ है। लक्षक और व्यंजक तो दूर, सामान्यतया वाचक शब्दों की ही बात चला लीजिये। और उनके भीतर भी जो सामान्यतम कोटि शब्द-स्वरूप की होती है वह उनकी ज्ञापकता है। यदि यह भी किसी शब्द से नहीं हो पा रहा कि वह किसी वस्तु की जानकारी करादे तो उसके प्रभाव की बात तो एक किनारे रही, उसके स्वरूप में ही संदेह किया जा सकता है, या कम से कम यह उसका दोष मानना पड़ेगा। अब यदि कोई शब्द पूर्णतया किसी वस्तु का ज्ञापक है तो यह उसका सामान्य रूप ही है, इसमें वैशिष्ट्य की कौन बात है? सामान्य मनुष्य के गुणों को लेकर जीने वाले व्यक्ति का प्रभाव मनुष्यों पर तो सामान्य ही पड़ेगा, पशुओं पर विशेष पड़े—यह दूसरी बात है। दूसरी ओर इस सामान्य ज्ञापक शब्द के द्वारा ज्ञाप्य वस्तु सीमातीत हो सकती है। ज्ञान सीमा—तीत जो है (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म)। फलतः उसका प्रभाव भी सीमातीत हो सकता है जो संसार

के 'पप्पा' से लेकर आत्मा के कैवल्य तक छाया हुआ है। और क्या पता उससे भी आगे कुछ और हो, क्योंकि 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' जैसी दर्शन-ऋचाओं का विरोध करने के लिये हमारे पास बाधक प्रमाण ही क्या है ? प्रमाण तो बुद्धि के क्षेत्र के ही बासिन्दे होते हैं और जो वस्तु बुद्धि के क्षेत्र से भी परे है उसके लिए प्रमाण कहां से लायें ? तब कैसे कहदें कि बुद्धि से आगे कुछ भी नहीं है। प्रत्युत बुद्धि से भी आगे कुछ है, कुछ क्या, सब कुछ है-इसके समर्थन में साधक प्रमाण मिल सकता है। इसे सभी समझदार समझते हैं कि जितना हम जानते हैं उतना ही संसार नहीं है बल्कि संसार का बहुत बड़ा भाग वह है जिसे हम नहीं जानते। सचाई यह है कि जितना जितना हम जानते चलते हैं उतना-उतना अपनी नाजानकारियों की जानकारी हमें होती चलती है। "ज्ञान का जितना लम्बा व्यास (डाईमीटर) खींचियेगा, अज्ञान का उसके चारो ओर उतना ही बड़ा वृत्त (सरकम्फरेन्स) बनेगा।" इतनी लम्बी मानव-परम्परा के बाद भी जहां तक हम पहुंच सके हैं वह हमारी बुद्धि का कुछ ऐसा ही समष्टि-रूप है जो इन अनन्त ब्रह्माण्डों के भीतर, महासागरों की लहरों में किसी तिनके की तरह पछाड़ खा रहा है।

खैर, मतलब यह है कि ज्ञेय पदार्थ की जानकारी ही हमारे कुछ वाङ्मयों का प्रयोजन होती है। तदनुसार शब्दों का सामान्य-संवेदना जिज्ञासा-मात्रैकप्राण बनकर अर्थ-साक्षात्कार में ही अपने को पूर्णतः विलीन कर देती है। यहाँ केवल अर्थ से हमारा तात्पर्य रहता है, शब्द कुछ भी रहे हों, इसीलिए ऐसा वाङ्मय अर्थ-प्रधान कहलाता है। इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र आदि इसी के भीतर हैं। शब्दों में आस्था न रहने के कारण

इसे प्रभु-संमित नहीं कह सकते। अर्जित-संवेदना के बिना रमणीयता-विरह होने के कारण इसे कान्तासंमित भी नहीं कह सकते। केवल अर्थ पर दृष्टि और अभिप्राय रहने से इसे सुहृत्-संमित ही कह सकते हैं।

तब प्रभु-संमित वाङ्मय क्या है और क्यों है—इसे समझना भी बहुत आसान है। अभी चार प्रकार के प्रमाणों की बात कही गई थी। उनमें शब्द-प्रमाण क्या है और क्यों है—इसे जान लेना ही उक्त प्रश्नों का उत्तर है। व्यवहार के क्षेत्र से ही चलिये, चाहे कोई व्यक्ति मूर्ख हो या विद्वान्, नास्तिक हो या आस्तिक, बिना शब्द प्रमाण के उसका काम ही नहीं चल सकता। संसार में ऐसा एक भी मनुष्य मिलना कठिन है जो किसी न किसी के शब्दों को थोड़ा-बहुत प्रमाण न मानता हो। माँ, बाप, गुरु आदि के रूप में वर्तमान के, और पूर्व-मनीषियों के रूप में अतीत के कुछ-न-कुछ शब्दों को प्रमाण न मानना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। छोटा बच्चा अनायास ही अपने वातावरण से भाषा और संकेतग्रह सीख लेता है। यह बिना किसी को प्रमाण माने कतई असम्भव है। बड़ा होने पर भी, यद्यपि उसकी आस्था धीरे-धीरे सिमटनी प्रारम्भ हो जाती है, पर फिर भी वह सर्वथा लुप्त नहीं हो पाती, और किसी-किसी की आस्था तो और भी सघन हो जाती है। समाज ने इस आस्था को बहुत ही आवश्यक समझा है और इसे बनाये रखने के लिये उसने अनेक किलेबाजी की हैं। शब्दों के रूप में इस आस्था का सबसे बड़ा कोष सुरक्षित है जिसे वह लाख ले-देकर भी बदलने को तैयार नहीं है। प्रत्येक देश की प्रत्येक जाति में शब्दों के ये अपरिवर्तनीय सिक्के मिलते हैं। हिन्दुओं के वेदादि ग्रन्थ, हिन्दुओं के भीतर भी अनेक धार्मिकों के ग्रन्थ जैसे—बौद्धों

के त्रिपिटक, सिक्खों के गुरुग्रन्थ साहब आदि-आदि इसी के उदाहरण हैं। अँग्रेजों का बायबिल, मुसलमानों का कुरान, पारसियों का अवेस्ता आदि ग्रन्थ प्रभु-सम्मित वाङ्मय ही है। इस प्रकार के ग्रन्थों के शब्द ही प्रमाण होते हैं। कारण, ये ग्रन्थ अपने मूल में अपौरुषेय कहलाते हैं। इनका आगमन या तो ईश्वर के द्वारा हुआ माना जाता है या ईश्वर के अवतारों द्वारा। मनुष्य ने अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार जो इनके अर्थ किये हैं वे लाख प्रयत्न करने पर भी सर्वथा पूर्ण और निर्दोष नहीं माने जाते। लोगों ने अपनी-अपनी मान्यता की पुष्टि के लिये अपने-अपने प्रतिपाद्य के अनुसार इन ग्रन्थों के संदर्भों को अनेकधा व्याख्या करके रखा है। ऐसी हालत में अर्थ के रूप में उपस्थित उन परस्पर-विरोधी व्याखानों को कैसे प्रमाण माना जा सकता है? फलतः ये ग्रन्थ अर्थ प्रधान नहीं होते, शब्द-प्रधान ही होते हैं।

ऐसे ग्रन्थों की शब्द-संवेदना ससाध्वस यानी भयमिश्रित आदर के साथ उदित होती है। आगे अर्थ का प्रत्यक्षीकरण करते हुए भी हम बार-बार इन शब्दों की संवेदना को दुहराते हैं ताकि हम इन्हें ठीक समझने में कोई गलिती न कर बैठें। अर्थ समझने पर भी हम उन शब्दों को ही प्रमाण मानते हैं क्योंकि हमें पूर्ण विश्वास नहीं होता कि हमने उन्हें पूर्णतया समझ लिया है। अनेक पवित्र और महत्वशाली अवसरों पर अर्थ नहीं, शब्दों को साक्षी बनाया जाता है। मन्त्रमयी देवता भी आठ प्रकार की देव-सृष्टि में एक अलग सृष्टि है। अनेक अनुष्ठानों में अर्थाभिज्ञ पण्डितों को भी शब्दों के पाठ करने पड़ते हैं। विवाह के समय चाहे वर-वधू के समझ में भाँग की भुस्सी भी न आये पर सब काम मन्त्रमय शब्दों से ही कराया

जाता है। किसी भी तरह विचार कर लिया जाय, ऐसा वाङ्मय शब्द-प्रधान होने के कारण प्रभु-संमित ही कहलाता है। सेवक के लिये प्रभु के शब्दों का महत्व है, यदि अर्थ का महत्व होता तो किसी दूसरे के द्वारा कहे गये वे ही शब्द उसके लिये बराबर महत्वशाली होते।

इस प्रकार हमने देखा कि प्राचीनाचार्यों के अनुसार प्रभु-संमित वेदादि ग्रन्थों में जो शब्द की प्रधानता है और सुहृत्-संमित इतिहासादि ग्रन्थों में जो अर्थ की प्रधानता है वह कान्ता-संमित साहित्य के शब्दार्थोभय की प्रधानता से, आश्रय और स्वरूप भेद के कारण नितान्त विसदृश है। साहित्य में कहीं शब्द तो कहीं अर्थ भी प्रधान हो जाता है पर प्रभु-संमित वेदादि ग्रन्थों में शब्द और सुहृत्-संमित इतिहासादि में अर्थ ही प्रधान रहता है अर्थात् शब्द और अर्थ न तो पर्याय वृत्ति से (एक-एक करके) और न तो व्यासज्यवृत्ति से (एक साथ) प्रभु-सम्मित वाङ्मय में ही रह सकते हैं और न तो सुहृत्-सम्मित वाङ्मय में ही। यह आश्रय भेद हुआ। साहित्य में अर्जित-संवेदना के कारण चेतश्चमत्कारी प्रभाव ही शब्दार्थ की प्रधानता का निर्वर्तक है पर साहित्येतर वाङ्मय में स्वीकृत मान्यता तथा बौद्धिक प्रसादकारी तात्विक और वास्तविक दर्शन ही क्रमशः शब्द की प्रधानता और अर्थ की प्रधानता का स्वरूपाधायक है—यह स्वरूप-भेद भी हो गया।

अन्त में इस प्रथम परिच्छेद की विश्लेषण-सीमायें इस प्रकार हैं—

त्त

साहित्य का अर्जित-संवेदना-मूलक चमत्कारी प्रभाव ही साहित्य को समस्त वाङ्मय से अलग करता है। वास्तव में

साहित्य के प्रयोजन की अन्तरात्मा यही प्रभाव है, बिना इस प्रभाव के साहित्य का प्रयोजन मुर्दा है या फिर वह उपदेशक ग्रन्थ, नीतिशास्त्र, धर्म शास्त्र आदि के प्रयोजनों से कुछ भी व्यति-सदृश नहीं है। अतः निःसन्देह साहित्य की सीमायें वहां तक घोषित कर देनी चाहियें जहां तक उपर्युक्त प्रभाव के शिला-लेख प्राप्त होते हैं। तदनुसार साहित्य का स्वरूप-लक्षण देते हुए हमें साहित्य की सीमाओं में अभिव्याप्त इसी प्रभावात्मक प्रयोजन को उसका अवच्छेदक धर्म मानकर चलना चाहिये।

त्र

साहित्य के स्वरूप और उसके प्रयोजन के इसी उभयनिष्ठ और परस्पर-सिद्ध सत्व के कारण इन दोनों की अलग-अलग चर्चा करना अपूर्ण ही नहीं स्वरूपतः अनुचित भी है। अपूर्ण, अन्योन्याश्रित होने के कारण और अनुचित, अंग-भंग होने के कारण। विश्व-साहित्य का इतिहास साक्षी है कि इन दोनों के निरपेक्ष विवेचन से ही साहित्य में अनेक अनर्थों के सूत्रपात हुए और अतिवादी सिद्धान्तों के अनेक उत्पात मचे। कभी तो लोग स्वरूप को ही दोनों हाथों से पकड़ कर इतने आसक्त हुए कि जग-जीवन के आचार-विचारों की हड्डी-पसली ही तोड़ कर रख दी। और कभी प्रयोजन के पीछे इतनी बुरी तरह फँटे कि उसका स्वरूप ही भूल गये जिसका वह प्रयोजन था। पहले लोगों ने साहित्य में अतिचार-जन्य सड़ांद उत्पन्न करदी तो दूसरों ने उसका रस ही सुखा दिया। पहले लोग मनोविज्ञान, अन्तश्चेतना और स्वप्न में खो गये तो दूसरे लोग दर्शन-शास्त्र, नीतिशास्त्र और राजनीति में भटक गये। यह सब कुछ साहित्य के स्वरूप के और प्रयोजन के एकांगी विवेचन के कारण ही हुआ। इसके कुछ उदाहरणों की समीक्षा भी इसी प्रसंग से द्वितीय परिच्छेद में कर ली जायगी।

झ

साहित्य के प्रभाव का भी विश्लेषण किया जाय तो साहित्य की सीमायें और भी अधिक मूर्त होने लगती हैं। चमत्कारी प्रभाव के अनन्य-चरण शब्द और अर्थ हैं और उनके चरण-चिह्न अलङ्कार और अलङ्कार्य की द्विधा कोटियों में और उनकी आवर्तित-प्रत्यावर्तित सरणियों में बहुत स्पष्ट देखे जा सकते हैं। अलङ्कार और अलङ्कार्य कहने से साहित्य का सीमाओं का एक पूर्ण विहङ्गम दृश्य उपस्थित हो जाता है। वस्तुतः अलङ्कार और अलङ्कार्य का अभिधान एक ओर तो अपनी वाह्य-रेखाओं से साहित्य की वाह्य सीमायें निर्मित करता है दूसरी ओर अपनी संक्रान्ति-रेखाओं से साहित्य की आभ्यन्तर सीमायें निर्धारित करता है। अलङ्कार और अलङ्कार्य की परस्पर संक्रान्तियों से ही सहित्य के दो पक्ष बन जाते हैं—जिन्हें अलङ्कार-पक्ष और अलङ्कार्य-पक्ष कहते हैं। अलङ्कार-प्रधान पक्ष का नाम अलङ्कार-पक्ष है और अलङ्कार्य-प्रधान पक्ष का नाम अलङ्कार्य-पक्ष। अर्थापत्ति यह है कि अलङ्कार-पक्ष में भी अलङ्कार्य रहता है पर अप्रधान रूप में और अलङ्कार्य-पक्ष में भी अलङ्कार रहता है पर अप्रधान रूप में ही। अलङ्कार्य-पक्ष की सामग्री से अलङ्कार-पक्ष का कोई वास्ता नहीं है और अलङ्कार-पक्ष के उपादानों का अलङ्कार्य-पक्ष में कोई योग नहीं है—ऐसा अर्थ न अलङ्कार-वादियों को मान्य है और न तो अलङ्कार्यवादियों को स्वीकृत। ये दोनों पक्ष साहित्यकारों के क्रमशः प्रधानतया बहिर्मुखी साहित्य-चेतना के और प्रधानतया अन्तर्मुखी चेतना के कारण उपस्थित होते हैं। बहिर्मुखी चेतना अलङ्कार पक्ष में कारण है और अन्तर्मुखी चेतना अलङ्कार्य-पक्ष में। अलङ्कार के चमत्कार-प्राधान्य से अधम काव्य की, अलङ्कार्य के चमत्कार-प्राधान्य से

उत्तम-काव्य की और दोनों के मध्यमवर्ती चमत्कार से मध्यम-काव्य की व्यवस्था हमारे प्राचीन आचार्यों ने की है।

जिस प्रकार साहित्यकारों की बहिर्मुखी साहित्य-चेतना और अन्तर्मुखी साहित्य-चेतना क्रमशः साहित्य में अलङ्कार-पक्ष और अलङ्कार्य-पक्ष का निर्माण करती है जिन्हें पश्चिम के क्लैसिसिज्म और रोमाण्टिसिज्म का बहुत-कुछ पड़ोसी कहा जा सकता है उसी प्रकार आलोचकों की भी बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी शास्त्रीय आलोचनाओं का इतिहास है जिन्हें हम क्रमशः अलङ्कार-सम्प्रदायों और अलङ्कार्य-सम्प्रदायों के नाम से जानते हैं। शुद्धालङ्कार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय (गुण-सम्प्रदाय) और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय —ये तीन अलङ्कार-सम्प्रदाय हैं। रस-सम्प्रदाय ध्वनि-सम्प्रदाय और औचित्य-सम्प्रदाय—ये तीन अलङ्कार्य-सम्प्रदाय हैं। भारतीय-साहित्य के भीतर ये दोनों प्रकार के सम्प्रदाय लड़ते-झगड़ते रहे हैं। अलङ्कार-सम्प्रदाय आत्मस्थानीय व्यंग्य को किसी न किसी रूप से अलङ्कारों में ही समेट कर साहित्य के व्यक्त पिण्ड शब्दार्थ की ओर लौट आते हैं और इस प्रकार इनके यहाँ अलङ्कार-पक्ष की भांति अलङ्कार की स्थिति प्रधान नहीं बल्कि अलङ्कार की मान्यता जिस रूप में है वह प्रधान है और अलङ्कार्य की स्थिति नहीं बल्कि अलङ्कार्य की मान्यता जिस रूप में है वह अप्रधान है। उसी प्रकार अलङ्कार्य-सम्प्रदाय शब्दार्थ-शरीर और समस्त उपकरणों की अलङ्कार-रूप से विवेचना करते हुए आत्मस्थानीय व्यंग्य की ओर चले जाते हैं और इस प्रकार इनके यहाँ अलङ्कार्य-पक्ष की भांति अलङ्कार की स्थिति प्रधान नहीं बल्कि अलङ्कार की मान्यता जिस रूप में है वह प्रधान है और अलङ्कार्य की स्थिति नहीं बल्कि अलङ्कार्य की मान्यता जिस रूप में है वह अप्रधान है। इस मान्यता के वैलक्षण्य के कारण

ही तो कोई उत्कृष्ट रचना दोनों प्रकार के सम्प्रदायों की दृष्टि में उत्कृष्ट ही मानी जायगी और अपकृष्ट रचना अपकृष्ट। फलतः कहना चाहिये कि चाहे अलङ्कार की मान्यता को प्रधानता दी जाय अथवा अलङ्कार्य की मान्यता को साहित्य के स्वरूप में कोई तात्विक अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु प्रस्थान-विन्दु एक रहते हुए भी विश्रान्ति-विन्दु विभिन्न होने के कारण इन दोनों की व्याप्तियों में जो स्थिति-गत रूप-परिवर्तन और स्वरूप-भेद उपस्थित होते हैं उनकी स्वतन्त्र अनुसंधित्सा इस प्रमुख के अन्तिम (तृतीय) परिच्छेद से पूरी होगी।

द्वितीय-परिच्छेद

साहित्य का स्वरूप और प्रयोजन

१

सर्वांग-सौन्दर्य और पूर्णत्व की भावना (अर्जित-संवेदना) साहित्य की मूल प्रेरणा है, इसीलिये साहित्य-सर्जना स्वतः पूर्ण, आनन्दात्मक और आनन्द पर्यवसायी है—यही डेढ़ बात ऐसी बुनियादी है जो साहित्य के स्वरूप और प्रयोजन को साहित्येतर वाङ्मयों के स्वरूप और प्रयोजन से अलग निकाल कर रख देती है। भावात्मक और वस्त्वात्मक रूपों का जब हम मनसा अप्रत्यक्ष साक्षात्कार करना चाहते हैं तब हमारे इस भावन रूप व्यापार में मन का स्वारस्य रहने के कारण वाह्याभ्यन्तर-सौन्दर्य तो रहता ही है दूसरी ओर भावना अपने स्वरूप में सदैव अखण्ड होने से पूर्ण भी होती है। यही भावना जब सक्रिय रूप में कल्पना कहलाती हुई शब्द-विधान करती है तो साहित्य के स्वरूप में कारण होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि साहित्य खण्ड सृष्टि मानकर नहीं चलता कल्पना के सांचे में बिना भरे वह किसी चीज को देखता ही नहीं—यही साहित्य की दृष्टि है। अन्य वाङ्मयों में कुछ तो ऐसे हैं कि जो किसी भी बात को पूर्ण मानने के लिये तैयार ही नहीं है। भूत-विज्ञान और प्रकृति-विज्ञान का यही हाल है। इनके तर्क-वितर्कों की खुरापात पूर्णता के नाम पर कुछ भी बर्दाश्त नहीं कर सकती और इनकी चीर-फाड़ के आगे सब कुछ खण्ड-खण्ड हो जाता है। दर्शन शास्त्र पूर्णता और अखण्डता का उपासक तो है पर भिन्न प्रकार से उसकी धारणा है:—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

यह आद्यन्त मान्यता की पूर्णता है कुछ पूर्णता की आद्यन्त मान्यता नहीं। अर्थात् एक अपरिछिन्न तत्व की मान्यता के कारण ही वह वस्तु-जगत को पूर्ण कह रहा है, स्वतन्त्र रूप से वस्तु-जगत को पूर्ण वह नहीं मान रहा। पर साहित्य ऐसा मानता है। यहां कल्पना में कोई भी वस्तु-चित्र अपने में स्वतः पूर्ण है।

कल्पना रेखागणित-शास्त्री भी करता है। वह बिन्दु और रेखा की परिभाषा देता हुआ कहेगा कि बिन्दु वह होता है जिसकी लम्बाई-चौड़ाई कुछ न हो और रेखा वह है जिसकी लम्बाई हो पर चौड़ाई नहीं। पर यह कार्य-रूप में बिल्कुल असम्भव है। बिन्दु में कुछ न कुछ लम्बाई-चौड़ाई अवश्य रहेगी और रेखा में कुछ न कुछ चौड़ाई। पर ऐसा बिना माने वह चल नहीं सकता। इसलिये यह कल्पना व्यवहारोपयोगी होते हुए भी सर्वथा अव्यवहार्य है। अतः शुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में भी अपूर्ण है।

बीजगणित शास्त्री भी सिद्ध की कल्पना करके साध्य की सिद्धि करता है। वह जब किसी प्रश्न को हल करने लगता है तब उत्तर की कल्पना 'अ' 'ब' 'स' आदि के रूप में पहले ही कर लेता है। आगे चलकर ये कल्पित उत्तर वास्तविक उत्तर को खींच लाते हैं। व्यवहार के क्षेत्र में भी ऐसे अनेक उदाहरण हो सकते हैं। पर ऐसी कल्पना किसी बात को सिद्ध-मात्र करने के लिये की जाती है अतः शुद्ध-विशुद्ध ज्ञान के क्षेत्र की सम्पत्ति हैं। फलतः यदि ये सभी उपर्युक्त कल्पनायें पूर्ण भी हों तब भी उस साहित्य की कल्पना से नितान्त विसदृश हैं जिसके मूल में स्वारस्य-मूलक चित्रात्मक संवेदना (अर्जित-संवेदना) है।

फिर यदि साहित्यिक कल्पना किसी वस्तु की सिद्धि भी करती है तो वह सिद्धि अन्य वाङ्मयों की वास्तविक सिद्धि की भांति आत्यन्तिक नहीं होती, बल्कि स्वयं ही काल्पनिक होती है। इसलिये उसकी पूर्णता में आशंका का अवसर ही नहीं है। यदि पुष्पक विमान में बैठे हुए राम संकेत करते हुए सीता से कहते हैं कि—

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥

—रघुवंश १३।

(यह वही स्थली है जहाँ तुम्हें ढूंढ़ते हुए मैंने तुम्हारा एक नूपुर प्राप्त किया था जो मानो तुम्हारे चरणों से वियुक्त होने के कारण दुख से मौन था) तो यहाँ नूपुर के चरण-विश्लेष-जन्य दुख की कल्पना नूपुर की जिस मौनावस्था की सिद्धि करती है वह स्वयं ही काल्पनिक है आत्यन्तिक नहीं। आत्यन्तिक तो तब होती जब सीता के पैरों में पकड़ कर ही उसने बजने की शपथ खाई होती।

मानसिक चित्रपट की नटी होने के कारण साहित्यिक कल्पना, सांसारिक और शास्त्रीय कल्पनाओं के साथ एक पैर भी नहीं मिलाती। इसलिये भविष्य में भी यदि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में वाङ्मय की किसी ऐसी रेखा का जन्म हो जो किसी वस्तु को पूर्ण ही मानकर चले और उसका पर्यवसान भी पूर्ण ही माने तब भी उसमें साहित्य का अन्तर्भाव यह कल्पना नहीं होने देगी जो किसी वस्तु की पूर्णता के साथ-साथ उसकी सर्वांग-सुन्दरता भी देखती है और सर्वांग-सुन्दरता देखने के फल-स्वरूप जिसकी सिद्धियां भी आत्यन्तिक नहीं होतीं। भक्ति के क्षेत्र में भी यद्यपि किसी तत्व के सर्वांग-सौन्दर्य और पूर्णत्व की कल्पना होती है

क्योंकि वहां भी राग-तत्व का एकछत्र साम्राज्य होने के कारण प्रिय की सारी खामियां भर जाती हैं। यह प्रेम-तत्व की महिमा है जो संसार में भी हम अपने किसी प्रिय को सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण ही देखते हैं (वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु) पर यह दृष्टि भी शब्दार्थ के बाहन से ही साहित्य में प्रवेश पाती है। इसी तरह प्रत्यक्ष प्राकृतिक सौन्दर्य भी शब्दार्थ में संक्रमित होकर साहित्य का अविभाज्य अंग बना करता है।

एक वाक्य में कहना चाहिये कि सर्वांग-सौन्दर्य और पूर्णत्व की संवेदना-मूलक शब्दार्थमयी कल्पना साहित्य का एक स्वरूपाधायक तत्व है। अर्थात् सर्वांग-सुन्दरता, पूर्णता, भावना (अर्जित-संवेदना) और शब्दार्थ—इन चारों को साहित्य के स्वरूप-निर्माण में एक-कारणता है पृथक-पृथक कारणता नहीं। हमारे यहाँ कल्पना, भावना का ही प्रौढ़ रूप है; इसीलिये कवि या कलाकार के यहां वह प्रधानतया भावना से प्रेरित होती है और सामाजिक के यहां वह प्रधानतया भावना को प्रेरित करती है। शुक्ल जी भी इसके लिये प्रमाण हैं :—

'काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो या भाव का प्रवर्तन और संचार करती हो।'

इससे यह बात भी साफ हो गई कि हमारे यहां की कल्पना, पाश्चात्य साहित्य में स्वीकृत उस कल्पना से कितनी भिन्न है जिसकी स्थापना एडीशन ने वस्तुवाद से प्रभावित होकर की थी। हर तरह की कल्पना तो साहित्य नहीं हो सकती इसलिये एडीशन की कल्पना में व्यभिचार-दोष था, वह साहित्य से बाहर भी अतिव्याप्त थी। कैसी कल्पना की काव्य को आवश्यकता है—

इसका उत्तर भारत का भावना-मूलक रस-सिद्धान्त दे सकता है पश्चिम का वस्तुवाद नहीं।

क्रोचे की अभिव्यंजना भी हमारे यहां की कल्पना से मेल नहीं खाती। उसमें तो और भी कई दोष हैं। भावानुभूति तो अभिव्यंजना में क्रोचे मानता नहीं, उसे डर है कि काव्य में भावों की सत्ता मानने से प्रत्यक्ष सुख-दुःख कूद पड़ेंगे। इसका यही अर्थ है कि वह काव्य को मन की अप्रत्यक्ष वा संस्कारावस्थित सत्ता का रूप नहीं मानता जिसे हम अर्जित-संवेदना कहते हैं और जिसके प्रभाव से सुख-दुःखानुभूतियां वहां सदैव मधुर ही होती हैं। इससे यह भी पता चल जाता है कि क्रोचे की अभिव्यंजना कितनी ऊथली है जहां प्राथमिक इन्द्रिय-बोध को ही काव्य की रेखा समझ लिया जाता है। दूसरे एडीशन की कल्पना में वस्तु-तत्व को फिर भी महत्व दिया जाता है जिसका मतलब होता है विभाव की किसी-न-किसी रूप में स्वीकृति, पर क्रोचे के यहाँ सांचा या व्यापार ही सब कुछ है जिसकी सत्ता भी सर्वथा वैयक्तिक है। इस वैयक्तिक अभिव्यंजना का दूसरों के लिए क्या उपयोग है—इसका उत्तर क्रोचे का पास नहीं है। और सचमुच इसका समाधान इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र का साधारणी करण माना जाय। यदि प्रतिपादित विषयों में कवि के साथ सामाजिक का साधारणीकरण नहीं होता तब कवि और उसकी सृष्टि व्यर्थ ही माननी पड़ेगी क्योंकि समाज का तो उससे कोई मतलब रह नहीं जायगा। भारत के आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि साधारणीकरण का पूर्वरूप भावना या भावकत्व व्यापार है जिसके बल पर सामाजिक अपनी वैयक्तिक सत्ता से परे सात्विक दशा में पहुँच कर रसास्वादन

करता है। साधारणीयकरण का अर्थ ही यह है कि सहृदय का कवि के साथ उसकी सृष्टि में इतना भावना-साधारण्य बने कि वह (सहृदय) भावना-मात्रैक शेष रह जाय; तभी काव्य का प्रयोजन सद्यःपरिनिर्वृत्ति और कान्तासंमित उपदेश हो सकता है; अन्यथा नहीं। पर भावना या भावानुभूति से क्रोचे की अभिव्यंजना का कोई सम्पर्क न होने के कारण साधारणीकरण का कोई आधार ही नहीं रह जाता। और सबसे मजेदार बात तो यह है कि क्रोचे कला में गृहीता या सामाजिक का पक्ष व्यर्थ समझता है। इस प्रकार न तो क्रोचे की अभिव्यंजना की भावना ही की जा सकती है और न तो भावना करने वाला कोई आवश्यक है।

जो लोग साहित्य के भीतर कल्पना के अतिरिक्त बुद्धि-तत्व और राग-तत्व को अलग से स्वीकार करते हैं उनकी दृष्टि में साहित्य की कल्पना और सांसारिक तथा शास्त्रीय कल्पना विसदृश नहीं है। लौकिक और शास्त्रीय कल्पना ही जब बुद्धि-तत्व और राग-तत्व में अन्तःसृष्ट हो जाती है तब साहित्य का निर्माण करती है—ऐसी इन लोगों की धारणा है। यह बात साहित्य के नौसिखियों की बुद्धि में आसानी से उतारने के लिए इस प्रकार से कही जाती है इसीलिये उपयोगी है अन्यथा तर्क का एक धक्का भी यह नहीं सम्हाल सकती। पूछा जा सकता है कि क्या बुद्धि-तत्व के बिना भी कोई कल्पना, कल्पना कहला सकती है? यदि हाँ, तो वह न तो व्यावहारिक हो सकती है, न शास्त्रीय, और न साहित्यिक। पागलों की दुनियाँ में यदि कोई बुद्धि-विरहित कल्पना हो तो हम उसका विरोध भी नहीं करते।

यदि यह सिफारिश की जाय कि खैर बुद्धि-तत्व तो कल्पना

के भीतर आ ही जायेगा पर राग-तत्व को कल्पना के अलावा दूसरा तत्व मान ही लिया जाय, तो यह भी निरापद नहीं है। द्वि-तत्व को लेकर की गई कल्पना नितान्त आत्यन्तिक होगी जिसके उदाहरण हम पीछे रेखागणित और बीजगणित शास्त्रों के साथ दे चुके हैं और जिसके साथ किसी साहित्यकार का परिचय नहीं है। उसे इस स्वतन्त्र व्यक्तित्व के साथ साहित्य में एक भिन्न तत्व मान ही कैसे लिया जायगा? उधर राग-तत्व को भी स्वतंत्र मानने में कुछ लोगों को कम परेशानी नहीं है। ऐसे भी स्थल साहित्य में होते हैं जिनके मूल में विराग-तत्व होता है। खैर विराग को तो राग का ही एक प्रतिलोम समझ कर रखा जा सकता है लेकिन एक अनुभयात्मक (राग-विरागातिरिक्त) तत्व न मानने में क्या बहाना है? मनोविज्ञान इस तत्व को सिद्ध करता है—इसलिये नहीं, बल्कि इसलिये कि साहित्य में इसका अस्तित्व है। हास्य-रस के मूल में न राग है, न विराग, कोई और ही तत्व है। इतना भी सत्य है कि कल्पना हास्यरस में भी होती है और यह उससे भी बड़ा सत्य है कि साहित्यिक कल्पना शुद्ध बौद्धिक ही नहीं होती, उसके साथ अवश्य कोई ऐसा लवाजमा होता है जो उसे लौकिक और शास्त्रीय कल्पनाओं से व्यवच्छिन्न करता है। कुछ लोग इस लवाजमे को राग-तत्व के रूप में नहीं मानना चाहते क्योंकि साहित्य में यह तत्व सर्वत्र व्याप्त नहीं है। हास्य-रस में वे इसे अव्याप्त समझते हैं।

> 'स्वयं पंचमुखः पुत्रौ गजानन-षडाननौ
> दिगम्बरः कथं जीवेदन्नपूर्णा न चेद् गृहे'

यहाँ शिव जी की खिल्ली उड़ाई गई है। वे स्वयं पञ्चमुख हैं अतः उन्हीं को पचगुना खाने को चाहिये तिस पर उनकी दो

सन्तान और भी ढैय्याढकेल हैं। उनमें से एक तो गजानन (गणेश जी) हैं यानी हाथी के मुख के समान मुख वाले हैं जो मनों का आहार करते हैं और दूसरे हैं षडानन-महोदय जिन्होंने अपने बाप को भी एक गोल से हरा दिया है। आप फिर भी पंचमुख ही थे पर सुपूत छः मुख लेकर आये। वे पचगुना खायें तो वे छः गुना। इतना घर का खर्च रहने पर भी घर के मालिक की आमदनी का यह हाल है कि उनके पास कानी कौड़ी भी नहीं है। वे दिगम्बर हैं। खैर बिना कपड़े-लत्ते के तो वे जीवित भी रह जाते पर बिना खाये-पीये कैसे बच सकते थे यदि अन्नपूर्णा उनके घर में न होती। अथवा अन्नपूर्णा के बिना घर की खाद्य-समस्या इतनी बिगड़ जाती कि शिव जी का जीना दुश्वार हो जाता।

पाठक देख सकते हैं कि यहाँ सारी करामात कल्पना की है। न यहाँ राग-तत्व है न विराग-तत्व। यदि कोई यह कहे कि यह किसी मुँहलगे भक्त का भगवान शिव के प्रति उपहास है जैसा कि 'अन्नपूर्णा' शब्द के स्वारस्य से स्पष्ट है और इसी लिये यह भाव-ध्वनि का उदाहरण है जिसमें हास्य-रस भगवद्विषयक रति का अंग बन गया है तो और कोई उदाहरण ऐसा लिया जा सकता है जिसमें हास्य-रस गुणीभूत व्यंग्य न हुआ हो :—

> 'गुरोर्गिरः पंचदिनान्यधीत्य वेदान्त-शास्त्राणि दिनत्रयं च
> अमी समाघ्राय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः।'
>
> —शंखधर (लटकमेलक)

(पांच दिन गुरु जी से पढ़े, तीन दिन में वेदान्तशास्त्र खतम कर गये, और अब थोड़ा तर्क-शास्त्र भी सूँघ कर कुक्कुट मिश्र जी के श्रीचरण लौट आये हैं)

निःसन्देह यहां न कोई राग-तत्व है, न विराग-तत्व। पर यदि कोई मनीषी राग का अर्थ इतना व्यापक करने के लिये अनुहार नहीं है कि वह यावन्मात्र सुख-दुःखानुभूति के संस्कारावस्थित रूप के साथ द्वन्दों के आधार-भूत वस्तु-जगत की सात्विक सर्जना में मन के स्वारस्य में भी उसे अभिन्नाकार (अभिव्याप्त) समझे तब तो बात बन जाती है। कारण, साहित्य-सर्जना ही मन के सात्विक स्वारस्य के कारण आनन्दमूलक है। ऐसी अवस्था में कोई रस हो, अलंकार हो या अन्य कोई सामान्यतम चित्रण-सर्वत्र ही राग-तत्व माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में साहित्य के साथ नित्य-साहचर्य राग-तत्व का होगा। पर यह अड़चन तो फिर भी रह ही जायगी कि तथाकथित कल्पना के स्वरूप से स्वतंत्र इसके दर्शन साहित्य के दरबार में नहीं होते। इसलिय निरपेक्ष बौद्धिक कल्पना की भाँति निरपेक्ष राग-तत्व भी साहित्य के क्षेत्र में एक अजनवी वस्तु है।

तब फिर इस भ्रम का क्या कारण है कि हम किसी कविता को पढ़कर कहते हैं कि इसमें कल्पना की उड़ान बहुत ऊँची है या इसमें बहुत पैनी सूझ है और किसी दूसरी कविता को पढ़कर कहते हैं कि इसमें भावों की गहराई अत्यधिक है या इसमें भावों की मात्रा बड़ी प्रचुर है।

वास्तव में साहित्यिक दृष्टि से विश्व की छान-बीन की जाय तो दो ही तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। एक तत्व है सुख-दुःखानुभूति और दूसरा है सुख-दुःखानुभूति का कारण–स्वरूप जड़–चेतन वस्तु–जगत। इनमें कौन तत्व छोटा है और कौन बड़ा—यह नहीं कहा जा सकता। जब कोई कलाकार सुख–दुःखानुभूति को अभिव्यक्ति देने लगता है तब उसकी कल्पना अन्तर्मुखी होती है। क्योंकि इसकी अनेक बार पुनरुक्ति की जा चुकी है कि सुख

दुःखानुभूति कभी वाच्य नहीं होती और इसी लिये तत्फलस्वरूप, रसभावादि भी वाच्य नहीं हो सकते। वे केवल व्यंग्य ही रहते हैं। इसके विपरीत वस्त्वात्मक जगत की स्थिति, वाच्य और व्यंग्य दोनों हो सकती है। इसलिये कलाकार जब इस तत्व की ओर बढ़ता है तब उसको कल्पना वहिर्मुखी और अन्तर्मुखी–दोनों होती हैं। वाच्य वस्तु-जगत के रूप में कल्पना बहिर्मुखी होती है, व्यंग्य वस्तु जगत् के रूप में अन्तर्मुखी। वहिर्मुखी का मतलब है कि वह बाह्य सौन्दर्य का विधान करती है और अ तर्मुखी का अर्थ है कि अनेक सम्बन्धों की ठीक-ठीक अभिसन्धि बिठाने वाली बुद्धि के उच्चाति-उच्च शिखर पर बैठ-कर वस्तु-जगत की अभिव्यक्ति करती है। किन्तु सुख-दुखानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए कल्पना जिस प्रकार अन्तर्मुखी होती है उस प्रकार वस्तु-जगत की अभिव्यक्ति के लिये नहीं होती। दोनों के प्रकारों में क्रमशः भाव-क्षेत्र और बुद्धि-क्षेत्र के प्राधान्य का अन्तर। दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि कल्पना तो दोनों क्षेत्रों में चलती है क्योंकि भावना का सक्रिय रूप ही तो कल्पना है किन्तु रस-भावादि की अभिव्यक्ति में कवि की भावना का सक्रिय रूप (कल्पना) उतना प्रधान नहीं होता जितना स्वयं भावना का मूल-रूप। इसलिये जिस कविता में रस-भावादि की अभिव्यक्ति होती है उसे हम कहते हैं कि इसमें भावों की गहराई अत्यधिक है या इसमें भावों की मात्रा बड़ी प्रचुर है। दूसरी ओर वस्तु-जगत की अभिव्यक्ति में भावना का सक्रिय रूप (कल्पना) जितना प्रधान होता है उतना भावना का मूल रूप नहीं। भावना के सक्रिय रूप के प्राधान्य का मतलब है बुद्धि का अत्युच्च योग। इसीलिये जिस कविता में वस्तु-जगत की अभिव्यक्ति अत्युच्च स्तर पर होती है

उसे हम कहते हैं कि इसमें कल्पना की उड़ान बहुत ऊँची है या इसमें बहुत पैनी सूझ है।

वैसे तो कल्पना का मूल रूप आन्तरिक ही होता है। क्योंकि जहांतक हम किसी बात का मनसा साक्षात्कार करते हैं वहाँ तक कल्पना अर्जित-संवेदना या भावना के रूप में ही रहती है। किंतु जब मनसा साक्षात्कृत अर्थ को शब्दों में अभिव्यक्ति दी जाती है तब कल्पना के प्रयत्न में अन्तर पड़ना आरम्भ हो जाता है। यदि कवि सुख-दुःख को अभिव्यक्ति देना चाहता है तब तो वह स्वयं को भावित दशा के सुपुर्द कर देगा और उस समय जो प्रतिक्रिया उसके अन्तःकरण की होगी उसी को शब्दार्थमयी कल्पना में भर कर फेंकता जायेगा। इसके लिए उसकी कल्पना भाव-क्षेत्र में अधिक डूब जायगी और जब-जब बाहर मुँह निकालेगी तभी-तब कुछ-न-कुछ लेकर आयेगी। यही रस-भावादि की सृष्टि होगी। किन्तु जब वह सुख-दुःख के कारण-स्वरूप किसी वस्तु जगत को मनसा निदिध्यासन करता हुआ कोमल अभिव्यक्ति देना चाहेगा तब वह अपने को सुपुर्द न करके उस वस्तु को किसी पैनी सूझ में सजाकर पाठकों के सामने रखेगा। इसके लिए कवि की कल्पना बुद्धि के क्षितिज पर अधिक मंडरायेगी। और जब-जब वह धरती की ओर आयेगी तभी-तब पाठकों के सामने चर्वणा के लिए कुछ-न-कुछ चारा फेंक जायेगी। यही वस्तु-अलंकार की ध्वनि होगी। फलतः जब हम कहते हैं कि अमुख पद्य में भावों की सघनता है तो उसका अर्थ है कि कल्पना में संवेग या भावों की छाया अधिक गहरी है और जब हम कहते हैं कि अमुक पद्य में कल्पना की उड़ान बहुत ऊँची है तब उसका अभिप्राय होता है कि कल्पना में बौद्धिक योजना बहुत उच्च कोटि की है। इसीलिए यह समझना समझ-

दारी नहीं है कि कल्पना कहीं बिना बुद्धि-तत्व के भी जीवित रह सकती है और उसकी प्रकार वह कभी साहित्य में बिना राग-तत्व के भी काम कर सकती है।

कोई-कोई स्थल तो ऐसे होते हैं जहाँ यह निर्णय करना कठिन है कि कल्पना में बुद्धि-तत्व अधिक है या भाव-तत्व :

'अरे वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय'

सुमित्रानन्दन पन्त (परिवर्तन)

यहाँ पहली पंक्ति में संयोग की व्यंजना है और दूसरी में वियोग की। संयोग की व्यंजना के लिये कवि ने अपनी पैनी सूझ से चार ही आंखों की साक्षिता कही है तीसरे व्यक्ति से पूछ कर प्रेम नहीं किया जाता। फिर दो व्यक्तियों के प्रेम में कोई भी पांचवीं आँख साक्षी भी तो नहीं हो सकती। यदि होगी तो विघ्न करेगी। मुद्दई और मुद्दाइल से अलग वहां न कोई गवाह है, न वकील है और न न्यायाध्यक्ष। यही प्रेमी और प्रिय के वास्तविक मिलन का स्वरूप है। उन चार आंखों का भी 'अपलक' विशेषण देकर यह व्यक्त कर दिया है कि संयोग का समय इतने प्रगाढ़ सुख का होता है कि वह अपनी शीघ्रगामिता में एक पलक से भी नहीं बांधा जा सकता। अथवा संयोग का सयम प्रेमियों के लिये इतना कीमती होता है कि आंखों में परस्पर एक-दूसरे को पीते हुए उसका सहस्रांश भी एक पलक मारकर खोना वे बर्दाश्त नहीं कर सकते। वियोग की अभिव्यक्ति आठ आसुंओं से की गई है। एक-एक आंख के दो-दो कोण होते हैं तो दो विरहियों की चार आंखों के सीधे-सादे आठ हो गये जो निम्न और ढल-कोंहे होने के कारण आठ अश्रुओं को हर समय टिका सकते

हैं, अर्थात् आठ अश्रु ही, अश्रुओं के आठ प्रपात हैं जो अनायास फूट पड़ते हैं। वियोग में प्रिय को खोजती हुई आखें खुली ही रहती हैं तो पुतलियों पर आसुओं को क्यों रहने देंगी, इसलिये आठ से अधिक भी उनकी संख्या स्वारस्य के विरुद्ध है। फिर संयोग में एकाकार होने को दृढ़-प्रतिज्ञ दो हृदय वियोग में दो टूट हों—यह स्वाभाविक है। इसी प्रकार एक-दूसरे में समाने वाली, आंखों की दो जोड़ियाँ—यानी चार आँखें जब विद्‌लित हुईं तो आंसुओं के रूप में आठ हो गईं।

दूसरी ओर, 'अरे, वे' आदि शब्दों में परिवर्तन के चित्रण से संयोग सुख की अस्थिरता के कारण, करुणा और निर्वेद अथवा करुण-रस और शान्त-रस असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य हैं। समझ में नहीं आता कि यहाँ कवि की पैनी सूझ की सराहना की जाय या भावों की तल-स्पर्शिता की। तिस पर भी आंसुओं के रोदन से रोदन का भी रोदन व्यंजित है और 'निरुपाय' शब्द ने तो मानों दयनीय मानवता की निःसहाय और असमर्थ दशा की लक्ष्मण-रेखा खींच दी है। इस प्रकार एक ही शब्द की वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना के बीच एकतर कोटि का व्यतिशायी प्रख्यापन भी झगड़े से खाली नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि साहित्यिक कल्पना अविनाभावि सम्बन्ध से बुद्धि-तत्व और राग-तत्व को लेकर ही अन्वर्थ कहलाती है तथापि विवेचन की सुविधा के लिये विवेचकों ने इन तीनों को पृथक्-पृथक् साहित्य के मूल-तत्वों के रूप में स्वीकार कर लिया है। किन्तु हमने जो इन तीनों की उखाड़-पछाड़ की है उसका मतलब केवल यह था कि इन तीनों की साहित्य के स्वरूप में एक कारणता है—अनेक-कारणता नहीं, समस्त-कारणता है—व्यस्त-कारणता नहीं। अर्थात् ये तीनों मिलकर

ही साहित्य-स्वरूप के अवच्छेदक धर्म हैं—अलग-अलग होकर नहीं, एक-एक करके भी नहीं, दो-दो करके भी नहीं।

कुछ लोग इन तत्वों को पाश्चात्यों की खोज कहकर उनकी सूझ की दाद देते हैं। यह भारत के कम से कम पाँच हजार वर्षों के साहित्य की प्रौढ़ परम्परा का अपमान है। हम यह तो नहीं कहते कि अर्वाचीन विद्वानों ने प्राचीनों की नकल ही की है क्योंकि देश-काल की आवश्यकतानुसार अनेक नवीन बातों को प्रकाश में लाने का काम आधुनिक पण्डितों का रहा है, किन्तु प्राचीनों की कही हुई कुछ बातें ऐसी बुनियादी हैं कि इस नये युग में अर्वाचीनों के द्वारा नाम-रूप बदल दिये जाने पर भी उनका पूरा-पूरा श्रेय वर्त्तमान की अपेक्षा अतीत को अधिक जाता है। मम्मटाचार्य ने साफ-साफ लिख दिया था कि शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों की एककारणता साहित्य के स्वरूपाधायक तत्वों का संघटन करती है। शक्ति, कल्पना-शक्ति के अतिरिक्त और क्या है जो अपने प्रौढ़ रूप में प्रत्येक व्यक्ति को नहीं मिल सकती और जो अपने सात्विक रूप में सदैव रागात्मक है? अभ्यास का अर्थ कल्पना के शरीर-भूत शब्दार्थ की सौन्दर्योत्पादक समंजस योजना के अतिरिक्त और क्या रखियेगा। और बुद्धि-तत्व के रूप में लोक तथा शास्त्र का प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा नैपुण्य बिना प्राप्त किये क्या कवि जी सुख-दुःखानुभूति और तत्कारण-भूत-वस्तु जगत को मनसा साक्षात्कार करके औचित्य-रूप भी प्रदान कर सकते हैं? नहीं, तो फिर यह मानना पड़ेगा कि ये तीनों तत्व जान में अथवा अनजान में प्राक्तनी मान्यता की आधुनिक व्याख्या है।

कविराज विश्वनाथ के द्वारा दिये गये साहित्य के स्वरूप में भी इन तीनों तत्वों के आदिम अथवा मूल-संस्कार मौजूद हैं।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

—साहित्य दर्पण १

समझ में नहीं आता कि रसात्मकता से अलग राग-तत्व ने रहने के लिये कौन-सी गुफा बनाई है और कल्पना-शक्ति ने उड़ने के लिये कौन सा नीरस आसमान चुना है क्या वाक्य, शब्द और अर्थ के बिना भी बन जाता है जो साहित्यिक कल्पना के शरीर कहलाते हैं ? और पं० विश्वनाथ के द्वारा साहित्य-स्वरूप के लिये स्वीकृत वाक्य में अर्थ-बोध की दृष्टि से आकांक्षा, योग्यता औरअन्निधि (आकांक्षा, योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः) को कारण नहीं माना जाता जो बुद्धि-तत्व के सही-सलामत रहने पर ही संभव हैं। फिर साहित्यिक वाक्य की योग्यता तो और भी विलक्षण है। नैय्यायिक तो यह कहता है कि – 'अग्निना सिंचतीति न प्रमाणम्, योग्यता-विरहात् ।' अर्थात् वहाँ अग्नि से किसी का सींचा जाना असम्भव है। पर साहित्य में अग्नि से सिंचाई होती है। यहाँ प्रेम की ज्वाला से जीवन सींचे जाते हैं। नहीं तो प्रेमी का जीवन ठंडा पड़ जाय। सिंचाई की ही बात चल पड़ी है तो देखिये यहाँ सिंचाई भी उलटी होती है। 'पेड़ों' को काटकर उनके 'पल्लव सींचे जाते हैं और मीनों को जिलाने के लिये पानी बाहर 'उलीच' दिया जाता है (पेड़ काट तें पल्लव सींचा, मीन जियत हितु बारि उलीचा)। इसी प्रकार यहाँ यह भी आवश्यक नहीं कि किसी को जलाने के लिये अग्नि ही चाहिये; नहीं, ठंडी चीजों से भी आग लगाई जाती है। वियोगियों की दुनियाँ में चन्द्रमा तो इसीलिये तोबा कर गया है और मलयानिल को बारूद की उपाधि मिल चुकी है। अब बताइये, जो व्यक्ति न्याय के वाक्यों की सामान्यतया अभिहित योग्यता समझने में ही डंवाडोल है उसकी समझ में साहित्यिक वाक्यों की लक्षित और

व्यंजित योग्यता कैसे आ जायगी जिसके लिये और भी बुद्धि-तत्व की अपेक्षा है।

एक-दो आचार्यों की बात नहीं है। पंडितराज जगन्नाथ के पास चलिये। वह भी यही कहता है:—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'

—रसगंगाधर १

रमणीयता की व्याख्या उसने स्वयं की है, इसके लिए उसने टीकाकारों पर विश्वास नहीं किया—

'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लदगतश्चमत्कारापरपर्यायः कश्चिज्जातिविशेषः।'

—रसगंगाधर १

स्पष्ट ही उसने रमणीयता के भीतर 'आह्लाद' और 'ज्ञान' शब्द का अभिधान कर दिया है जिनसे राग-तत्व और बुद्धि-तत्व गतार्थ हो जाते हैं। चमत्कार कहकर तो उसने मानो कल्पना की व्याख्या ही कर दी। कल्पना के शरीर-भूत शब्द और अर्थ भी आ ही गये हैं।

अब मम्मटाचार्य को ही क्यों छोड़ा जाय। उन्होंने भी साहित्य का ऐसा ही स्वरूप दिया है जिसमें सारे बुनियादी तत्व प्रकारांतर से संगृहीत हैं।

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'

—काव्यप्रकाश १

सच पूछा जाय तो कविराज विश्वनाथ ने इसी लक्षण का परिष्कार करके 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहा था। मम्मट के शब्दार्थ के लिए उसने वाक्य कह दिया है। मम्मट के 'सगुणौ' शब्द से गुणाधिष्ठित आत्मस्थानीय रस की स्वयं प्रपत्ति हो जाती है अतः विश्वनाथ ने लाघवार्थ 'सगुणौ' न कहकर सीधे

शब्दों में 'रस' ही कह दिया है। मम्मटाचार्य के समर्थकों का अभिप्राय हो सकता था कि काव्य का लक्षण करते हुए उसकी आत्मा को भी साथ घसीटना ठीक नहीं है क्योंकि 'गौ' का लक्षण करते हुए 'सास्नादिमत्वं गोत्वम्' कहकर शारीरिक सत्ता का ही ध्यान रखा जाता है आत्मा का नहीं। फिर मरी हुई 'गौ' में भी तो 'गौ' का लक्षण घटना चाहिए। लक्षण में आत्मा शब्द पढ़ देने से तो वहाँ अव्याप्ति दोष चला जायगा। उधर विश्वनाथ के समर्थकों की दलील हो सकती थी कि मृत गौ में अव्याप्ति-वारणार्थ उसके लक्षण में चेतना या आत्मा शब्द का अनुपादान तो ठीक है पर साहित्य तो मुर्दा होता नहीं जिसमें उसके लक्षण की अव्याप्ति का ऐसा कोई डर हो। इसलिए साहित्य के लक्षण में आत्मस्थानीय 'रस' शब्द का उपादान आवश्यक है। दूसरे जीवित साहित्य का ही लक्षण किया जाना चाहिए। यदि मुर्दा साहित्य जैसी कोई चीज हो भी तो उसमें लक्षण की अव्याप्ति ही हमें अभीष्ट है। मरी हुई गौ को कोई गौ मानता रहे पर मुर्दा साहित्य को हम साहित्य मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

पर ध्यान से देखा जाय तो ये दोनों प्रकार के समर्थन बे पैर-सिर के हैं। जब मम्मट अपने लक्षण में आत्म-स्थानीय रस का प्रत्याख्यान ही नहीं करता तब मम्मट के समर्थक विश्वनाथ के उक्त लक्षण से और विश्वनाथ के समर्थक मम्मट के उक्त लक्षण से व्यर्थ ही नाक-भौं क्यों सिकोड़ते हैं? 'सगुणों' कहने वाले मम्मट ने गुणों के प्रकरण में खुल्लम-खुल्ला कह दिया है कि ये आत्मस्थानीय रस के गुण हैं, उपचार-वृत्ति से ही उन्हें शब्दार्थ के गुण कह देते हैं—

'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता'

—काव्यप्रकाश ८

इसलिये 'सगुणौ' शब्द अविनाभावि-सम्बन्ध से रस को उपस्थापित करेगा। रस की उपस्थिति में वह साहित्यिक कल्पना गतार्थ हो जाती है जो स्वरूपतः सरस है। रस, भाव-तत्व या राग-तत्व की पराकाष्ठा है 'अदोषौ' शब्द का कल्पना की पूर्णता पर ही नहीं अयोग्यता-विरोधी बुद्धि-तत्व पर भी पूरा-पूरा जोर है।

कहना यह है कि कल्पना-तत्व, बुद्धि-तत्व और राग-तत्व प्राचीन आचार्यों के द्वारा स्वीकृत साहित्य-स्वरूप के सघटक तत्वों के पर्यायान्तर मात्र हैं, कोई नवीन उन्मेष नहीं है। बल्कि उनके द्वारा कही हुई बातों में से एक बात कहना हम भूल और गये हैं। वह चौथी बात शब्दार्थ-तत्व की है। प्राचीनों के यहाँ शायद एक भी साहित्य-लक्षण ऐसा न मिलेगा जिसमें इस तत्व का उल्लेख न हो। यह कहना तो लड़कपन ही है कि साहित्यिक कल्पना के भीतर शब्दार्थतत्व का ग्रहण स्वयं हो जायगा अतः उसे अलग कहने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार तो राग-तत्व और बुद्धि-तत्व को भी अलग से मानने की कोई भूमि नहीं रह जाती। पीछे कहा ही जा चुका है कि राग-तत्व (भाव-तत्व) को खोकर भटकने वाली कल्पना को साहित्य नहीं पहचान सकता और बुद्धि-विरहित भी कोई कल्पना होती है—इसकी कल्पना भी कोई बुद्धिमान नहीं कर सकता। हाँ, जो लोग "शैली" नामक चतुर्थ तत्व भी स्वीकार करते हैं उनके यहाँ अवश्य ही प्रकारान्तर से शब्दार्थ-तत्व का समावेश हो जाता है।

खैर, यह साहित्य के चार मूल-तत्वों की विवेचना है। इन्हें चाहे जैसे शब्दों में भरकर और चाहे जिस प्रकार से भरकर चाहे जो उपस्थित करे, साहित्य के स्वरूप की व्याख्या और

उसका लक्षण होगा। प्राचीनता का आग्रह हो तो ऊपर मम्मटाचार्य, पंडितराज जगन्नाथ और कविराज विश्वनाथ के लक्षणों में से किसी को भी प्रमाण-स्वरूप रखा जा सकता है। और यदि नितान्त नवीन शब्दों में ही साहित्य के लक्षण की आवश्यकता है तो वह कुछ इस प्रकार का होगा :—

सर्वांग-सौन्दर्य और पूर्णत्व की अर्जित-संवेदना-मूलक (भावना-मूलक) शब्दार्थ-सृष्टि का नाम साहित्य है।

इस परिभाषा में साहित्य के सम्पूर्ण अवच्छेदक धर्म हैं। संवेदना कहने से भाव-तत्व (राग-तत्व) और बुद्धि-तत्व दोनों आ जाते हैं—इसकी विवेचना हो ही चुकी है। सर्वांग-सौन्दर्य और पूर्णत्व की सृष्टि, बिना कल्पना की करामात के हो ही नहीं सकती। शब्दार्थ का अभिधान शब्दों में ही कर दिया गया है।

यह लक्षण महाकाव्य से लेकर 'रिपोर्ताज' तक साहित्य के किसी भी अंग पर अव्याप्त तो है ही नहीं, बल्कि भोग, रूप और अभिव्यक्ति के आधार पर सौन्दर्य का विधान करने वाली सारी ललित-कलाओं में यह कूद पड़ा होता यदि शब्दार्थ कहकर इसकी रोक-थाम न की गई होती। अर्थ की अनिवार्यता ने इसे संगीत-कला में अतिव्याप्त नहीं होने दिया।

रस-भावादि की अनुभूति वाले सन्दर्भों में भी यह कथमपि अव्याप्त नहीं है। पहले ही परिच्छेद में इसका प्रामाणिक निरूपण किया जा चुका है कि अर्जित-संवेदना में संस्कार-पूर्वक स्मृति या प्रत्यभिज्ञा का अनिवार्यतः सहयोग रहता है जिन्हें साहित्य में अनुभूति शब्द से पुकारते हैं। अतः अर्जित संवेदना में भाव-तत्व और बुद्धि-तत्व की मात्राओं का अलग-अलग निर्णय करना असम्भव है। पर इतना तो अभी कहा गया था कि भाव-तत्व की सबलता के कारण रस-भावादि की

और बुद्धि-तत्व की प्रबलता के कारण वस्तु-अलंकार की अभिव्यक्ति होती है। फिर व्यंजना-व्यापार से सर्वथा शून्य जो विवरणात्मक या वस्त्वात्मक चित्रण है उसमें भी साहित्यकार वस्तुओं को अपने मन पर चढ़ाकर ही (मनसा अर्जित करके ही) प्रस्तुत करता है इसलिये ऐसे चित्रणों में भी मन का स्वारस्य रहने के कारण उनकी सर्वांग-सुन्दरता और पूर्णता की भावना किसी न किसी मात्रा में अवश्य रहती है। यही अर्जित-संवेदना का व्यापक रूप है जिसमें, रसभावादि में प्रतिफलित होने वाले जगत के सुख-दुःख और वस्तु-अलंकार के वाच्य और व्यंग्य के रूप में परिणत होने वाले सुखदुःख के कारण-भूत वस्तु-जगत को मनसाभावित किया जाता है। इसी स्थिति में पहुँच कर साहित्यकार साहित्य का सर्जन करता है और सामाजिक उसी भावना से उसका आस्वादन करता है। सामान्य वस्तु-चित्रण से लेकर रस-चक्र की राजधानी तक जाने वाला यही राज-मार्ग है।

अन्त में यह भी देख लिया जाय कि कल्पना सर्वांग-सौन्दर्य और पूर्णत्व का विधान किस प्रकार करती है। दूसरे शब्दों में कहना चाहिये कि कल्पित रूप-विधान किस प्रकार सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण होते हैं। कल्पित-रूप विधान के दो भेद किये जाते हैं—प्रस्तुत रूप-विधान और अप्रस्तुत रूप-विधान। कवि या कलाकार अपनी कल्पना के सहारे प्रस्तुत को परिवर्तित-परिवर्धित करके सामने रखता है ताकि वह सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण बन पड़े। शकुन्तला नाटक में दुष्यन्त (प्रस्तुत) की उपस्थापना इसका अन्यतम उदाहरण है। अंगूठी और दुर्वाषा के शाप की कल्पना में भर कर यदि दुष्यन्त का व्यक्तित्व न रखा गया होता तो नायक का चरित्र कितना भोंड़ा और अश्रद्धेय हो जाता।

इसका अर्थ यह भी है कि साहित्यकार किसी प्रस्तुत को स्वरूपत. ही सर्वांगसुन्दर नहीं बनाता अपितु अनेकानेक विभिन्न प्रस्तुतों से प्रत्येक प्रस्तुत की खामियाँ पाटता हुआ उसकी तथाभूत योजना करता है।

प्रस्तुत की स्वरूपतः सर्वांग सुंदरता और पूर्णता भी देखिए। महाकवि कालिदास दिलीप का चित्र उपस्थित करता है:—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघा-विपर्ययः
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव।

—रघुवंश १।

जानते हुए भी मौन-भाव, सामर्थ्य रहते हुए भी क्षमा और त्याग रहते हुए भी आत्म-श्लाघा का अभाव-जैसे गुण, मनुष्य का पूर्ण चित्र बनाने के लिये पर्याप्त हैं। दशरथ का चित्र देखिये:—

न करुणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता।

—रघुवंश ६।

(दशरथ प्रभविष्णु इंद्र के सामने भी कभी नहीं गिड़-गिड़ाया, हँसी-दिल्लगी में भी कभी उसके मुँख से झूठी बात नहीं निकली और उसने अपने शत्रुओं के प्रति भी अपनी जबान से कभी गंदे या कर्कश शब्द नहीं कहे—भले ही तलवार से उसने उनका शिर काट दिया हो)

क्षत्रिय वर्ण के लिए पौरुष-सौंदर्य का इससे बड़ा उदात्त रूप मिलना कठिन है।

सर्वांग-सुन्दरता और पूर्णता साधु चरित्र में ही नहीं असाधु चरित्र में भी होती है।

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गना :
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवंदिवः ।
—शिशुपालबध १ सर्ग ।

रावण का खूंख्वार चित्रण इस पद्य में है। वह अमरावती को तहस-नहस कर रहा है—नन्दन वन को उखाड़ रहा है—हीरे जवाहरात जैसे समस्त कीमती रत्नों को छीने ले जा रहा है और बल-पूर्वक देवताओं की सुन्दरियों का अपहरण कर रहा है। मूल बात यह है कि इन्द्र से बिमुख होकर उसने वह खुरापात मचाई है कि समस्त स्वर्ग-लोक की रक्षा खतरे में पड़ गई है और दिन रात त्राहि-त्राहि मची हुई है। यहाँ रावण सभी प्रकार के दुवृत्तों का प्रतिनिध है। चोर, जार डकैत होने के साथ-साथ वह पूरा-पूरा आततायो चित्रित किया गया है। यही उसके बध का औचित्य है जिसका कवि ने निर्वाह किया है।

अप्रस्तुत की कल्पना तो केवल प्रस्तुत के अलंकारों का विधान करती है और वह भी प्रस्तुत की आवश्यकतानुसार ही, नहीं तो अप्रस्तुत का रूप क्या संवारेगी उसे और भी बिगाड़ देगी। स्पष्ट कर देना चाहिए कि प्रस्तुत के भीतर आलंबन और उद्दीपन - दोनों ही पक्ष विभाव के आ जाते हैं और अप्रस्तुत के भीतर वह सारी सामग्री आती है जो आलम्बन और उद्दीपन विभाव को अधिकाधिक चमकदार बनाने का काम करती है। एक ही उदाहरण में इन तीनों की योजना देखिए—

जहार चान्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम्
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केश—व्यपरोपणादिव
रघुवंश ३ ।

रघु और इन्द्र का युद्ध चल रहा है। दोनों एक-दूसरे के क्रोध के आलम्बन हैं। प्रस्तुत उदाहरण में इन्द्र के क्रोध का आलम्बन

रघु है। और उद्दीपन-विभाव है—रघु के वाण से इन्द्र की वज्र-भूत लोह-ध्वजा का काटा जाना क्योंकि ध्वजा-छेद से इन्द्र का क्रोध और भी उद्दीप्त हो उठा है। किन्तु यहाँ एक अप्रस्तुत-विधान भी है जिसने उद्दीपन-विभाव को बेहद नुकीला बना दिया है। वह है उत्प्रेक्षा अलंकार। इससे अधिक किसी वीर के क्रोध का उद्दीपन और हो ही क्या सकता है कि उसके सामने ही उसका शत्रु उसकी पत्नि का सिर नहीं, सिर के बाल काट ले। पति का, उसकी पत्नी के सिर काटे जाने पर इतना अपमान नहीं जितना बाल काटे जाने पर होता है। पत्नी के सिर कटने का अपमान तो लोक के सामने का अपमान है जिसे एक बार के लिये पति सहन भी कर सकता है क्योंकि पत्नी उसे उलाहना देने के लिये जीवित थोड़े ही रह जायगी। दूसरे स्त्री का सिर काटने वाला स्वयं ही लोक में निर्घृण और कायर कहलायेगा जो किसी भी पति के लिये कुछ सन्तोष की बात होगी। किन्तु पत्नी के सिर के बाल काटे जाने पर वीरपति तिलमिला उठेगा क्योंकि यह उसका अपमान उसकी पत्नी के सामने का है यानी पत्नी के जीवित रहते हुए उसका अपमान है जो सदैव उसके जीवन में पत्नी की ओर से एक उपालम्भ बना रहेगा। जिस प्रकार स्त्री अपने पुरुष के सामने अपने रूप का अपमान नहीं सह सकती उसी प्रकार पुरुष अपनी पत्नी के सामने अपने पौरुष की हेटी नहीं देख सकता। इसी बात का पूरा-पूरा चित्र खींचनेके लिये कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है—कि इन्द्र के लिए ध्वजा के कट जाने का मतलब था मानो किसी ने उसके सामने ही उसकी सुर-लक्ष्मी का चुट्टा काट लिया हो।

२

अब साहित्य के प्रयोजन को भी साथ ले लें ! पहली बात तो यही है कि साहित्य के स्वरूप में ही उसका प्रयोजन लबालब भरा हुआ है। स्वरूप समझ लेने पर प्रयोजन के लिये कुछ कहना ही वस्तुतः शेष नहीं रह जाता। उसी प्रकार प्रयोजन को हृदयंगम कर लेने पर साहित्य के स्वरूप की पूरी-पूरी झांकी मिल जाती है। दूसरी बात यह है कि यह किसी भी प्रकार असम्भव है कि स्वरूप-कथन में परस्तात् प्रयोजन का अनुकथन न हो जाय। उसी प्रकार यह भी बहुत कठिन है कि प्रयोजन के प्रसंग में स्वरूप का प्रासंगिक अनुवाद न करना पड़े।

साहित्य की मूल प्रेरणा आनन्दात्मक क्यों है—इसे खूब समझ लिया गया है अतः साहित्य-सर्जना भी आनन्दात्मक ही होगी यह स्वयं समझ में आ जाता है क्योंकि जिस स्रष्टा के लिये साहित्य की मूल प्रेरणा आनन्दात्मक है उसकी सर्जना का सम्बन्ध भी उसी से है, किसी दूसरे से नहीं। किन्तु साहित्य-सर्जना आनन्दात्मक है, इसीलिये वह आनन्द-पर्यसायी ही हो अथवा उसका प्रयोजन अनन्द ही हो—यह बात अभी साफ नहीं हुई। कारण, प्रत्यक्ष लोक में हम देखते हैं कि स्वयं स्रष्टा के लिये भी कोई आनन्दात्मक सर्जना विपरणामी अर्थात् परिणाम में दुःख-दायी हो सकती है, तब दूसरे व्यक्ति की तो बात ही छोड़िये। जिस पुत्र की सृष्टि पिता के लिये आनन्दात्मक होती है वही पुत्र कुमार्ग पर जाता हुआ उसके दुःख का कारण भी हो सकता है। दूसरों के लिये तो ऐसी सृष्टि हानिकारक होती ही है—इसमें

'ननु' 'नच' की गुंजाइश ही क्या ? ऐसी दशा में कवि और सामाजिक को ध्यान में रखते हुए साहित्य के प्रयोजन के साथ यह अनैकान्तिक दोष क्यों नहीं बैठता, अर्थात् आनन्दात्मक साहित्य का फल कवि और सामाजिक के लिये सदा आनन्द-स्वरूप ही क्यों होगा, दुखःस्वरूप भी क्यों नहीं होगा—यह प्रश्न का शास्त्रीय रूप है।

वस्तुतः पहले परिच्छेद में इस प्रश्न को प्रकारान्तर से देखा जा चुका है। वहाँ अर्जित-संवेदना के प्रसंग में जिस प्रकार यह सिद्ध किया गया था कि सर्वांग-सौन्दर्य और पूर्णत्व की भावना के कारण साहित्य की मूल प्रेरणा आनन्दात्मक है अथवा सात्विक होने के कारण साहित्य-प्रेरणा और साहित्य-सर्जना, दोनों आनन्दात्मक हैं उसी प्रकार उससे भी पहले अनुभूतियों की मीमांसा करते हुए यह प्रमाणित कर दिया था कि साहित्य में उनका (अनुभूतियों का) अप्रत्यक्ष रूप होने के कारण वे अनिवार्यतः आनन्दात्मक ही होती हैं। 'अप्रत्यक्ष' शब्द की व्याख्या शब्दार्थ के माध्यम के अतिरिक्त संस्कार या वस्तुओं तथा भावों के मनसा पुनरर्जन के रूप में स्पष्ट कर दी गई थीं। यहाँ वही प्रश्न कुछ नये ढंग से सामने आया है अतः उसका समाधान भी कुछ नये ढंग से हो जाना चाहता है।

इस प्रश्न का सिर तोड़ने के लिये पहली चोट तो यह है कि 'आनन्द' शब्द को 'सुख' शब्द के साथ गड़बड़झाला में न डाला जाय। लोक की बात छोड़िए, शास्त्रीय भाषा में आनन्द का मतलब अप्रत्यक्ष सुख से है और सुख का तात्पर्य प्रत्यक्ष सुख से। अप्रत्यक्ष सुख का अर्थ है अविपरिणामी सुख अथवा ऐकान्तिक सुख और प्रत्यक्ष सुख का अर्थ है विपरिणामी सुख अथवा अनैकान्तिक सुख। दर्शनों में प्रायः एकान्त सुख को ही

आनन्द कहा जाता है। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' जैसे प्रयोग इसके प्रमाण हैं। 'भूमा वै सुखमस्ति नाल्ये वै सुखमस्ति' में 'सुख' शब्द का दो बार प्रयोग लक्षणया ऐन्द्रिय-सुख का निषेध करता हुआ वास्तविक सुख, ऐकान्तिक सुख अर्थात् आनन्द में अर्थान्तर-संक्रमित है। दार्शनिकों के द्वारा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोषों की क्रमशः स्थापना में 'आनन्द' शब्द की अन्तिम श्रेणी से उसके प्रत्यक्ष इन्द्रिय-जनित न होने का अविकल संकेत है। अभिप्राय यह है कि साहित्य-सर्जना सात्विक या अप्रत्यक्ष इन्द्रिय-जनित होने के कारण, अप्रत्यक्ष सुख, ऐकान्तिक सुख, शाश्वत सुख अथवा आनन्द में ही पर्यवसान पाती है जब कि अन्य लोक-सृष्टि प्रत्यक्ष इन्द्रिय-जनित होने के कारण प्रत्यक्ष सुख, अनैकान्तिक सुख, विनाशी सुख अथवा उस सामान्य सुख का फल रखती है जो कालान्तर में दुःखोदर्क या कड़वा भी हो सकता है। सीधी सी बात यह है कि प्रत्यक्ष इन्द्रिय-जनित सुख, प्रत्यक्ष सुख होता है, अप्रत्यक्ष इन्द्रिय-जनित सुख, अप्रत्यक्ष सुख। लोक का सुख, प्रत्यक्ष सुख है, साहित्य का सुख अप्रत्यक्ष सुख। प्रत्यक्ष सुख अनैकान्तिक होता है इसलिये लोक का सुख सृष्टा और उपभोक्ता के लिये किसी समय दुःख में भी बदल सकता है। अप्रत्यक्ष सुख ऐकान्तिक होता है—इसलिये साहित्य का सुख सृष्टा और उपभोक्ता के लिये किसी भी समय दुःख-परिणामी नहीं हो सकता। वह सदैव शाश्वत है—आनन्दात्मक है।

यहां प्रत्यक्ष की सीमा समझने में सावधानी बरतनी चाहिये। मन का सम्बन्ध प्रत्यक्ष इन्द्रियों से रहने के कारण कभी-कभी मानसिक कल्पनाएँ भी सुखात्मक होती हैं—आनन्दात्मक नहीं। मन के लड्डू फोड़ने में मीठे होते हैं पर उन्हें खाते ही मुँह कड़वा

हो जाता है। स्वप्न में तो मन की सारी कल्पनायें प्रत्यक्ष इन्द्रियों के साथ ही प्रायः खेला करती हैं। किसी वस्तु को स्वप्न में पाकर सुख भी होता है और किसी को पाकर या न पाकर दुःख भी। स्वप्न में रोने या हसने का अनुभव प्रायः सबको है। इसलिये जिन लोगों ने साहित्य की सृष्टि स्वप्नवत् मानी, उन्होंने यह सोचने का कष्ट नहीं किया कि वे साहित्य का कैसा गोधन धर रहे हैं। वे शायद इसे भी स्वप्न की भांति ही भूल गये कि वे साहित्य का अभिषेक उन प्रत्यक्ष इन्द्रियों के क्षेत्र में कर रहे हैं जो पशु और मनुष्य के लिये सामान्य हैं। केवल आवेग से पशु चालित होते हैं—मनुष्य नहीं, इसका कुछ तो ध्यान उन्हें होना चाहिये था। हमारा सीधा प्रहार फ्रायड के मनोविज्ञान से सम्बन्धित साहित्य के अंतश्चेतना-वादियों पर है। स्वप्न-सृष्टि सुखात्ममक और दुखात्मक दोनों होती है जब कि साहित्य-सृष्टि सुखात्मक ही होनी है। इसीलिए स्वप्न-सृष्टि का सुख प्रत्यक्ष लोक-सुख की भांति अनैकान्तिक है जब कि साहित्य-सृष्टि का सुख ऐकान्तिक होने के कारण प्रत्यक्ष लोक-सुख से विलक्षण है यानी अप्रत्यक्ष सुख है। इतने पर भी यदि इन दोनों में अन्तर न समझा जाये तब तो अन्तर और निरन्तर शब्दों में भी कोई अन्तर नहीं है।

पर आखिर यह अप्रत्यक्ष सुख भी तो मन की प्रक्रिया-विशेष से ही उपलब्ध होता है, तब फिर वह मन की कौन-सी अवस्था है जिसमें उत्पन्न हुआ सुख लोक-सुख (प्रत्यक्ष सुख) की भांति अनैकान्तिक नहीं होता ? निर्भ्रान्त उत्तर है कि मन की तटस्थता या अपनी सीमाओं का परित्याग ही मन की वह दशा है जो अप्रत्यक्ष सुख का मूल कारण है। यह बात इतनी साफ है कि इसके लिये उदाहरण देना भी बुद्धिमान पाठकों की बुद्धि का

अपमान है। प्रकृति के सौन्दर्य में हमारा मन स्वयं खो जाता है जब कि हम रुपये-पैसे को खोने से बचाते हैं। सुख के साधन तो दोनों ही हैं। इन्हीं आखों से जब हम एक पुष्प के सौन्दर्य का भोग करते हैं तब हमारी वृत्तियां तटस्थ रहती है, हमें इस बात की चिन्ता नहीं कि कोई दूसरा व्यक्ति भी इस पुष्प का इसी प्रकार भोग क्यों करता है। पर जब हम इन्हीं आखों से किसी सुन्दरी के सौन्दर्य को पीने लगते हैं तब हम तटस्थ प्रायः नहीं रह सकते। अर्थात् हमें यह चिन्ता होने लगती है कि कोई दूसरा व्यक्ति इसका हमारी तरह भोग क्यों करता है। पुष्प के उदाहरण में हम अपनी प्रत्यक्ष सीमाओं को भूल जाते हैं सुन्दरी के उदाहरण में हमारी प्रत्यक्ष सीमायें स्पष्टतर होने लगती हैं। पहले उदाहरण में हम प्रत्यक्ष इन्द्रियों के शासन से ऊपर उठते चले जाते हैं दूसरे उदाहरण में हम इन्द्रियों से टकरा जाते हैं। पहले उदाहरण में हमारी इन्द्रियां शिथिल होकर ठंडी शान्ति में डूब जाती हैं दूसरे उदाहरण में हमारी इन्द्रियां उत्तेजित होकर जलने लगती हैं। पहले उदाहरण में हम अपने को निःस्वार्थभाव से सर्वथा समर्पित कर देते हैं दूसरे उदाहरण में सर्वात्मना समर्पण पाने के लिये अपने समर्पण का अभिनय करते हैं। पहले उदाहरण में अपने समर्पण का मतलब है वास्तविक समर्पण—दूसरे उदाहरण में अपने समर्पण का मतलब है—वास्तविक ग्रहण। समर्पण निःसीम होता है—ग्रहण संकुचित। समर्पण में शाश्वत सुख होता है—ग्रहण में तात्कालिक। समर्पण में सात्विक भाव रहता है—ग्रहण में राजस और तामस। कवि या कलाकार मन की इसी समर्पित दशा में अथवा सात्विक दशा में सर्वांग-सौन्दर्य और पूर्णत्व की भावना करता है नहीं तो वह प्रत्यक्ष राग-द्वेष की सृष्टि करने

लगे। इसीलिये साहित्य की प्रेरणा और सर्जना सात्विक होने के कारण उसका सुख भी सात्विक, ऐकान्तिक अथवा अप्रत्यक्ष होता है। सामाजिक के लिये भी यह सुख सात्विक ही होगा। इसका बहुत ही मोटा सबूत यह है कि जब सामाजिक साहित्य का आनन्द ले रहा होता है उस समय वह अपनी प्रत्यक्ष सीमायें छोड़ चुका हुआ होता है अर्थात् पहले सत्वगुण में दीक्षित हो चुकता है। जो व्यक्ति साहित्य पढ़ते-सुनते अपनी सीमायें बनाये रखते हैं वे कभी भी उस साहित्य की भावना या चर्वणा आनन्द के रूप में नहीं कर सकते जिसकी सृष्टि करते हुए कवि या कलाकार को निःसीम होना पड़ा था। ऐसे लोगों का साहित्य-शास्त्रियों ने 'काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः' कहकर स्वागत किया है।

तो साहित्य का सबसे बड़ा प्रयोजन वह आनन्द है जो स्रष्टा और सामाजिक की दृष्टि से भी सात्विक-स्वरूप होने के कारण सदैव एक-रस है—विनाशी और विपरिणामी, नहीं। ऐसे आनन्द को प्रत्यक्ष लोक का सुख न होने के कारण लोकोत्तर कहा जाय, तब भी ठीक है और हृदय को निःसीम मुक्ति प्रदान करने के कारण ब्रह्मास्वादसहोदर रस कहा जाय तो सबसे ठीक है।

सम्भवतः अब इसे कहने की भी आवश्यकता नहीं रही कि प्लेटोनिक परम्परा में साहित्य के प्रयोजन के रूप में जो भ्रमात्मक आनन्द की मान्यता है वह स्वयं भ्रमात्मक है। प्रयोजन-गत इस भ्रान्ति का कारण उनके द्वारा स्वीकृत साहित्य का भ्रमात्मक स्वरूप ही है। प्लैटो इतने ऊँचे दार्शनिक हैं कि उन्हें हम भारत के कपिल, गौतम, कणाद, वशिष्ठ, जैमिनि आदि के समीप निःसंकोच बिठा लेंगे। पर साहित्य का लक्षण करने की अनाधिकार-चेष्टा यदि स्वयं वेदव्यास भी करते तो वे भी अपने स्वरूप के लिये बहुत कुछ भ्रान्त समझे जाते। उनकी पौराणिक

रचनाओं को देखकर ही कहने वाले यह कहने में न चूके कि अधिक दिन जीवित रहने के कारण उनकी बुद्धि सठिया गई थी।

'वहु दिवस जीवतत्वाद् व्यासेन हारितं यशो हन्त'

—मुरारि कवि

और इतना तो तब है जबकि वाल्मीकि को कवि-ब्रह्म कहा जाता है तो व्यास को कवि-देवता। फिर यदि साहित्य का लक्षण करने वाले प्लैटो कहीं भारतीय होते तो नहीं कहा जा सकता कि भारत का साहित्यकार उन्हें क्या कहता।

प्लेटो ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक' में एक आदर्श राज्य की कल्पना करते हुए उसके भीतर साहित्य को काल्पनिक होने के कारण अव्यवहार्य बता दिया। आदर्शराज्य की कल्पना तो व्यवहार्य और साहित्य की कल्पना अव्यवहार्य—यह कौन से न्याय का पैमाना है? जब उन्होंने यह पहले से ही मान लिया कि साहित्य बुद्धिनियन्त्रितेर अवस्था-जन्य, आवेग-प्रधान पाशविक वृत्ति के समान है और इसीलिये आदर्श-राज्य से बहिष्करणीय है तब यह सोचना कि उनके द्वारा दिया गया साहित्य का लक्षण पूर्वग्रह (प्रेजुडिस) के दोष से मुक्त होगा, बन्ध्या से पुत्र की आशा के समान है। दूसरी मजेदार बात यह है कि उन्होंने साहित्य को बुद्धययुक्त कहते हुए भी उसका सिद्धान्त अनुकृति-परक माना। प्रकृति की अनुकृति करने के लिये उन्होंने मानो बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं समझी। स्वयं वदतो-व्याघात की ओर भी उनका ध्यान शायद दर्शन की इस पक्षपात-पूर्ण भावना के कारण ही नहीं गया कि उसकी अपेक्षा में वे साहित्य को मिथ्या और भ्रान्त सिद्ध करना चाहते थे। और इसके लिये सबसे अच्छा और बलिष्ठ साधन यही हो सकता था कि वे साहित्य-कला को अनुकृति की भी अनुकृति

माने। बढ़ई की खाट का उदाहरण देते हुए कहा गया कि वह आदर्श खाट की अनुकृति होने के कारण स्वयं अपूर्ण है. फिर उसका भी वर्णन या चित्रण करने वाला कलाकार उसका केवल आभास-मात्र दे सकता है जो वास्तविक सत्य से बहुत-बहुत दूर है।

ध्यान देने की बात है कि पाश्चात्य देशों में साहित्य के स्वरूप की मीमांसा दार्शनिक परम्परा के हाथों में पड़ी शताब्दियों तक छटपटाती रही जबकि भारत के किसी भी दार्शनिक ने यह अनधिकार-चेष्टा नहीं की। भारत के उच्चातिउच्च दार्शनिक ने भी साहित्य को घृणित या हीनदृष्टि से नहीं देखा, प्रत्युत मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हुए उसे विष्णु भगवान का अंश बताकर अपनी उदार वृत्ति का परिचय दिया।

काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः।

—विष्णु पुराण।

और तफरी तो यह है कि जिन पिछले दार्शनिकों ने प्लेटो की साहित्य-विषयक मान्यता का बड़ी सजधज से खण्डन किया वे भी प्रकृति की अनुकृति-परक छूत से न साहित्य को बचा सके और न स्वयं बच सके।

पहले तो यही बात है कि प्रकृति स्वयं पूर्ण है—यह भी निर्विवाद नहीं है। स्थूल प्रकृति की बात कीजिये अथवा सूक्ष्म प्रकृति को, हम तो अपने जीवन-जगत में अनेक बातों को अपूर्ण पाते हैं। यदि सब कुछ पूर्ण ही हो तो दुःख नाम की कोई भी वस्तु इस संसार में न रहे। फिर प्रत्यक्ष दुःख का अनुकरण ही कौन समझदार है जो करेगा? कर भी तो नहीं सकता, क्योंकि

सुख या दुःख की अभिव्यक्ति के कारण अनुकरणीय हो सकते हैं, स्वयं सुख या दुःख नहीं। और यदि एक भी चीज ऐसी है जिसका अनुकरण करना असम्भव है तो साहित्य में अनुकृति-परक मान्यता की आधार-शिला ही चटक गई।

तब फिर कलाकार क्या करता है—इसे कहने की आवश्य-कता नहीं। श्रव्य काव्य हो अथवा दृश्य, कवि या कलाकार इस स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण करता है, उसका अनुकरण नहीं करता। दुःख से भी प्रेरणा मिलती है और वह भी मधुर-परिणामी होती है। पाश्चात्य कवि की इस अति-प्रख्यात उक्ति से सभी सहृदय सहमत हैं।

अवर स्वीटैस्ट सौङ्स आर् दोज़ ह्विच टैल औफ दी सैडैस्ट थौट

नाटकों में जो अनुकृति की बात कही जाती है वह कलाकार की दृष्टि से नहीं, अभिनेता की दृष्टि से है। और अभिनेता भी जिसका अभिनय या अनुकरण करता है वह पूर्णापूर्ण दोष से दूषित प्रकृति के क्षेत्र की कोई वस्तु नहीं है बल्कि वह पात्र आदि के रूप में सर्वांग सौन्दर्य और पूर्णता से कल्पित साहित्य के क्षेत्र की उपज है। अर्थात् यदि रंगमंच पर कोई दुष्यन्त का अभिनय करता है तो यह दुष्यन्त ईश्वर की सृष्टि नहीं है बल्कि कवि की सृष्टि है जो सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण बनाकर रखी गई है। ऐतिहासिक दुष्यन्त में जो दोष थे उन्हें दुर्वासा के शाप और अंगूठी को कल्पना करके कवि ने अपने दुष्यन्त में नहीं आने दिया। पर एक बात यहाँ बहुत सावधानी से समझ लेने की है। सर्वांग-सौन्दर्य और पूर्णत्व की कल्पना गुणों के कारण ही नहीं दोषों के कारण भी की जाती है। रावण का चित्र तभी सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण होगा जब कवि उसे परम

अत्याचारी के रूप में अंकित करे। इसी प्रकार कुछ पात्रों की सृष्टि दोष-गुण की घात-प्रतिघाती समंजस योजना के कारण भी सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण होती है। पश्चिम के दुःखान्त नाटकों के नायकों के चरित्रों में ऐसी ही दोष-गुण ही अद्भुत ग्रन्थियां देखी जाती हैं। यथार्थवादी चित्रण भी अपने यथार्थ रूप में वही होता है जो इस पूर्ण सत्य का दर्शन करादे कि संसार में कुछ भी पूर्ण नहीं है। जीवन, सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण है—इसकी कल्पना कवि नहीं करता बल्कि जीवन का जो कुछ भी बुरा भला है उसके भीतर से अनिर्वचनीय सत्य, शिव और सौन्दर्य की पूर्ण कल्पना वह कर सकता है और करता है। यह कल्पना कवि का एक स्वतन्त्र और सक्रिय मानसिक संकल्प है जो प्रकृति की प्रेरणा से निर्मित होता है और इसलिये प्रकृति की अनुकरणात्मक परतन्त्रता सहन नहीं कर सकता।

फिर प्लेटो तो कला को प्रकृति की अनुकृति की भी अनुकृति मानता है इसलिये एक कलाकार का अनुकरण करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति भी कलाकार हो सकता है। पर साहित्याचार्य कहते हैं कि दूसरे का अनुकरण करने वाला कवि दूसरे की वमन खाता है अर्थात् वह कवि ही नहीं हो सकता। दूसरी परेशानी यह है कि दृश्य काव्य में कवि की सृष्टि का अनुकरण (अभिनय) करने वाला अभिनेता भी कवि हो जाना चाहिये क्योंकि वह भी प्रकृति की अनुकृति का अनुकरण कर रहा है। पर अभिनेता को साहित्य की अनुकृति की दृष्टि से तो कोई भी कलाकार नहीं कहता, संगीत-नृत्य आदि की मौलिक दृष्टि से भले ही वह कलाकार माना जा सकता है। इसलिये, खबरदार, भारत के आचार्य को इसमें लेश-मात्र भी भ्रम नहीं था कि अनुकरण अभिनेता करता है, कवि या साहित्यकार नहीं। फिर

भी कुछ लोग "अवस्थानुकृति नाट्यम्" का प्लेटो के अनुकृतिवाद के साथ बादरायण-सम्बन्ध भिड़ाने से बाज नहीं आते।

साहित्य-कला की सृष्टि क्या, कलामात्र की सृष्टि कलाकार की सात्विक दशा का परिणाम है। सात्विक दशा में होने वाली और सात्विक दशा में लाने वाली प्रेरणा भी सात्विक होती है। और यदि प्रेरणा सात्विक है तो प्रेरित व्यक्ति किसी भी प्रकार अनुकर्ता नहीं हो सकता। सात्विक दशा में भावनायें निःसीम हो जाती हैं और अनुकृति-मात्र को जन्म देने वाले संकुचित साधनों की सीमा से बाहर पड़कर असीम भावों में अभिव्यक्ति पाती हैं। प्रेरित कलाकार किसी प्रेरणादायी वस्तु का बाह्य ढांचा अपने स्थूल उपकरणों से इसलिये प्रस्तुत करता है कि उसकी मौलिक कल्पना की वह आधार-भूमि है। वह उसी प्रसिद्ध ढांचे के सहारे अपने द्वारा कल्पित किसी मौलिक भाव तक सामाजिकों को पहुँचा सकता है। एक ही व्यक्ति के चित्र में असंख्य भावों की अभिव्यक्ति सफल चित्रकार करा देता है। यदि बाह्य ढांचा ही सब कुछ हो तो आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का अर्थ ही कुछ नहीं रह जाता। और यदि आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का सम्बन्ध किसी भी ललित कला से है तो कोई भी ललित कला अनुकृति नहीं हो सकती। कहने को अभिव्यक्ति के साधनों का किसी हद तक अनुकरण हो सकता है पर अप्रत्यक्ष प्रेरणा के फलस्वरूप जो भावात्मक अभिव्यक्तियां गणनातीत हो सकती हैं उनके अनुकार्य कहाँ हैं और वे स्वयं भी किस प्रकार अनुकार्य हो सकती हैं—इसका उत्तर अनुकृति-वादियों के पास नहीं है।

आध्यात्मिक भावों की न इयत्ता है और न ईदृत्ता। वे रूप-रहित और असीम हैं। इसलिये उनको अनुकृति की बात चलाना

ही उपहासास्पद है। हां, जो सबसे बड़ी बात कही जा सकती है वह यही कि भावों की अभिव्यक्ति के साधनों का अनुकरण किया जा सकता है। पर प्रश्न उठता है कि क्या अभिव्यक्ति के साधनों की भी कोई सीमा है? यदि नहीं, तो कैसे कहा जा सकता है कि अनुकार्य की सीमा में जितने साधन थे उनके अतिरिक्त और किसी भी साधन का उपयोग अनुकृति के क्षेत्र में नहीं किया गया? यदि कुछ भी नये साधनों का प्रयोग अथवा उपयोग अनुकृति के क्षेत्र में किया गया है तब तो साधनों का अनुकरण भी कहाँ हुआ? यदि यह कहा जाय कि अनुकार्य के क्षेत्र में जितने भी साधन सम्भव हो सकते हैं उन से बाहर अनुकृति के क्षेत्र में कोई भी नया साधन असम्भव है और इसलिये वहाँ प्रत्येक साधन का अनुकरण ही माना जायगा, तब तो यह 'सम्भव' की बात रही यानी सम्भावना की बात रही जो कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और कल्पना मौलिकता का ही दूसरा नाम है जो हमारे प्रेरणा के सिद्धान्त के अनुसार मौलिक साहित्य-सृष्टि में कारण है। अब यदि ऐसी मौलिकता का नाम भी अनुकृति है, तो बाबा हार मानी ऐसी अनुकृति से जिसके पेट में सचराचर सृष्टि और ब्रह्मजीव-विद्या भी हजम हो जायगी। फिर साहित्य और कला को ही कौन बचाता फिरे। और फिर बचाने की जरूरत भी तो नहीं है, क्योंकि यदि अनुकृति में किसी प्रकार भी मौलिकता का समावेश माना जाता है तो जिसे हम सिद्ध करना चाहते हैं वह स्वयं ही सिद्ध हो गया। अनुकृति मौलिक है—इसका मतलब है कला में अनुकृति परक सिद्धान्त के आधार पर अनुकृति कहलाने वाली कला भी मौलिक है। हम भी यही कहना चाहते हैं कि कला मौलिक है, भ्रान्त, मिथ्या और पुनरुक्त नहीं।

पर अड़चन यह है कि प्लेटोनिक परम्परा में अनुकृति को मौलिक रूप में स्वीकार कहीं किया जाता। 'अनुकृति' शब्द का वास्तविक अर्थ भी 'मौलिकता' जैसे अर्थ के पास बैठने काबिल नहीं है। इसलिये साहित्य अथवा कला के क्षेत्र में अनुकृति का नहीं सात्विक प्रेरणा का सिद्धान्त ही हमारे यहां मान्य रहा है। भारत के आदिकवि को सात्विक प्रेरणा के साथ करुणा-भाव जगा था या करुणा के साथ सात्विक प्रेरणा उदित हुई थी :—

'मा निषाद, प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौंच-मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्'
—बाल्मीकि रामायण।

और आज का सर्वाधिक विकासवादी कवि भी यही कहता है कि साहित्य का उद्गम स्वतः प्रवर्तित अनुभूतियों की प्रेरणा है।

'वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान
उमड़ कर आंखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान'
—सु० न० पन्त।

यह बात बहुत स्वाभाविक है कि क्रौंच-बध से 'आदि कवि करुणा-प्लावित हुआ था, उद्दीप्त हुआ था, प्रेरित हुआ था जो कि उसकी सात्विक दशा का प्रतीक है। इसी सात्विक दशा के सिलसिले में उसकी तत्तत् दशाओं की भावनाएँ एवं कल्पनाएँ रामायण की वह पूर्ण सृष्टि करके मानी जिसका एक-एक रस-कण भी अपने में सर्वांग-पूर्ण है। ब्रह्मा ने तो किसी 'सर्वगुणोपेत' राम जैसे पूर्ण व्यक्ति की सर्जना संसार में की थी या नहीं— इसमें सन्देह है पर वाल्मीकि और तुलसी ने ऐसे सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण व्यक्ति की सृष्टि साहित्य में की है—इसमें किसी को

को कोई भ्रान्ति भी नहीं है। अनुकृति-वादियों से पूछा जाय कि वाल्मीकि और तुलसी के सामने कौन सा संसारी राम उपस्थित था जिसकी अनुकृति उनकी रामायण है। निश्चय ही यह कोई ऐसा राम है जो उनकी कल्पना पर चढ़कर सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण व्यक्तित्व में ढल गया है। प्रेरणा हम किसी सामान्य और अधूरी बात से भी असामान्य और पूरी ले सकते हैं पर अनुकृति हम किसी असामान्य और पूरी बात की भी सामान्य और अधूरी ही कर सकते हैं। अनुकरण अपने अर्थ में कभी पूर्ण नहीं हो सकता। नारद ने वाल्मीकि को ही संक्षेप में दाशरथि राम की कथा सुनाई थी पर वाल्मीकि के लिये वही प्रेरणा बन गई और उसी के आधार पर उनकी कल्पना ने एक अभूत-पूर्व सृष्टि कर डाली। क्या कोई भी यह कह सकता है (प्लेटो को छोड़कर) कि वाल्मीकि और तुलसी ने जिस राम की सृष्टि की है उसका आदर्श-राज्य के भीतर कोई स्थान नहीं है? हजारों वर्षों से जग-जीवन को मंगल-पथ पर से ले चलने वाला वाल्मीकि और तुलसी का आदर्श-राम आज भी असंख्य जनों के असीम हृदय का अधिपति है। विश्व में किसी भी प्रकार का प्रजातन्त्र क्यों न बने पर राम-राज्य का आदर्श कभी मिटने वाला नहीं है।

कवि-सम्राट कालिदास भी यही कहता है कि कविता प्रकृति की अनुकृति से नहीं उसकी प्रेरण से सम्पन्न होती है। उन्हीं का अन्तःसाक्ष्य है:—

'रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोपि सन्
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः

—रघुवंश १।

गुणों से प्रेरित होकर ही उन्होंने अनेक रघुवंशियों के सर्वांग-सुन्दर और पूर्ण चरित्रों की अवतारणा रघुवंश में की है।

इतना हिमालयीय अन्तर रहते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि कुछ युक्ति-विशारद अनुकृति और प्रेरणा को एक ही सिद्ध करने का भगीरथ-प्रयत्न न करेंगे। किन्तु इसपर विचार करने के लिये तर्क से अधिक अनुभव की और बुद्धि से अधिक धैर्य की आवश्यकता है।

अनुकृति का अर्थ है कि जो कुछ भी हम किसी सत्ता-सम्पन्न वस्तु में देखते हैं उसी के माध्यम से उस वस्तु के स्वरूप के हू-बहू प्रतिदान का प्रयत्न। उसमें न राई-रत्ति हमें घटाने का अधिकार है, न बढ़ाने का, तभी वह अपने अर्थ में अनुकृति है। पर क्योंकि किसी वस्तु का पूर्णतः अनुकरण कर सकना असम्भव ही है, इसलिये अनुकृति की परिभाषा के अपने यथासम्भव पूर्ण प्रयत्न में पूर्ण होने पर भी अनुकृति सदैव अपूर्ण ही रहेगी। अनुकृति का उपास्य रूप बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो सकता है पर प्रतिबिम्ब भी बिम्ब का एक भ्रान्त रूप है और इसीलिये असत्य भी है। इस प्रकार अनुकृति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर भी अपूर्ण और असत्य ही सिद्ध होती है।

प्रेरणा का अर्थ है प्रभाव के रूप में किसी वाह्य वस्तु का आदान। यह आदान उद्‌बोध भी बन सकता है यदि ऐसे ही कुछ प्रभाव के संस्कार हमारे हृदय में पहले से ही किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। अनुकृति के लिए नपे-तुले प्रयत्न की आवश्यकता होती है जिसका बिल्कुल ठीक कांटा मानवीय चेतना की किसी भी तुला में मिलना असम्भव है। प्रेरणा ग्रहण करने के लिये प्रयत्न की मात्रा क्या, प्रयत्न-मात्र ही अनावश्यक है। हां, प्रेरणा ग्रहण करने के उपरान्त प्रयत्न हो—यह दूसरी बात है। जितनी अधिक और व्यापक रूप में प्रेरणा ग्रहण करने की क्षमता जिस व्यक्ति में होगी उतना ही बड़ा कलाकार वह होगा,

क्योंकि उस प्रेरणा के फलस्वरूप ही उसकी भावना और कल्पना साहित्य-सर्जना में अग्रसर होगी। अनुकृति की भांति प्रेरणा की पूर्णापूर्णता का कोई पैमाना आवश्यक नहीं है। अनुकृति प्रयत्न-सापेक्ष होने के कारण, अपूर्णता के क्षेत्र में जा पड़ते हैं पर प्रेरणा प्रयत्न-निरपेक्ष होने के कारण, वह अपनी जिस मात्रा में भी है, पूर्ण ही होती है। प्रेरणा-प्रवर्तित प्रयत्न, जिन्हें साहित्य के क्षेत्र में भावना और कल्पना के रूप में पहचाना जाता है, इसीलिए पूर्ण होते हैं कि वह स्वयं पूर्ण यानी निरपेक्ष समझी जाती है। दो टूक बात यह है कि अनुकृति किसी भी मात्रा में पूर्ण नहीं होती और प्रेरणा किसी भी मात्रा में पूर्ण होती है और क्योंकि कला अपने में पूर्ण होती है अतः वह अनुकृति नहीं सात्विक प्रेरणा की सृष्टि है।

यद्यपि अनुकृति में भी प्रयत्न, प्ररणा–संचालित तो होते हैं या हो सकते हैं और प्रेरणा के किसी भी मात्रा में पूर्ण होने के कारण अनुकृति के भीतर किये गये प्रयत्न और तत्फल-स्वरूप स्वयं अनुकृति भी पूर्ण हो सकती थी पर क्या किया जाय ! अनुकृति के भीतर किये गये प्रयत्नों की पूर्णता का निर्णय प्रेरणा के हाथ में न होकर प्रेरणादायी अनुकार्य वस्तु के हाथ में होता है जिसका हू–बहू अंकन असम्भव होने के कारण उनकी (प्रयत्नों की) पूर्णता असम्भव हो जाती है और तत्फल-स्वरूप अनुकृति भी। इसके विपरीत यदि अनुकृति का सिद्धान्त न हो तो आदर्शभूत अनुकार्य के हू–बहू अनुकरण का बन्धन टल सकता है और अनुकार्य के हू–बहू अनुकरण का बन्धन टल जाने से प्रेरणाचालित प्रयत्नों को अपूर्णता का करार देने वाला कोई नहीं रह जाता और तब वे स्वयं में पूर्ण और मौलिक कहलायेंगे। पूर्ण

और मौलिक प्रयत्न, पूर्ण और मौलिक कार्य की ही सृष्टि करते हैं। साहित्य-कला को हम ऐसा ही कार्य मानते हैं।

पकड़ यह है कि अनुकृति भी प्रेरणा-जन्य हो सकती है और साहित्य-कला तो सात्विक प्रेरणा-जन्य होता ही है फिर भी अनुकृति का नाम साहित्य नहीं है। अनुकृति अपने अनुकार्य की पिछ-लग्गू और उसके अधीन होने के कारण परतन्त्र होती है। साथ ही साथ वह उसकी अपेक्षा में सदैव हीन और अवास्तविक भी स्वयं सिद्ध है। पर साहित्य जिस वस्तु से प्रेरणा ग्रहण करता है उसका अनुगामी वह नहीं होता। वह प्रेरणा के अनुसार एक ऐसी वस्तु की पूर्ण भावना और कल्पना करता है जिसकी पूर्णता का पैमाना वह वस्तु नहीं है जिससे उसने उस प्रकार की प्रेरणा ग्रहण की है। यही कारण है कि संसार की किसी अपूर्णवस्तु का चित्र भी सच्चे साहित्यकार की लेखनी से पूर्ण ही उतरता है। कभी भी सर्वांग पूर्ण न होने वाली मनुष्य-योनि में श्रीकृष्ण जैसे शोडष-कला-पूर्ण अवतार की विलक्षण कल्पना यहाँ के विचक्षण कलाकारों ने की है।

प्रेरणादायी वस्तु ही अनुकर्ता के लिये अनुकार्य और उसकी अनुकृति के लिये उपजीव्य होती है पर साहित्यकार के लिये वही प्रेरणादायी वस्तु केवल आधार-भूमि और उसकी साहित्य-सृष्टि के लिये निमित्त-मात्र होती है। अनुकृति, अनुकार्य का बिडम्बित (नकल होने के कारण) और क्षुण्ण रूप है—साहित्य वस्तु-जगत का कल्पित और मौलिक रूप है। बड़े-से-बड़े व्यक्ति की बड़ी से बड़ी अच्छाई की अनुकृति (नकल) खतरनाक है क्योंकि वह अनुकर्ता के मौलिक अस्तित्व को सर्वतोभावेन सोख जाती है—पर छोटे से छोटे व्यक्ति की छोटी से छोटी अच्छाई की प्रेरणा मंगलास्पद होती है क्योंकि वह अपने

सहारे प्रेरित व्यक्ति के मौलिक अस्तित्व को प्रकाश में लाती है। कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का अनुकरण करता है तो यह उसकी हीनावस्था और परतन्त्रता का प्रतीक है और यदि वह उसी से किसी अच्छी बात की प्रेरणा लेता है तो यह उसकी उत्कृष्ट चेतना और स्वतन्त्र विकास का लक्षण है। हिन्दी साहित्य में जिन लोगों ने अँग्रेजी साहित्य की नकल की उन्होंने यही प्रमाणित किया कि भारत इंगलैंड का गुलाम है—पर जिन लोगों ने प्रेरणा ग्रहण की उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि भारत की सनातनी प्रतिभा सदा से मौलिक और विकासोन्मुखी है और वह भी युग की चेतना का प्रतिनिधित्व कर सकती है। विश्व-सागर में 'सोनार-तरी' चलाने वाला टैगोर' और 'अस्तित्व चिरन्तन धनु से, तीर की भांति छूटने' वाला प्रसाद इस युग की चेतना के दो सर्वोत्कृष्ट फल हैं। अनुकृति सीमित प्रेरणा निःसीम। अनुकर्ता से किसी को प्रेरणा मिलना कठिन है—पर प्रेरित व्यक्ति से उसको भी प्रेरणा मिल सकती है जिसने उसे स्वयं प्रेरित किया है। अनुकृति का अर्थ है किसी से पराज्य की स्वीकृति—प्रेरणा का अर्थ है किसी को प्रतियोगिता के लिये ललकारना। जो शिष्य गुरुओं का अनुकरण करते हैं, अच्छे गुरु उन्हें कभी अच्छा नहीं समझते; ऐसे शिष्य निस्तेज और अयोग्य रहकर सच्चे गुरुओं की अन्तरात्मा में करुणा का जलोदर ही पैदा करते हैं पर जो शिष्य गुरुओं से प्रेरणा लेते हैं वे सविनय स्पर्धा के बल पर गुरु-प्रदत्त ज्ञानमय उत्तराधिकार को लेकर आगे निकल जाते हैं; ऐसे ही सुपात्रों में सच्चे गुरु अपने निक्षेप को गुणित-प्रगुणित देखकर कृतार्थ हो जाते हैं। अनुकृति में अनुकर्ता देश-काल और परिस्थित को नहीं देख पाता अतः वह विकास के प्रतिकूल

पड़ती है, पर प्रेरित व्यक्ति देश-काल और परिस्थित के भीतर ही प्रेरणा लेता है अतः वह विकास के अनुकूल पड़ती है। अनुकरण पिछड़ जाने के लिये है—प्रेरणा बढ़ जाने के लिये। संसार में एक की समस्या अनिवार्यतः दूसरे की समस्या नहीं होती और न एक का उत्तर अनिवार्यतः दूसरे का उत्तर। इसलिए एक का अनकरण न तो दूसरे की समस्या हो सकती है और न उत्तर। अपने पड़ोसी का अनुकरण करने वाला व्यक्ति अपते कुटुम्ब का सर्वनाश कर सकता है यदि उसकी समस्याएँ उसके विपरीत हैं, पर किसी भी दशा में अपने पड़ोसो से ली गई शुभ-प्रेरणा, प्रेरित व्यक्ति को किसी भी दशा में विकसित अवश्य करेगी। अनुकृति किसो भी क्षेत्र में अनुकर्ता के व्यक्तित्व को बांध देती है—पर प्रेरणा किसी भी दिशा में व्यक्ति को गतिमय बनाती है। निःसन्देह साहित्य-कला की इससे बड़ी बेइज्जती और क्या हो सकती है कि उसे अनुकृति कहा जाय।

जब साहित्य-कला अनुकृति ही नहीं है तब उसका स्वरूप भी भ्रान्त और मिथ्या नहीं है। और जब साहित्य का स्वरूप भ्रान्त और मिथ्या नहीं है तब उसका प्रयोजन भी भ्रान्त और मिथ्या कैसे हो सकता है? इसलिये साहित्यानन्द निर्भ्रान्ति और सत्य है।

यदि हम प्लेटो के अनुसार एक क्षण के लिये भी यह मान लें कि साहित्य का आनन्द एक प्रकार की भ्रान्ति है तो देखिये कितनी बाधायें सामने आती हैं।

यद्यपि भ्रान्ति, सन्देह की भांति अनिश्चयात्मक नहीं होती, निश्चयात्मक होती है पर वह निश्चित रूप से विपरिणामी होने को बाध्य है। यदि दूर पड़ी हुई रस्ती को देखकर कोई व्यक्ति यह निश्चय न कर सके कि रस्सी है या सर्प—तो यह संदेह का

उदाहरण होगा। पर यदि रस्सी को देखकर कोई यह निश्चय कर ले कि—यह सर्प है—तो यह भ्रान्ति है। किन्तु जब यह भ्रान्ति समाप्त होगी तब अपने उल्टे रूप में ही पर्यवसित होगी। स्वरूप की दृष्टि से भी जो भ्रांति सही जान पड़ती है अन्त में गलित सिद्ध होती है—ऐसा नियम है। फल की दृष्टि से भी इस नियम का अपवाद नहीं मिलता। रस्सी में सर्प की भ्रान्ति से कुछ-न-कुछ भय का संचार होगा ही और भ्रान्ति समाप्त होने पर कुछ-न-कुछ प्रसन्नता या कम से कम सन्तोष की श्वास आयेगी ही। इसके विपरीत दूसरा उदाहरण ऐसा भी हो सकता है जिसमें भ्रान्ति-काल में कुछ आनन्द या प्रसन्नता हो पर भ्रान्ति समाप्त होने पर कुछ विषाद या निराशा उत्पन्न हो। शुक्ति को देखकर यदि किसी को रजत का भ्रम हो रहा है तो देखने वाले को तात्कालिक उल्लास का अनुभव होगा पर भ्रान्ति बीत जाने पर उसे कुछ उन्मनस्कता ही सतायेगी। छोड़िये हर्ष-विषाद की बात। कोई भी भाव जो भ्रान्ति के समय रहेगा वह भ्रान्ति समाप्त होने पर किसी न किसी रूप में बदलने को बाध्य है। अब इसी नियम को जरा साहित्यानन्द की भ्रान्ति पर तो घटाइये ! सारा तख्ता पलट जायगा।

पहली बात तो यह है कि यदि साहित्यानन्द भ्रान्ति है तो भ्रान्ति समाप्त होने पर इसका स्वरूप विषादमय होना चाहिये। पर किसी भी सामाजिक का ऐसा अनुभव नहीं है कि साहित्यानन्द लेने के बाद वह उस आनन्द को गलित या भ्रान्त समझ कर दुःख का अनुभव करे। यदि यह भी मान लिया जाय कि साहित्य-सेवी को साहित्यानन्द लेने के बाद विषाद ही होता है तो वह दुबारा विषाद-परिणामी साहित्यानन्द की ओर क्यों उन्मुख होता है ? यदि यह कहा जाय कि भ्रान्त आनन्द को

प्राप्त करने के लिये वह उधर फिर उन्मुख होता है तो यह बिल्कुल औंधी दलील है, क्योंकि जान बूझकर किसी बात की भ्रान्ति नहीं हुआ करती। यदि किसी को यही मालूम हो गया कि—यह रजत नहीं शुक्ति है—तब उसे उस शुक्ति में रजत का भ्रम ही कैसे हो सकता है और कैसे उस भ्रम का उसे सुखात्मक फल ही मिल सकता है ? किन्तु सहृदय जिस रसात्मक वाक्य को पढ़कर आज आनन्द लेता है उसी को वह कल या फिर कभी अनेक बार पढ़ता हुआ कम आनन्द नहीं लेता। यदि यह रसात्मक वाक्य भ्रान्त है और इसका आनन्द भी एक भ्रान्ति है तो एक सहृदय को इसमें एक बार ही भ्रान्तिवश आनन्द मिलना चाहिये क्योंकि उसे उस पद में एक बार ही तो भ्रान्ति हो सकती है। और जब भ्रान्ति न होगी तो उस पद को दुबारा पढ़ने में उसी सामाजिक को भ्रान्ति-जन्य भ्रान्त आनन्द भी नहीं मिलना चाहिये। पर लोक का प्रत्यक्ष अनुभव इसके विपरीत है। साहित्य-सेवी और सामाजिक एक ही पद्य को बार-बार पढ़-सुनकर आनंद लेता है अतः वह आनंद न तो भ्रान्त हो सकता है और न भ्रान्ति-जन्य। फलतः न तो साहित्य का स्वरूप भ्रान्त है और न उसका प्रयोजन।

यदि कहा जाय कि साहित्य की भ्रान्ति ऐसी भ्रान्ति है जिसका कभी अन्त ही नहीं होता और इसी लिये बार-बार सामाजिक उसका आनन्द लेता रहता है तब तो इसका अर्थ है कि भ्रान्ति शब्द को खींच-तान कर दर्शन-शास्त्र की दीवारों से मिलाया जा रहा है। ऐसी दशा में तो सारा संसार ही एक भ्रान्वि है जिसका कहीं अन्त नहीं हो सकता। और जब यही बात है तो साहित्य-कला को ही भ्रान्ति कहने में क्या तुक है ? यह भी क्यों न कहा जाय कि 'आदर्श-राज्य' की कल्पना भी

भ्रान्त है—'आदर्श-राज्य की कल्पना करने वाला दार्शनिक भी भ्रान्त है—और सारा दर्शन-शास्त्र भी भ्रान्त है।

पर नहीं ! संसार या सृष्टि अपने स्वरूप में नित्य और अनित्य दोनों ही है क्योंकि वह जड़-चेतन का संमिश्रण है। प्रत्येक जड़ में चेतना की अवस्थिति के कारण न तो एकघृष्टता ही आती है और न उसकी सर्वथा समाप्ति ही हो सकती है। इसीलिये अनित्य वस्तु भी अपने परमाणु-रूप में नित्य है। इसी प्रकार चेतना का व्यवहार-क्षेत्र जड़ है। जड़ से बाहर भी चेतन रह सकता है—यह व्यवहार के क्षेत्र की बात नहीं है। ऐसी स्थिति में जब संसार के विकास का प्रश्न उठता है तब वह जड़ के भीतर चेतना की अधिकाधिक क्रिया-शीलता से मतलब रखता है। दूसरे शब्दों में विकास का मतलब न तो केवल जड़ से है और न केवल चेतन से, क्योंकि चेतन के बिना जड़ की कोई उपयोगिता नहीं और जड़ के बिना चेतन का रूप ही अव्यवहार्य है। ज्ञान के नाम पर और आनन्द की गहराई में मानवीय चेतना ने जो कुछ भी उपार्जित किया है उसका अप्रत्यक्ष प्रयोजन यद्यपि अप्रत्यक्ष जगत की ही कल्पना है फिर भी यह कल्पना प्रत्यक्ष जगत में असंख्य प्रत्यक्ष प्रयोजनों की मंगल-भूमि है—इसे कोई भी सांसारिक व्यक्ति भली भांति समझता है। यदि ऐसा न हो तो बताइये कि मानव-मात्र की एक सामान्य भाव-भूमि पर उतारने वाले साहित्य को विशेष भूमियों पर रहने वाले अनेक मानव क्यों पढ़ते हैं ? और एक ही तत्व को "नेति-नेति" कहकर अतद्व्यावृत्ति से पुकारने वाले दर्शन को पंचभूत तत्व वाला प्राणी क्यों याद करता है ?

मानना पड़ेगा कि जड़ के बन्धन में रह कर ही चेतना के विकास का कोई पैमाना हो सकता है। पर क्योंकि चेतना

की कोई इयत्ता और ईदृक्ता नहीं है अतः जड़ के विकास की भी कोई इयत्ता और ईदृक्ता नहीं है। और क्योंकि चेतना स्वयं में निःसीम है अतः वह जड़ में सीमित रहकर भी असीम होने का प्रयत्न नहीं छोड़ती। संसार का जड़ भाग सीमित है, चेतन-भाग निःसीम। इसीलिये संसार सीमित रहकर भी असीम का प्रयत्न करता ही चलता है। दूसरे शब्दों में यह संसार जड़ तत्व में समवेत होने के कारण अपनी पहुंच में सीमित ही रहेगा—अभाव-ग्रस्त ही रहेगा—अपूर्ण ही रहेगा। दूसरी ओर यही संसार चेतन-तत्व के व्याप्त होने के कारण असीम की ओर बढ़ता ही रहेगा—अभावों की पूर्ति करता ही रहेगा—पूर्ण होने का दम भरता ही रहेगा। वास्तव में मनुष्य इस संसार में कबका गति-रुद्ध और निराश होकर बैठ गया होता यदि उसके जीवन में उसे पूर्णता की झांकियां न मिलती रहतीं। वह अपनी पूर्तियों के लिये ही जीवित है। मनुष्य-जाति के असंख्य-कालीन अनुभव को मध्यस्थ बनाकर यह गंभीरता-पूर्वक कहा जा सकता है कि शाश्वत सुख देने वाली पूर्णता की झांकियां मन की सात्विक दशा में ही मिलनी संभव हैं। केवलात्माराम का मार्ग हो—चाहे विश्वात्माराम का, परमात्माराम का मार्ग हो—चाहे स्वात्माराम का, मन के सात्विक तीर्थ पर दीक्षा लिये बिना किसी की यात्रा पूरी नहीं होती। निस्त्रैगुण्य की ओर जाने वाला ज्ञानमार्गी यद्यपि सात्विक दृष्टि से भी परे जाने का प्रयत्न करता है पर सत्व से परिचय करके ही। कर्मयोगी भी अपनी सृष्टि में लिप्त नहीं रहता पर उसकी सृष्टि सात्विक ही होती है। लिप्त न रहने का अर्थ है—वह 'अस्मिता' से शून्य रहता है। साहित्यकार भी एक कर्मयोगी ही है जो अपनी सात्विक सृष्टि में ही अपने को खो देता है। उसका अहंभाव वस्तुतः उसका अहंभाव नहीं होता

बल्कि उसकी सात्विक सृष्टि का अहंभाव होता है। सात्विक सृष्टि का अहंभाव खालिस सत्व ही हो सकता है। इसलिये साहित्य-सेवी या सामाजिक अनायास ही उस सत्व के आदर्श में अभावों की एकमात्र पूर्ति देखता है अर्थात् जीवन का पूर्ण प्रतिबिम्ब लेकर उसे पूर्ण बनाने का संकल्प करता है।

निष्कर्ष यह है कि साहित्य का सात्विक आनन्द जीवन का सबसे बड़ा सत्य है जो मानसिक वृत्तियों के क्षुद्र वैयक्तिक बन्धनों को तोड़कर मनुष्यों की परस्पर नानात्व की भ्रांति को ठिकाने लगा देता है। जो हमारी भ्रांतियों को ही समाप्त करने वाला है उसे भ्रान्त कहकर तो हम अपनी आत्महत्या ही करेंगे: और क्या! दर्शन-शास्त्र विश्व-बन्धुत्व और विश्व-संस्कृति का दुर्गम हिमालय हमारे सामने खड़ा कर सकता है पर जन-जन के भीतर प्रवहमान सात्विक धाराओं का रूप देकर उसका सक्रिय अनुभव कराने वाला एकमात्र साहित्य ही है। मानव-जीवन कभी भी पूर्ण हो सकता है - यह तो नहीं कहा जा सकता पर वह पूर्णता की ओर जितना भी बढ़ रहा है, साहित्य के सत्वपूर्ण संकेत के कारण ही अधिक बढ़ रहा है और जितना भी विकास कर रहा है, साहित्य की सर्वांग-सुन्दर छत्र-छाया में बैठकर ही अधिक कर रहा है। यदि यह भविष्य-वाणी है कि मानव की प्रगति में कभी पूर्ण विराम नहीं लगेगा तो यह उससे भी बड़ी कोई वाणी है कि उसे मार्ग बताने वाला साहित्य उससे सर्वदा चार कदम आगे रहेगा। इसीलिये जो लोग साहित्य-कला को स्वतः पूर्ण कहने का यह अर्थ करते हैं कि उसका जीवन-जगत से और जीवन-जगत की उन्नति से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, उन पर अभी तरस ही खाना चाहिये।

खैर, यह काव्यानन्द के सामान्य रूप का परिचय है। इसकी दो श्रेणियां हमें मिलती हैं। पहली अप्रत्यक्ष-उपदेश संवलित है दूसरी प्रत्यक्ष उपदेश संवलित। अप्रत्यक्ष का मतलब व्यंग्य से है और प्रत्यक्ष का वाच्य से। व्यंग्यत्री का काव्यानन्द अप्रत्यक्ष उपदेश देता है। रस-भावादि की दशा में हमारा हृदय मुक्त होकर सत्व गुणों में स्वयं दीक्षित हो जाता है और हमारी वृत्तियों का अनजाने में परिष्कार होता जाता है। यह अप्रत्यक्ष रूप से सत्व गुण का उपदेश है। वस्तु-अलंकार-ध्वनि में भी कोई बात व्यंग्य रूप से ही सामने आती है वाच्य रूप से नहीं इसलिये इसका निशाना भी ठीक हृदय पर ही बैठता है बुद्धि पर नहीं जो तर्क-वितर्कों में विदलित हो जाती है। व्यंग्य-मात्र उसी का नाम है जो पहले सामजिक के संस्कार-स्वरूप हृदय में वस्तु या भाव की अनुभूत दशा में दबा पड़ा रहता है और फिर उद्बुद्ध होकर सामाजिक के लिये अपनी ही वस्तु या भाव के रूप में आस्वादनीय होता है। यही कारण है कि जब किसी बात का उपदेश व्यंग्य होता है तब वह विषयि-गत (सब्जैक्टिव) ही होता है विषय-गत (औब्जैक्टिव) नहीं, बाह्य शब्दार्थ-व्यापार से यह केवल जागृत हो जाता है। रस-भावादि ध्वनि और वस्तु-अलंकार ध्वनि का जोड़ इसीलिये बराबरी में छूट जाता है और दोनों को उत्तम काव्य की कोटि में रखकर ध्वनि-मात्र को काव्य की आत्मा मान लिया जाता है—

'काव्यस्यात्मा ध्वनि——————'

—ध्वन्यालोक।

काव्यानन्द की जो कोटि प्रत्यक्ष उपदेश-संवलित होती है उसका मतलब साहित्य के व्यंग्य-शून्य वाच्य क्षेत्र से है। यहाँ शब्द और वाच्यार्थ की ही साहित्यिक संवेदना (देखिये प्रथम-

परिच्छेद, प्रकरण ४) के कारण काव्यानन्द अपनी न्यूनतम दशा में रहता है पर जो कुछ भी संवेदना-मूलक आनन्द होता है उसके कारण प्रत्यक्ष उपदेश या वाच्य उपदेश विषय-गत होते हुए भी कुछ-न-कुछ रमणीय अवश्य हो जाता है और इसीलिये कान्ता-संमित कहलाता है। संक्षेप में कहना चाहिये कि जहाँ साहित्य हमें ज्ञानमय उपदेश भी देने लगता है वहाँ भी उसके ज्ञान-रूप प्रयोजन की स्थिति सविशेष होती है अर्थात् रमणीयता से अविच्छिन्न होती है जब कि साहित्येतर वाङ्मय में उसके ज्ञान-रूप प्रयोजन की स्थिति निर्विशेष रहती है अर्थात् रमणीयता से विच्छिन्न रहती है।

सविशेष प्रयोजन से हमारा मतलब है विजातीय-तत्व-संश्लिष्ट होने से—जैसा कि साहित्य के प्रयोजन में ही भाव और ज्ञान के संश्लेष से होता है। और निर्विशेष प्रयोजन से मतलब है विजातीय-तत्व-विश्लिष्ट होने से—जैसा कि साहित्येतर वाङ्मय के प्रयोजन में ज्ञान के केवल रूप से होता है। इसकी तिरछी अर्थ-चोट यह है कि सजातीय-तत्व-संश्लिष्ट प्रयोजन भी साहित्येतर वाङ्मय में रह सकता है जिसे हम विशिष्ट प्रयोजन कह सकते हैं, सविशेष नहीं। उदाहरण से यह बात साफ होगी।

संसार की वस्तुओं में नानात्व की प्रतीति होने के कारण वस्त्वात्मक ज्ञान भी नाना प्रकार के होते हैं। उनमें वस्तुतः कोई किसी से विशिष्ट नहीं पर विभिन्न अवश्य होते हैं। इस ज्ञान वैविध्य के आधार पर मनुष्य-जाति ने वाङ्मय की कुछ शाखायें बना रखी है। इतिहास में तथ्यवाहिनी घटनाओं का संकलन, भूगोल में चराचर की वस्तु-स्थिति का वास्तविक अव-स्थान, गणित में सिद्ध परिणामों का पर्यंकन—आदि-आदि अपने-अपने विषय की संगति के प्रयत्न हैं जो तर्क की सीमा में

मनुष्य-मात्र को विभिन्न पर एक ही सामान्य ज्ञान की ओर ले जाते हैं।

विज्ञान में सामान्य ज्ञान के आधार पर सिद्ध नियमों के द्वारा किसी विशेष बात को व्यवस्था दी जाती है। व्यवस्थित ज्ञान का नाम ही विज्ञान है। इसीलिये जानने और समझने में अन्तर है। पहले में शास्त्रीय दृष्टि से वस्तु की प्रकटता और संवित्ति ही पर्याप्त है दूसरे में प्रयोग और निरीक्षण के बल पर विश्लेषण की आवश्यकता है। अर्थात् विज्ञान विशिष्ट ज्ञान का उदाहरण है।

और शास्त्रीय ज्ञान? यह भी विशिष्ट ज्ञान है। व्यवस्था के सिद्धान्तों तक तो विज्ञान और शास्त्र की खूब पटती है किन्तु आगे चलकर एक का दृष्टि-कोण वास्तविक और दूसरे का आध्यात्मिक हो जाता है। विज्ञान अन्ततोगत्वा अपने को वस्तु विश्लेषण में खो देता है किन्तु शास्त्र वस्तुओं के आध्यात्मिक प्रभाव का अध्ययन करता हुआ मनुष्य की ओर लौट आता है। विज्ञान की सर्वोच्च श्रेणि जीव-विज्ञान या मनोविज्ञान है जहां चैतन्य-प्रवर्तित प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण है—पर शास्त्र की पराकाष्ठा दर्शन-शास्त्र है जहां जड़-चेतन की आध्यात्मिक सत्ता का विचार है। विज्ञान बाह्य घटनाओं का निरीक्षण करता है अतः उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी है—पर शास्त्र अप्रत्यक्ष प्रभाव का मनन करता है अतः उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है। एक का क्षेत्र बुद्धि-प्रयुक्त प्रपंच है—दूसरे का बुद्ध्यधिष्ठित आत्मा। पहले का फल बौद्धिक प्रासाद है—दूसरे का आध्यात्मिक शान्ति। एक की आस्था मानवीय ज्ञान के मूर्त रूपों में है और स्थूल प्रकृति पर अपने विजय चिह्न देखकर चंचल हो उठता है—दूसरे की श्रद्धा मूर्त रूपों के अमूर्त प्रभावों में है और प्रकृति के साथ

एकात्मीयता में डूब जाता है। एक बाहर छा जाना चाहता है—दूसरा सब-कुछ भीतर समेट लेना चाहता है। पहले का पुरुषार्थ काम और अर्थ से जूझता है—दूसरे का धर्म और मोक्ष में पर्यवसित होता है।

कहाँ तक एक-एक शाखा का विवेचन किया जाय! साहित्येतर सारे वाङ्मयों में ज्ञानापरपर्याय प्रयोजन की स्थिति सामान्य है भले ही ज्ञान कहीं सामान्य हो और कहीं विशेष। इतिहास भूगोल-आदि में विविध ज्ञान प्रजोजन हैं; विज्ञान, शास्त्र आदि में विशेष ज्ञान। यह केवल श्रेणि-भेद है। सर्वत्र ही ज्ञान एक है अथवा सजातीय। पर जैसा कि पीछे कहा जा चुका है—साहित्य का ज्ञानमय प्रयोजन भी विजातीय तत्व भावना से संश्लिष्ट रहता है इसीलिये सविशेष कहा गया है। इस प्रकार साहित्य के और साहित्येतर वाङ्मय के प्रयोजनों की ये दो समानान्तर रेखायें हैं जो मानव-जीवन के साथ-साथ सदैव एक दिशा में चलती रहेंगी पर कभी आपस में नहीं मिल सकेंगी।

३

साहित्य के स्वरूप और प्रयोजन की मूल मीमांसा हो चुकी। अब उसके पल्लवन के साथ-साथ कुछ इधर-उधर की कांट-छांट करनी है।

लोक की भांति साहित्य में भी प्रयोजन और फल दोनों होते हैं। हम इन दोनों में प्रायः कोई मूर्त अन्तर नहीं रखते। मोटे तौर पर कभी प्रयोजन को फल और कभी फल को प्रयोजन कह दिया करते हैं। किन्तु दोनों सदा एक ही नहीं हुआ करते। सच तो यह है कि प्रयोक्ता, प्रयत्न और यौगपद्य की दृष्टि से तो कभी भी एक नहीं हो सकते। मान लीजिये एक छात्र है। उसका प्रयोजन है परीक्षा में उत्तीर्ण होना तो विद्वत्ता-प्राप्ति या जीविका-प्राप्ति उसका फल हो सकता है। जब वह परीक्षार्थी ही ठहरा तो उसके आपरीक्षा-साफल्य व्यापार प्रयत्न कहलायेंगे। ये प्रयत्न उसके प्रयोजन के साथ चिपटे हुए रहेंगे फल के साथ नहीं। शास्त्रीय भाषा में कहा जायेगा कि फल की स्थिति प्रयत्नों के व्यवहितोत्तर काल में है और प्रयोजन की अव्यवहितोत्तर-काल में। अर्थात् प्रयत्न और फल के बीच प्रयोजन की स्थिति रहती है। प्रयोजन का अर्थ ही है – प्रयोग-परिणमन यानी प्रयत्नों की अन्तिम और फल की प्रारम्भिक सीमा का योग। अब यदि उसी छात्र का प्रयोजन विद्वत्ता या विद्या प्राप्त करना है जिसको पहले फल कहा गया था तो उसकी परीक्षा-विषयक सफलता, जो पहले प्रयोजन थी, शुद्ध प्रयत्न बनकर रह जायगी। ऐसी अवस्था में वह छात्र विद्यार्थी कहा जाना चाहिये परीक्षार्थी नहीं क्योंकि

उसके प्रयत्न इस सिद्धान्त की पुष्टि करेंगे—पढ़ने के लिये परीक्षा दो, परीक्षा के लिए मत पढ़ो। इसका मतलब हुआ कि एक ही व्यक्ति की दृष्टि में, एक ही वस्तु प्रयोजन और फल हो सकती है पर भिन्न-भिन्न कालों में। प्रयोजन और फल की एक ही व्यक्ति के लिए एक-कालावच्छिन्न युगपत् स्थिति असम्भव है। और यदि एक ही वस्तु एक-कालाच्छेदेन युगपत् प्रयोजन और फल दोनों हो सकती है तो वह प्रयत्न भेद से दो भिन्न अधिष्ठान या प्रयोक्ताओं के बीच ही। जैसे जीविका-प्राप्ति दो छात्रों में से एक के लिये प्रयोजन और दूसरे के लिये फल एक ही साथ हो सकती है।

प्रयोजन और फल में बहुत ही मोटा अन्तर यह है कि स्वरूप की दृष्टि से प्रयोजन निश्चित होता है और फल अनिश्चित। प्रयोजन अनुकूल रहने पर ही प्रयोजन है। प्रतिकूल दशा में प्रयोजन को प्रयोजन ही कहते नहीं बनता, किन्तु फल प्रतिकूल होकर भी फल ही कहलाता है। प्रयोजन सिद्ध किया जाता है अतः वह साध्य होता है। और साध्य कभी-कभी दूर ही रह जाता है किन्तु फिर भी उसका स्वरूप नहीं बदलता, इसलिये वह निश्चित है। फल के लिये प्रयत्न की योजना अनिवार्य नहीं है। निरपेक्ष प्रयत्न भी किसी न किसी फल की प्राप्ति के कारण बन जाते हैं। इसलिये व्यापार-मात्र का, जिसमें प्रयत्न भी आ जाते हैं, फल अवश्य प्राप्तव्य होता है, भले ही उसका रूप बदल जाय। व्यवहार में 'कुफल' शब्द फल की इसी अनिश्चतता का सबूत है जिसके स्वरूप के बारे में पहले से कुछ भी निश्चित नहीं रहता।

जिस प्रकार स्वरूप की दृष्टि से प्रयोजन निश्चित और फल अनिश्चित होता है, ठीक इसके विपरीत उपलब्धि की दृष्टि से

प्रयोजन अनिश्चित और फल निश्चित होता है। प्रयोजन स्वरूपतः निश्चित है तो इसका मतलब यह नहीं है कि उसकी उपलब्धि भी निश्चित है। नहीं यह आवश्यक नहीं है कि हम इच्छा-पूर्वक लाख प्रयत्न करके भी अपने प्रयोजन को प्राप्त ही कर लें। दूसरी ओर इच्छा न रहने पर भी हमारा किसी-न-किसी प्रकार के फल से बच सकना असम्भव है। प्रयोजन सिद्ध होता है तो इच्छा के अनुकूल ही—पर इच्छा के प्रतिकूल भी फल प्राप्त होता ही है।

थोड़ा और भी धैर्य से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि कभी-कभी प्रयोजन और फल में गम्भीर विरोध रहता है। बहुधा देखा गया है कि हमारा प्रयोजन तो कभी-कभी सिद्ध हो जाता है किन्तु फल चारों कोने विपरीत पड़ता है इसके दिष्ट और निर्दिष्ट अनेक कारण हो सकते हैं पर हम इसके एक कारण पर ही विचार करेंगे जिससे हमारा प्रासंगिक प्रयोजन है। वह है प्रयोजन की अतिवादिता या उसका अतिवादी रूप। जब हम किसी अच्छे से अच्छे प्रयोजन को भी अत्यधिक महत्व देने लगते हैं तब वह हमारे अनुकूल फल के प्रतिकूल पड़ सकता है या दूसरे शब्दों में प्रतिकूल फल उत्पन्न कर सकता है। यदि किसी का प्रयोजन जिह्वा-तृप्ति ही है तो उसे हर समय मरने के लिये तैयार रहना चाहिये, उसके अतिवादी रूप का यही फल है।

साहित्य का क्षेत्र भी प्रयोजन की इस अतिवादिता से शून्य नहीं है यही प्रास्ताविक विवेचन है। भारतीय साहित्य में ही इसकी पुनरावृत्ति हो चुकी है। एक समय आया था जब संस्कृत में यही प्रयोजन अपनी अति शृंगारिकता में फूट पड़ा था और महाकवियों के सर्ग पर सर्ग इसी में रंगे गये थे। पर भाग्य से या दुर्भाग्य से

संस्कृत की प्रगति को ही एक ऐसा वैद्युत झटका लगा कि सबकुछ चौपट हो गया। इच्छा थी पुत्र की, पति पर आ बनी।

हिन्दी ने संस्कृत का उत्तराधिकार लिया। माता की अपूर्ण अतिकामना का असर पुत्री पर भी पड़ा और इसके अनुकूल उसे वातावरण भी मिल गया। हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य इसी का सबूत है। इस समय शृंगार की रस-राजता आपे से बाहर हो गई और यह न सोच सकी कि उसके अभिषेक के क्या कारण थे। प्रयोजन की अतिवादिता प्रयोक्ता और उपभोक्ता के लिये प्रतिकूल फल ही नहीं लाती बल्कि जिस वस्तु का वह प्रयोजन होता है उसका स्वरूप भी बिगाड़ देती है। हिन्दी के रीति-साहित्य के प्रयोजन की अतिशृंगारिकता उसके पेट का जलोदर बन गई जिसके कारण उसका स्वस्थ खून बनना बन्द हो गया और वह पीला पड़ गया।

योरोपीय साहित्य में तो प्रयोजन की अतिवादिता का शृंखलाबद्ध इतिहास बड़े मजे का है। वहाँ अनेक सैद्धांन्तिक प्रयोजन साहित्य में प्ररोह-मात्र बनकर वन्ध्या सुन्दरियों के यौवन की भांति उजड़ गये। उनके अतिचारी रूप का कटुफल सामाजिकों के गले से नीचे न उतर सका।

साहित्य का प्रयोजन यद्यपि साहित्य के स्वरूप में ही निहित होता है पर प्रयोजन की अतिवादिता तब कहलाती है जब साहित्य स्वरूप की व्याख्या प्रयोजन-परक ही होने लगती है। एक बार किसी साहित्यकार ने कहा था कि 'कविता जीवन की व्याख्या है।' साहित्य की परिभाषा के रूप में यह कथन बुरा नहीं था। किन्तु जरूरत से ज्यादा सीधे लोगों ने इसे जरूरत से ज्यादा समझा और जीवन की व्याख्या को ही साहित्य का प्रयोजन बना डाला। मौसमी साहित्य के नीम-हकीम 'जीवन की व्याख्या' का मतलब जीवन की चीर-फाड़ ले बैठे और फिर लगा साहित्य

के क्षेत्र में 'सर्जरी' का काम जोरों से प्रारम्भ होने। जीवन के वीभत्सतम चित्र लेखकों के मानस-पट पर उतर आये और उन्होंने अपनी लेखनी से उन्हें खोलकर पाठकों के अध्ययन-मंच पर यह कहते हुए रखा कि मानव की विषम ग्रन्थियों का मवाद इसी प्रकार सुखाया जा सकता है। आज भी साहित्य के इस अस्पताल में अनेक बाद, आवाद हैं। इनके पास जीवन सामग्रियाँ तो हैं पर जीवन का अभाव है। उपचार तो है पर प्राण नहीं है। बौद्धिक व्यायाम खूब है पर हृदय लापता है। शरीर है पर आत्मा कहीं चला गया है। यथार्थवादी और प्रकृतिवादी प्रयोजनों की अतिवादिता कुछ ऐसा ही पराक्रम दिखा रही है।

यहाँ किसी काव्य-रेखा का खण्डन-मण्डन हमें अभीष्ट नहीं है। प्रयोजन की चर्चा चल रही है। 'प्रयोजन मनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' के अनुसार जीवन के किसी भी क्षेत्र से प्रयोजन को विदा नहीं किया जा सकता तो साहित्य कोई आसमान का टूट नहीं है जिसके नक्षत्र तर्जनी से दिखाकर अलग पड़ें किन्तु साहित्य वही नहीं है जो भौतिक जीवन है। प्रारम्भिक ज्ञान के लिये हम भले ही काव्य की तुलना मनुष्य से कर लें—काव्य के माधुर्यादि गुणों की तुलना मनुष्य के दया-दाक्षिण्यादि गुणों से कर लें—उसके उपमादि अलङ्कारों की उसके अङ्गदादि अलङ्कारों से कर लें—उसकी रीति-रचनाओं की उसके अंग-संगठन से कर लें—उसके श्रुतिकटुत्वादि दोषों की उसके काणत्वादि दोषों से कर लें—उसके शब्दार्थ की उसके शरीर से कर लें और उसके रस-तत्व की उसके आत्म-तत्व से कर लें। नहीं तो जब प्रश्न उठता है कि क्या भौतिक जीवन का यथार्थ और साहित्य का यथार्थ एक ही है तो विरोध में साहित्य-सूरियों के सिर हिल जाते हैं। बात यह है कि भौतिक जीवन में अनेक पापाचरण की प्रत्यक्ष

घटनायें देखने में आ जाती हैं जिनका स्मरण-मात्र भी मानवता का अमंगल है। इसी लिये ऐसी जघन्य घटनाओं का, जो प्रत्यक्ष ही लोक का सत्य है, साहित्य में हू-बहू अंकन सबसे बड़ा असत्य होगा। शकुन्तला में कालिदास को दुर्वाषा के शाप की कल्पना इसीलिये करनी पड़ी कि उसके बिना गान्धर्व-विवाह करके शकुन्तला को दुत्कार देने वाला दुष्यन्त, नायक की अपेक्षा सामान्य मनुष्य और मनुष्य की अपेक्षा पशु अधिक सिद्ध होता। और यह साहित्य के संसार में बहुत बड़ा अयथार्थ और साहित्यकार की सृष्टि का बहुत बड़ा पाप होता। जिसे हम देखते हैं वही सत्य नहीं है—वह भी सत्य है जिसे हम नहीं देख पाते। क्योंकि सत्य अनन्त है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। संसार तो उस सत्य का एक चरण-मात्र है— पादोस्य विश्वाभूतानि। इसलिये जहाँ एक ओर मनुष्य के पैरों की प्रत्यक्ष पशुता को साहित्य असत्य घोषित करता है वहीं दूसरी ओर मनुष्यता के सम्भावित क्षितिज पर वह सब कुछ सत्य मानने को तैयार है।

साहित्य का काम मनुष्य के भीतर बैठे हुए पशु को सधाना रहा है—उसका रस्सा खोलना नहीं। इतिहास, भूगोल विज्ञान-आदि के निर्बल कंधे इस भार को नहीं सम्हाल सकते। ये तो भय से मनुष्य के पशु को रास्ता और दे देते हैं। पहले इसकी हिंसावृत्ति, दश-पांच या सौ-पचास जीवन समाप्त करके ही शान्त हो जाती थी पर आज तो विज्ञान की बदौलत उसके हाथ में अणु-शक्ति है जो एकक्षण में लाखों के प्राण सूंघ सकती है। निःसन्देह साहित्य ही मनुष्य को उस सामान्य भाव-भूमि तक पहुंचाता है जहां ऐसी सात्विक धारा बहती है जिसमें स्नान करने से समस्त कटु-वृत्तियों के बुखार उतर जाते हैं। ऐसे ही साहित्य के लिये साहित्यकार साधना करता है। वह मानव-मात्र के हृदय में बैठता ही नहीं

उससे तादात्म्य कर लेता है। स्थावर-जंगम से विहार ही नहीं करता—उसमें खो जाता है। इस विराट-रूप संसार में घुलकर वह स्वयं विराट हो जाता है। उसके हृदय की स्फूर्ति और शक्ति का मानो पारावार ही नहीं जिसमें वैयक्तिक सीमायें डूब जाती हैं—जातीय सीमायें डूब जाती हैं—राष्ट्रीय सीमायें डूब जाती हैं। वह मनुष्य के भीतर मनुष्य को देखता है। घर, नगर, प्रांत देश, नदी, पर्वत, समुद्र उसकी इस दृष्टि के प्रतिबन्ध नहीं बन सकते। टैगोर ने एक अन्तिम कविता में अपने को विश्व के कण कण में खो देने की बात कही थी। सचमुच अमर कलाकार की यही विलक्षण मुक्ति है। वह सबकी छाती की धड़कन होता है—सबके हृदय की श्वास होता है—सबकी आत्मा का स्वात्माराम होता है।

सो ऐसे साहित्य का यथार्थ क्या है—इसे वही समझ सकता है जिसका पैर स्वार्थ के सिर पर है और सिर परमार्थ के पैरों में। गणित-शास्त्री 'एक और एक' दो कहेगा। उसे क्या पता कि साहित्य में एक-और-एक ग्यारह भी हो सकते हैं। भौतिक संसार का घसखुदा, विमाता के पुत्र को सौतेला भाई ही कहेगा। उसकी समझ के परदे को यह बात छू भी नहीं सकती कि तुलसी का शोक-विह्वल प्रलापी राम, लक्ष्मण को सहोदर भाई भी कह सकता है। कीर्ति-तृष्णा का मारा हुआ कोई दुर्विदग्ध जब अपनी ज्ञान-सागर में सूर-सागर को भरने लगेगा तो यशोदा की बालकृष्ण के प्रति कही गई इस पंक्ति को—'सूर स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत' तक समझ कर बिदक जायगा। संसार की घिसाघिसी में मर मिटने वालों को यह एक अचम्भे का बच्चा है कि सूरदास ने देवकी के पुत्र कृष्ण को सौगन्ध-पूर्वक यशोदा का 'पूत' कैसे बना दिया। ज्ञान का सूखा शंख फूकने

वालों के कानों तक यह बात पहुंच ही नहीं सकती कि विचारों की संगति का स्वतन्त्र प्रयोजन साहित्य के विराट शरीर में नहीं है—वहां भावों की संगति भी देखी जाती है। उन्हें कौन समझाये कि साहित्य मानवता की सम्भावनाओं की वह सामान्य भाव-भूमि है जिसके मार्ग में पड़कर चलने वाला कोई भी किसी से नहीं टकराता। साहित्य की इसी सम्भावना के साथ ताल मिलाकर चलने वाला जो कुछ भी है सब सत्य है, यथार्थ है, परमार्थ है।

ऐसा साहित्य मानव-जीवन की व्याख्या नहीं—मानवता का प्रतिनिधि है। जिन गुणों के कारण मनुष्य, मनुष्य कहलाता है उनका प्रतनिधित्व वह करता है। इसीलिये साहित्य पशुओं के लिये नहीं लिखा जाता पशुओं को समझने के लिये भले ही लिखा जाता हो। साहित्य को जीवन की व्याख्या बताने का मतलब है कि वह जीवन का यथासम्भव यथावत् प्रदर्शन है पर साहित्य को जीवन का प्रतिनिधि कहने का अर्थ है कि वह जीवन का यथा-सम्भव यथावत् पूर्ण रूप है। इसीलिये प्रदर्शन और प्रतिनिधित्व में अन्तर है। प्रदर्शन समस्या-प्रधान होता है—प्रतिनिधित्व समाधान-प्रधान। साहित्य पेट दिखाकर रोटी नहीं मांगता, वह मानव-मात्र की वदान्यता-वृत्ति से समाधान पेश करता है। प्रदर्शन अच्छी बुरी दोनों बातों का किया जाता है जिनमें से किसी भी एक को अथवा दोनों को ही ग्रहण करने के लिये कोई भी व्यक्ति स्वतंत्र है। किन्तु प्रतिनिधित्व अच्छी या बुरी बातों में से, जिसका बहुमत हो किसी एक का ही किया जाता है। जानवरों के प्रतिनिधित्व के लिये हम भले ही किसी मनुष्य को चुन लें क्योंकि मनुष्य सबसे बड़ा जानवर है किन्तु मनुष्यों के प्रतिनिधित्व के लिये हमें महात्मा गांधी चाहिये।

साहित्य अच्छी बुरी बातों का इस प्रकार प्रदर्शन नहीं करता कि पाठक दोनों में से चाहे किसी को ग्रहण करने में स्वच्छन्द हो। वह तो बुराइयों के बीच अच्छाइयों को अधिक से अधिक ग्राह्य बनाकर प्रवृत्ति निवृत्ति का स्वरूपतः ऐसा रूप खड़ा कर देता है कि पाठक की उन्मुक्त सत्ता अच्छाइयों को ही पकड़ कर बैठ जाती है और उठाये नहीं उठती। प्रदर्शन परवशता की प्रतिक्रिया भी हो सकती है पर प्रतिनिधित्व अपने अनुरूप प्रतिनिधेयों के अधिकार का अधिकृत रूप ही होता है। साहित्य खीजकर या विदलित होकर किसी नैतिकवाद या राजनैतिकवाद के झंडे का मुखापेक्षी नहीं है, वह तो साधिकार अनन्यशरण हृदय की मुक्ति के मोहक-मन्त्र का स्रष्टा और द्रष्टा दोनो है।

मार्क्सवादी सिद्धान्तों के लिये हमारे हृदय में आदर है। किन्तु मार्क्सवादी सिद्धान्तों के एजेन्ट्स के रूप में लिखे गये साहित्य को साहित्य कहने में हमें सीधे-सादे ऐतराज हैं। हम उसे एक साहित्यिक सिद्धान्त भी न कहकर अधिक से अधिक सैद्धान्तिक साहित्य ही कह सकेंगे। और यदि बिल्कुल रू-रियायत न की जाय तो उसे एक सैद्धान्तिक प्रयोग ही कहना चाहिए। गनीमत है कि भारत के मार्क्सवादी साहित्यकार जो भी हैं उन्होंने भारत की सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल विस्तृत भाव-भूमि में सस्य-सम्पन्न खेतों को बचाते हुए आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं उक्त सिद्धान्तों के ऐसे पौधे लगाये हैं जो कदाचित् यहाँ की जलवायु में पनप सकते हैं और परिश्रान्त बुभुक्षितों को छाया-फल का आश्वासन दे सकते हैं। पर जैसा कि प्रथम परिच्छेद में अनुभूतियों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि साहित्य में कोई भी सिद्धान्त अनुभूतियों के माध्यम से ही आना चाहिए, नहीं तो वह बौद्धिक सहानुभूति के अतिरिक्त और कुछ

भी नहीं रह जायगा और सम्भावना तो यहाँ तक है कि शुष्क-सिद्धान्तों के ये जबाबी-साहित्य वर्ग-वाद के पचड़े में पड़कर प्रोपैगण्डा के अखाड़े ही बन कर रह जाँय।

पूछा जा सकता है कि मानवता का प्रतिनिधित्व करने वाला साहित्य मानव की समस्याओं का प्रतिनिधित्व करेगा कि नहीं। इसका उत्तर स्वीकारात्मक है किन्तु इस संशोधन के साथ कि वह मनुष्य या मनुष्यों की ही नहीं मनुष्य-मात्र की समस्याओं का प्रतिनिधित्व करेगा। फलतः किसी एक वर्ग की समस्याओं को लेकर दौड़ पड़ने वाला साहित्य एक ऐसा पालतू जानवर है जो साहित्य की खाल ओढ़कर दूसरों की सम्पत्ति चर जाना चाहता है। सरस्वती के दरबार में प्रत्यक्ष राग-द्वेष की पूर्तियाँ नहीं होती। हिंसा की ही जड़ खोद कर फेंकने वाला साहित्य; प्रतिहिंसा की शिक्षा नहीं दे सकता।

आखिर अर्थ ही जीवन की एक मात्र समस्या नहीं है जिसे इतना महत्व दिया जाय। और यदि अर्थ ही सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है तो उसका समाधान भी अर्थ के द्वारा सोचना दुःस्वप्न है। करण, अर्थ अपने एकान्त रूप में कभी सुलझ ही नहीं सकता। अर्थ का मूल रूप इच्छा है और उपलब्ध रूप भी इच्छा ही है। अर्थ के मूल में भी काम है और फल में भी। इच्छा मात्र का सम्बन्ध उपलब्धि से है और उपलब्धि-मात्र का इच्छा से। इस प्रकार इच्छा का पर्यवसान इच्छा में होता है। इसीलिये अर्थ काम के साथ कभी पूर्ण नहीं हो सकता अर्थात् अपनी ही व्यवस्था से सुलभ नहीं सकता। जीवन में अर्थ को व्यवस्था देने वाला केवल धर्म है जो अपनी परिवर्तनशील नैतिक शक्ति के साथ समय-समय पर उपस्थित होता रहता है। धर्म जीवन के नैतिक रूप का लक्ष्य स्थिर करता है और नीति जीवन

के धार्मिक रूप का पथ प्रशस्त करती है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में जिन लोगों ने चतुर्वर्ग को यानी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों को स्वीकार नहीं किया उन्हें भी त्रिवर्ग यानी धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों को अवश्य स्वीकार करना पड़ा। द्विवर्ग अर्थात् काम और अर्थ की स्वतन्त्र व्यवस्था भारतीय मनीषा ने इसीलिये नहीं की कि यह स्वयं में सदैव अपूर्ण और अनन्त मृग-तृष्णा है।

अच्छा मान लिया कि एक-मात्र अर्थ ही मानव की समस्या है तो जिज्ञासा होती है कि इसे पूर्ण कराने का बलबूता मार्क्स-वादी साहित्यकारों के पास है या नहीं? यदि वे इसे कभी भी हल न कर सकेंगे तो व्यर्थ की अशान्ति बनाये रखने से क्या लाभ है? और यदि उन्हें किसी प्रकार भविष्य में इसे हल कर लेने की आशा है तो दूसरी जिज्ञासा है कि इसे हल कर लेने के बाद वे फिर क्या करेंगे? क्या वे एक-मात्र अर्थ की व्यवस्था के लिये लिखे गये साहित्य को अर्थ-व्यवस्था पूरी होने पर उसी प्रकार अलग फेंक देंगे जिस प्रकार कुम्हार घड़ा बनाने के बाद डण्डे को नमस्कार करके कोने में रख देता है? यदि नहीं तो क्या वे उस साहित्य को इसी लिये छाती से लगाये रहेंगे कि वह किसी युग-विशेष की आर्थिक समस्याओं के समाधानकी स्मृति है? घटना-विशेष की स्मृति मात्र के लिये तो साहित्य नहीं लिखा जाता, यह काम तो इतिहास का है। इस काम के लिये लिखा गया साहित्य किसी दिन निश्चय ही इतिहास में अपना धर्म-परिवर्तन कर लेगा। और यदि वह भविष्य की समस्याओं को भी किसी प्रकार सुलझाने में सहायक होता है तो उसे कानून के भीतर किसी विधान की पुरानी धारा समझ लीजिये; और क्या?

इसलिये जीवन के जिस अविनाशी तत्व की छाया में मनुष्य

जाति आबाद है उसके प्रतिनिधि साहित्य की रीढ़ भी वहीं टटोलनी चाहिये। जीवन का मूल तत्व नहीं बदलता, उसके बाहन थक-थक कर बदलते रहते हैं। सुख-दुःख अपने स्वरूप में अनैकान्तिक हो सकते हैं क्योंकि जो एक के लिये सुख है, दूसरे के लिये दुःख हो सकता है और जो एक के लिये दुःख है दूसरे के लिये सुख हो सकता है, किन्तु जीवन के रूप में सुख-दुख का द्वन्द सदैव शाश्वत है और जीवन-मात्र के साथ इसका नित्य साहचर्य है। अर्थात् द्वन्द (सुख-दुःखात्मक) की अनुभूति प्रत्येक की अनुभूति होने के कारण सार्वजनिक है। साहित्य इसी को अभिव्यक्ति देता है इसीलिये वह सर्वजनीन है और जीव-मात्र की एकता का सुत्रधार है।

सुख-दुःख के माध्यम से ही हम जीवन की एकता को समझ सकते हैं—इसका मतलब यही है कि सुख-दुःख के अतिरिक्त जीवन का कोई रूप ही नहीं है। इसीलिये तो कहा जाता है कि जीवन नहीं बदलता। किन्तु सुख-दुःख का कारण यह वस्तु-जगत है जो नित्य-परिणामी है। इसीलिये कहा जाता है कि जीवन के परिधान बदलते हैं। कहना है कि जीवन अपने स्वरूप में शाश्वत रहकर अपनी प्रयोजनापेक्षिणी दृष्टि के कारण किसी वस्तु को चंचल गौरव ही प्रदान कर सकता है। इस चंचल गौरव का ही मतलब है—कि जीवन विकसित हो रहा है। यदि जीवन अपने उपकरणों के प्रति भी एक-रस हो जाय तो वह स्तब्धवृत्तिक (स्टैगैनेण्ट) और जड़ीभूत होने से नहीं बच सकता। यही कारण है कि जीवन नहीं बदलता पर उसके मूल्य बदलते रहते हैं। तुलसी के समय जो मूल्य जीवन के थे वे आज निराला के समय में नहीं हैं। तुलसी का ब्राह्मण किसी चंडाल से छूकर यदि तत्काल स्नान करता तभी ब्राह्मण था पर निराला का ब्राह्मण ऐसा करेगा तो परम

ढोंगी कहलायेगा। किन्तु जीवन का सुख-दुःखात्मक शाश्वत सत्य सृष्टि के धुंधले प्रभात में भी रहा होगा और उसकी सम्भावित काल-रात्रि में भी रहा चला जायेगा। संस्कृति जीवन को नहीं छोड़ती और जीवन के मूल्य सभ्यता को नहीं ठुकराते। युगों में संस्कृति पलती है—सभ्यता युग के साथ चलती है। यही जीवन और उसके विकास का रहस्य है।

युग-प्रवर्तक साहित्यकार वे होते हैं जो जीवन के चिरन्तन सत्य को, युग-विशेष के सत्य की ऊँचाई पर पकड़ कर बैठ जाते हैं। यही कारण है कि उनकी कृतियों का महत्व त्रैकालिक होता है। ऐसी रचनायें किसी भी समय मानवता के सिर-दर्द पर शीतल-लेप करती आई हैं—उसके हृदय को हाथ देकर सहलाती आई हैं-उसकी अन्धकाराच्छन्न दृष्टि को दीप-दान करती आई हैं।

साहित्य को जीवन की व्याख्या ही मानना है तो उसकी व्याख्या यह नहीं है कि जीवन तो समाप्त हो गया, अब उसकी चीर-फाड़ (पोस्टमार्टम) करते रहो। बल्कि मन्तव्य यह है कि जीवन के अनुपाती अंगों में से यदि किसी में स्तब्ध-वृत्ति के कारण विजातीय द्रव्य बढ़ गये हैं तो जीवन की रक्षा के लिये उन्हें चलायमान कर दिया जाय—उनका औपरेशन कर दिया जाय। यही साहित्य की क्रान्ति है जो कभी-कभी अवश्य होनी चाहिये। पोषक-तत्वों के साथ पोष्यविघातक तत्वों की प्रतिक्रिया भी परमावश्यक होती है। इसको साहित्य के अन्तर्गत सामयिक समस्याओं का समाधान कहना चाहिये, न कि सामयिक समस्याओं के अन्तर्गत साहित्य का समाधान।

४

जिस प्रकार प्रयोजन की अतिवास्तविक स्थिति के कारण संसार के साहित्य को अनेक बार हृदय के दौरे पड़ चुके हैं ठीक उसी प्रकार उसके प्रयोजन की एकान्त अवहेलना ने उसका गला दबा-दबा कर उसकी जीवन-सत्ता खतरे में डालनी चाही है। इसे साहित्य के स्वरूप की अतिवास्तविक स्थिति कहना चाहिये। प्रयोजन की अतिवास्तविक स्थिति का दोष था कि वहाँ साहित्य का स्वरूप केवल प्रयोजन-परक ही मान लिया था। स्वरूप की अतिवास्तविक स्थिति का दोष है कि कि वहाँ प्रयोजन केवल स्वरूप-परक ही सिद्ध किया जाता है।

'कला कला के लिये' वाला सिद्धान्त, साहित्य-कला के स्वरूप का ऐसा ही अतिवादी रूप है। इसका कहना है कि कला के अतिरिक्त कला का और कोई प्रयोजन ही नहीं है। दूसरे शब्दों में कला का स्वरूप ही कला का प्रयोजन है। इस सिद्धान्त की कितनी भी समर्थनात्मक व्याख्यायें क्यों न की जाँय, यह दोष दुर्निवार है कि प्रयोजन का स्वरूप से बाहर कोई क्षेत्र ही नहीं। नीचे इसकी यथा-सम्भव व्याख्याओं पर विचार कर लेना चाहिये।

कुछ विद्वानों ने इसकी व्याख्या की है कि कला अपनी सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्य सभी लोक शास्त्रीय विधाओं से भिन्न है। यह व्याख्या क्या है, शब्दों की चिकनाई है। ऐसी कौन सी लौकिक अथवा शास्त्रीय विधा है जो अन्य समस्त वाङ्मय से भिन्न नहीं है? सैद्धान्तिक दृष्टि से क्या यह सारा प्रपंच भी परस्पर भिन्न नहीं है? क्या संसार के पाँचो विषय (रूप, रस

गन्ध, स्पर्श, शब्द) परस्पर एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं ? वाङ्-मय के भीतर भी कौन सी विधा किससे भिन्न नहीं है, भिन्न न हो तो फिर विधा ही कैसी ? इतिहास, भूगोल, विज्ञान, दर्शन आदि सभी तो परस्पर भिन्न हैं । पर यह किसी ने नहीं कहा कि—इतिहास इतिहास के लिये है— भूगोल भूगोल के लिये है—इयादि—इत्यादि ।

दूसरे लोगों ने आकर कहा —नहीं, यह बात सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं प्रयोजन की दृष्टि से कही गई है । अर्थात् कला का प्रयोजन कला ही है, और कुछ नहीं । यह व्याख्या अपने अर्थ में बहुत खुरदरी है । मनुष्य मनुष्य के लिये है—यह एक बात हुई और मनुष्य किसी दूसरे के लिये नहीं है—यह बिल्कुल दूसरी बात है । दोनों के बीच इतनी बड़ी खाई है कि समस्त अर्थों के अनर्थकारी शब्द-पाटव से भी इसे नहीं पाटा जा सकता । मनुष्य मनुष्य के लिये है—इसका कौन समझदार व्यक्ति यह अर्थ करेगा कि प्रयोजन की दृष्टि से मनुष्य केवल मनुष्य के लिये ही है, अन्य निरीह जन्तुओं के लिये नहीं । क्या उनके जीवन पर उसे पूर्ण-विराम (फुल स्टौप) लगा देना चाहिये ? किसी पंडित ने अपने शिष्य से कहा कि—कौओं से दही की रक्षा करना (काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्) तो क्या वह कुत्तों को दही खाने से न रोके ?

तब तीसरे व्याख्याकार आये । उन्होंने फरमाया—यह बात न तो कला के सिद्धान्त की दृष्टि से कही गई है और न प्रयोजन की दृष्टि से, बल्कि उसके स्वरूप की दृष्टि से कही गई है । अर्थात् अन्य समस्त लोक-शास्त्र की विधायें जीवन-जगत की क्रियाओं में पर्यवसान पाती हैं किन्तु काव्य-कला जीवन-जगत की क्रियाओं में नहीं, अपने स्वरूप में ही पर्यवसित होती है । इसलिये, कला

कला के लिये है—इसका अर्थ है कि कला स्वतःपूर्ण यानी स्वान्त-विश्रान्त है।

यह व्याख्या स्वप्निल है। इसमें अनेक दोष हैं। पहली बेकेंड़े की बात तो यह है कि इस व्याख्या के अनुसार कला भोगैश्वर्य का एक ऐसा एकान्त स्वर्ग-खण्ड में जिसका मनुष्य से तो सम्बन्ध है (क्योंकि मनुष्य ने उसे बनाया है और वह उसका उपभोग भी करता है) पर मनुष्य-जीवन से और मनुष्य जिसमें रहता है उस जगत से कोई सम्बन्ध नहीं। प्राचीन धर्माचार्यों ने जो स्वर्ग की कल्पना की है उसके अनुसार भी इस मर्त्य-लोक का सम्बन्ध उससे सिद्ध होता है। फिर यदि मर्त्य-लोक भिन्न भी है तो भी अपने पुण्य कर्मों से स्वर्ग की हवा खाने वाला व्यक्ति, अपने पुण्य क्षीण होने पर फिर मर्त्य-लोक से ही अपना सम्बन्ध रखता है (क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोकं विशन्ति) और उसी प्रेरणा से बार-बार शुभ-कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है। अर्थात् मानवीय जीवन स्वर्ग की कल्पना से शुभ प्रेरणा तो लेता है! पर कला के सुषुप्त व्याख्याकारों से पूछा जाय कि उनकी कला-विषयक कल्पना से मनुष्य के आचार-विचार का यदि कोई सम्बन्ध नहीं है तो क्या उसके दुराचार-पापाचार का है? सम्बन्ध तो अवश्य मानना पड़ेगा-चाहे भला हो या बुरा। और वह भी मनुष्य से क्या, मनुष्य के जीवन से मानना पड़ेगा मनुष्य की क्रियाओं से मानना पड़ेगा और मनुष्य जिसमें रहता है उस जगत से भी मानना पड़ेगा। क्योंकि कल्पना तो मनुष्य की ही है और उसने यह भले या बुरे स्वारस्य के बिना नहीं की। मनुष्य के स्वारस्य से सम्बन्ध होते ही किसी भी चीज का उसके जीवन से सम्बन्ध हो जाता है— उसकी क्रियाओं से सम्बन्ध हो जाता है—और जिसमें वह रहता है उस जगत से सम्बन्ध हो

जाता है। स्वारस्य इच्छा का संस्कृत रूप है जो बिना ज्ञान और यत्न के नहीं रह सकता। जानाति, इच्छति, यतते—यह क्रम जो है। 'जानाति' के दो पक्ष हैं—ज्ञाता और ज्ञेय। ज्ञाता तो शरीरी है ही ज्ञेय की कोटि में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द आ जाते हैं, जिनसे बाहर जगत का कोई रूप ही नहीं है। 'इच्छति' की भी दो कोटियाँ हैं—इच्छुक के रूप में शरीरी और इच्छित के रूप में उसके जीवन की इच्छायें। उसी प्रकार 'यतते' का संबंध भी यतमान मनुष्य और यत्न-स्वरूप उसकी क्रियाओं से है। जीवन स्वयं ही विषय (जगत) इच्छा और क्रियाओं का समवाय है। काव्य-कला की जिससे उपमा दी जाती है उस स्वप्न-सृष्टि का सम्बन्ध भी जीवन से मानना पड़ता है। इसलिये ही नहीं कि स्वप्न में हम अपने जीवन को और उसकी प्रतिक्रियाओं को देखते हैं बल्कि इसलिये भी जैसा कि साहित्य-कला को स्वप्न-सृष्टि मानने वाले भी मान सकते हैं कि हमारा जीवन, स्वप्न में दुर्वृत्त अथवा दुःसंचित आवेगों का विरेचन हो जाने के कारण, अधिक स्वस्थ और व्यवस्थित हो जाता है। यह कला का जीवन में उपयोग नहीं तो और क्या है ?

दूसरी बात यह है कि यदि कला स्वतः पूर्ण है तो इसका यह आसमानी अर्थ कैसे लगा लिया जाय कि वह मनुष्य-जीवन को पूर्ण बनाने में या किसी प्रकार की प्रेरणा देने में असमर्थ है। ईश्वर की सर्वांग-पूर्ण कल्पना भी मनुष्य ने इसी लिये की है कि वह अपने जीवन को अपूर्ण देखता है। और इस कल्पना से मनुष्य-जाति का कोई कल्याण नहीं हुआ—यह नहीं कहा जा सकता। ईश्वर को भी जो लोग नहीं मानते उन्हें भी ईश्वर के स्थान पर किसी ऐसी अज्ञात और अनन्त शक्ति की कल्पना

करनी पड़ती है जिसका विधान स्वयं में पूर्ण है और यही उनकी प्रेरणा का स्रोत है।

अब चौथे व्याख्याकार की बात सुनिये। ये अपनी तजबीज पेश करते हैं कि काव्य-कला का प्रयोजन तो है पर उसका जीवन-जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये कहना चाहते हैं कि सभी ललित कलाओं की भांति काव्य-कला का प्रयोजन भी सौन्दर्यानुभूति ही है। पर क्योंकि सौन्दर्य का अन्त सौन्दर्य में ही होता है इसलिये कला के सौन्दर्य का प्रयोजन, कला के सौन्दर्य में ही है, उसे जीवन-जगत से मिलाना या उसमें पर्यवसित करना ठीक नहीं।

यह व्याख्या भी आपे से बाहर है। पूछना चाहिये कि आखिर कला में सौन्दर्यानुभूति करने वाला कोई आदमी है या जानवर ? यदि आदमी है तो वह सौन्दर्य की अनुभूति क्यों कर रहा है ? उत्तर होगा आनन्द के लिये कर रहा है। पर प्रति-प्रश्न होता है कि आनन्द किसके लिये है ? मनुष्य के लिये है अथवा आनन्द के ही लिये वह है ? पहली बात है तब तो झगड़ा ही कुछ नहीं पर यदि दूसरी बात है तो इसका समाधान होना चाहिये कि जब आनन्द आनन्द के ही लिये है तो मनुष्य को उसे करने में क्या स्वारस्य है ? बिना किसी स्वारस्य के तो मनुष्य का विवेक कुछ भी करने को तैयार नहीं है। फिर सही सौन्दर्यानुभूति-जन्य आनन्द केवल आनन्द के ही लिये, पर उस आनन्द को भोगने वाला तो वही होगा जो सौन्दर्य का अनुभविता है। और यदि अनुभविता मनुष्य या मनुष्य के भीतर रहने वाला कोई भी तत्व है तो उस अनुभूत सौन्दर्य के साथ तज्जन्य आनन्द का सम्बन्ध मनुष्य से या मनुष्य के किसी अन्तःपक्ष से होना चाहिये। इस प्रकार यदि आनन्द केवल आनन्द के लिये भी मान

लिया जाय तब भी आनन्द मनुष्य के लिये या उसके अन्तःपक्ष के लिये ठहरता है। आनन्द चेतन-धर्मा है इसलिये तो मनुष्य के चेतन अंश से सम्बद्ध है, और चेतन जड़ की सीमाओं में ही व्यवहार्य होता है इसलिये मनुष्य के जड़ अंश से भी आनन्द का पारम्परित सम्बन्ध है। जीवन, जड़ और चेतन का संमिश्रण है फलतः आनन्द का खुल्लमखुल्ला सम्बन्ध जीवन के साथ बैठता है। इसलिये यह कहना कि काव्य के प्रयोजन सौन्दर्यानुभूति और तज्जन्य आनन्द का मनुष्य-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं—प्रमत्त प्रलाप है या उन्मत्त-अपलाप ।

इतना तो सिद्ध हो गया कि सौन्दर्यानुभूति-जन्य आनन्द का भी जीवन के साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य है इसलिये 'कला कला के लिये' वाला सिद्धान्त अपने अर्थ का छूंछा-मात्र है। अब यदि यह और प्रमाणित कर दिया जाय कि इस आनन्द का जीवन में कितना उपयोग है तो यह छूछा भी किसी कूंचे के मतलब का न जान पड़ेगा। पर इससे पहले तीन बातों का विचार हमें करना पड़ेगा। सौन्दर्यानुभूति क्या है ? कला के क्षेत्र में सौन्दर्यानुभूति का क्या रूप है ? और सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न होने वाले आनन्द का भारतीय रस-पद्धति के साथ क्या सम्बन्ध है ?

पहले तो यह साफ हो जाना चाहिये कि सौन्दर्यानुभूति कला-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। प्रकृति के उन्मुक्त दृश्यों में भी जीवन-व्यापी सौन्दर्य है जिसका दर्शन वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम किया था। आज का सहृदय व्यक्ति भी इसका साक्षी है कि उसे कला से बाहर भी तुषार-धौत शैल-शृंगों में मटकती हुई बन-राजियों में, अंगड़ाती हुई नदियों में और कज्जलांजन-लिप्त व्योम से झांकती हुई नक्षत्र-मालाओं में आनन्द-पर्य-

वसायी सौन्दर्य की अनुभति होती है। कवि और कलाकार स्वयं ही पहले जीवन-जगत के सौन्दर्य से प्रेरणा लेते हैं और तत्फल-स्वरूप कलासृष्टि का शिलान्यास करते हैं। किन्तु सौन्दर्य-क्षेत्र के कला-क्षेत्र से भी बाहर बचे रहने का मतलब यह नहीं है कि सौन्दर्य-शास्त्र ने कला से बाहर जो सौन्दर्य-तत्व रखे हैं वे मौलिक दृष्टि से किसी भी प्रकार उन तत्वों से व्यतिसदृश हैं जिन्हें वह कला की सीमा में स्वीकार करता है। यही कारण है कि कला-सौन्दर्य का विवेचन करने से पहले हम सौन्दर्य-शास्त्र से उलझ गये हैं।

भोग, रूप और अभिव्यक्ति-ये तीन तत्व सौन्दर्य के माने जाते हैं। वस्तु-मात्र का वाह्य कलेवर भोग कहलाता है जिसका भोग बिना सांस्कृतिक और बौद्धिक चेतना के भी किया जा सकता है। छोटा बच्चा रंगीन खिलौने का भोग इसी रूप में करता है। दूसरा तत्व, रूप है जिसमें आकार-प्रकार तथा अवयव-संस्थान अपनी विशेष किन्तु सामंजस्यपूर्ण स्थिति में विन्यास पाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि रूप, भोग्य पदार्थ के अवयवों में अधिष्ठित होकर भी उनसे भिन्न है, अर्थात् वह अवयवी है। एक ही प्रस्तर-खण्ड भिन्न-भिन्न किन्तु सामंजस रेखा-समूह के कारण कहीं बुद्ध तो कहीं महात्मा गांधी की मूर्ति में कलात्मक प्राण-प्रतिष्ठा पा जाता है। भोग्य पदार्थ के अवयवों के सामंजस्योन्मुख चार गुणों के कारण रूप का उदय होता है। ये गुण हैं—सापेक्षता (प्रोपोर्शन) समता (सिमैट्री) संगति (हारमौनी) और सन्तुलन (बैलेन्स)। केन्द्रीय अपेक्षा से ही तत्सम्बद्ध अवयवों की नाप-जोख का नाम सापेक्षता है। मनुष्य शरीर का मध्य उसके उत्तमांग और अधमांग का अपेक्षित बिन्दु है। यदि किसी का उत्तमांग बहुत छोटा और अधमांग बहुत लम्बा है तो यह

उसके रूप के विरुद्ध होगा। समता अपेक्षित पुनरावृत्ति का नाम है। कोई सुन्दर मनुष्य-शरीर है तो उसमें दोनों भुजायें परस्पर सापेक्ष, एक दूसरी के प्रतिरूप और पुनरावृत्त सी होनी चाहिये। आँख, कान आदि के जोड़े भी इसी प्रकार प्रयोजनीय हैं। सन्तुलन अंगों के बीच अंगांगिभाव के रूप में माना जाता है। जैसे, मनुष्य-शरीर में उत्तमांग एक अंग है इसी में ग्रीवा ललाट आदि अनेक उपांग भी हैं। अब यदि ग्रीवा अधिक लम्बी हुई तो उसने उत्तमांग के प्रति अंगांगिभाव का पालन नहीं किया और यह स्थिति रूप के विपरीत पड़ेगी। संगति, रूप का सर्व-प्रधान गुण है। वास्तव में इसी गुण से रूप के सारे गुण ग्रतार्थ हो जाते हैं। संक्षेप में सौन्दर्य-शास्त्री संगति को ही सौन्दर्य के स्वरूपाधायक रूप-तत्व का प्रधान गुण मान लेते हैं क्योंकि संगति का अर्थ है—अवयवों का एक-दूसरे के प्रति और उन सबका मिलकर अवयवी के प्रति पूर्णतः अविरोध जो कि रूप-तत्व के अन्य गुणों के मिल जाने पर ही सम्भव है।

अभिव्यक्ति सौन्दर्य का तीसरा तत्व है। प्रकृति-पारखी लोग जानते हैं कि प्रकृति के भिन्न-भिन्न दृश्यों में उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं। नीले-नीले आकाश के असीम विस्तार में जब कोई अपनी ससीम सत्ता लीन कर देता है तब उसे मानव-जीवन की क्षुद्रता के साथ प्रकृति के उदात्त भाव की अभिव्यक्ति मिल जाती है। हवा के मन्द-मन्द झोकों में पेड़ से लिपटती हुई किसी लता को देखकर कोई भी सहृदय सहज ही दाम्पत्य-प्रेम की अभिव्यक्ति पा लेगा। शिल्प-कला में अभिव्यक्ति का उदाहरण और भी स्पष्ट है। कलाकार की टांकी पत्थर में एक ही गांधी की अनेक मूर्तियों के रूपों से हर्ष, विषाद आदि भावों की अभिव्यक्ति करा देती है। अभिव्यक्ति जितने

भी भावों की होती है वे सब सुख-दुःख के ही परिस्थिति-भेद से विभिन्न रूप हैं। सुख-दुःख का अनुभविता आत्मा है। इस लिये सुख दुःख आत्मा के गुण हैं, किसी सुन्दर-असुन्दर वस्तु के नहीं। फलतः सुख-दुःख मूलक अनेक भावों की अभिव्यक्ति आध्यात्मिक ठहरती है। और क्योंकि अभिव्यक्ति सौन्दर्यानुभूति का तीसरा तत्व माना जाता है इसलिये सौन्दर्यानुभूति भी आध्यात्मिक है—ऐसी मान्यता सौन्दर्य-शास्त्रियों की है।

ओर भी स्पष्ट शब्दों में इन लोगों का मन्तव्य यह है कि वास्तव में न कोई वस्तु सुन्दर है और न असुन्दर। अनुभविता के सुख-दुःख की अनुभूति के कारण ही हमें ऐसा भ्रम होता है कि अमुक वस्तु सुन्दर है और अमुक वस्तु असुन्दर। माता को अपने काले-कलूटे और लंगड़े-लूले पुत्र में भी कितनी सौन्दर्यानुभूति होती है—इसके विरोध में कोई भी कुछ नहीं कह सकता। मानना पड़ेगा कि सौन्दर्य की स्थिति सुख-दुःख अनुभव करने वाली आत्मीय चेतना में ही है, फलतः सौन्दर्य विषयिगत (सब्जैक्टिव) हुआ, विषय-गत (औब्जैक्टिव) नहीं। किन्तु बहुमत इस बात का है कि सौन्दर्य, विषयिगत और विषयगत दोनों है। कारण, सौन्दर्य में केवल अभिव्यक्ति आध्यात्मिक होने से उसे विषयिगत माना जायगा तो सौन्दर्य के भोग और रूप तत्व का सम्बन्ध वाह्य वस्तु से होने के कारण उसे विषय-गत भी मानना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य विषयि-गत इसलिये है कि विषयी का अनुभूत्यात्मक आरोप ही किसी वस्तु का सौन्दर्य होता है और विषय-गत इसलिये है कि विषयी के अनुभूत्यात्मक आरोप के विषय बनने की योग्यता बाह्य वस्तु में ही होती है।

अब उपर्युक्त सौन्दर्य-शास्त्र की मान्यताओं को केवल काव्य-

कला के क्षेत्र में ले चलें और देखें कि भारत का साहित्य-शास्त्र इसको कहां तक पीठ ठोकता है।

काव्य-कला के क्षेत्र में सौन्दर्य-शास्त्री शब्दार्थ को भोग-तत्व से अभिहित करता है और रूप-तत्व की सीमा में यावन्मात्र काव्यों के रूपों को मय उपादान-तत्वों के समेट लेता है। शब्दार्थ के भीतर भोग-तत्व की दृष्टि से भारतवर्ष की उस मान्यता का संकेत है जो रसानुगत शब्दार्थ-वृत्ति, विशिष्टा पद-रचना रीति, औपचारिक वृत्ति से शब्दार्थ का गुणात्मक वैशिष्ट्य, श्रुतिकटुत्वादि दोषों के परिहार-पुरस्सर शब्दार्थ-योजना और शब्दार्थालंकार की सृष्टि के रूप में ख्यात-विख्यात है। रूप-तत्व के सापेक्षता, समता, सन्तुलन और संगति नामक गुणों का जहाँ तक प्रश्न है, सौन्दर्य-शास्त्री, काव्य-रूप के सोपादान अवयवों की परस्पर और उनकी परस्पर मिलकर जो काव्य-रूप के प्रति अविरोधी स्थिति है उसके लिये ध्वनिकार की 'प्रधान-गुणभावेन' वाली उक्ति का अक्षरशः शिष्य है। अथवा यों कहिये कि औचित्य-सम्प्रदाय की काव्य-काव्यांगवर्तिनी सम्पूर्ण औचित्य-सीमायें उसे अनुवादतः स्वीकृत हैं। जब किसी वस्तु के अंगों में परस्पर प्रधान-गुणभावेन स्वीकृत अविरोध और औचित्य-मूलक सामंजस्य होता है तभी वे एक अखण्ड रूप की सृष्टि करने के कारण समष्टि-रूप से तो भोग्य होते ही हैं, प्रत्येकशः भोग्यगुणाधिष्ठान होने से व्यष्टि-रूप में भी आस्वादनीय होते हैं। हमारी चेतना कभी अखण्ड रूप की ओर तो कभी खण्ड रूप (अवयवों) की ओर आवर्तन-प्रत्यावर्तन करती हुई लोकोत्तराह्लाद का अनुभव करती है। इस आवर्तन-प्रत्यावर्तन के कारण ही हमें वह प्रतिक्षण नवीन जान पड़ती है और हम उसके साथ रमण ही करते रहना चाहते हैं अर्थात् वह वस्तु रमणीय कहलाती है।

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति । तदेव रूपं रमणीयतायाः'

—शिशुपाल वध ४ ।

पंडितराज जगन्नाथ ने तो यही बात काव्य के स्वरूप में ज्यों की त्यों कह दी है ।

'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'

—रसगंगाधर १ ।

अब रही साहित्य-कला के क्षेत्र में सौन्दर्य के अभिव्यक्ति नामक तीसरे तत्व की बात, तो इस पर भारतीय साहित्य-शास्त्र में जितना समझा गया है उससे कहीं अधिक लिखा गया है और जितना लिखा गया है उससे कहीं अधिक समझा गया है। भारत के अभिव्यक्तिवाद का गुप्त ऋण लगभग सभी पाश्चात्य-देशों पर है। उनकी आत्मा के अनस्तित्व ने इसे भले ही भुला दिया हो पर उनकी सौन्दर्य-चेतना भूलकर भी इसी से लिपट जाती है। इधर भारतीयों के अन्तर्मुखी विश्लेषण ने अभिव्यक्ति के द्वार से वाह्य सौन्दर्य को महत्व दिया था। साहित्य के क्षेत्र में यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से भी (मान्यता की दृष्टि से तो आज भी) रस-संप्रदाय पहले आता है और अलंकार-संप्रदाय बाद में। उधर पाश्चात्यों ने बाह्य सौन्दर्य के अनुशीलन से अभिव्यक्ति का द्वार पाया। साहित्य के क्षेत्र में वहाँ क्लासीसिज्म का पहले और रोमांटीसिज्म का बाद में महत्व स्वीकार किया गया। यही भारतीय और पाश्चात्य शास्त्रियों का प्रस्थान-भेद है।

सौन्दर्य-शास्त्रियों की इस बात को कि—सौन्दर्य विषयि-गत और विषय-गत दोनों है—भारतीय साहित्य-शास्त्र कोई अजनबी-पन से नहीं देखता। यहाँ तो प्रारम्भ से ही यानी जब से साहित्य-शास्त्र का शिलान्यास हुआ है, सौन्दर्य के तीसरे तत्व अभिव्यक्ति को विषयि-गत ही माना जाता है। रस में पर्यवसित होने वाला

वासनात्मक स्थायि-भाव सामाजिकों के भीतर ही अभिव्यक्ति पाता है—यह हमारी रस-पद्धति की अविकल स्थापना है। और रस-वस्तु-अलंकार की व्यंग्यत्रयी आत्म-स्थानीय है—यह हमारे ध्वनिमार्ग का निरूपण है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इनके क्रमशः उदाहरण हैं। मूल बात यह है कि अभिव्यक्ति या व्यंजना के नाम पर यहाँ सब कुछ विषयि-गत ही माना जाता है। पर क्योंकि यह अभिव्यक्ति विभावादि के संयोग से और तदर्थ प्रयुज्यमान शब्दार्थ शरीर के माध्यम से ही होती है, अतः विभावादि भोग-तत्व को इसमें कारणता है जो कि विषय-गत (बाह्य-वस्तु-गत) होता है। शुक्ल जी ने शायद विभाव-पक्ष पर इसीलिए अधिक जोर दिया है कि सामाजिक के भीतर होने वाली अभिव्यक्ति कभी भी नहीं हो सकती यदि विभाव-पक्ष चतुरस्त्र न हो। सामाजिक को विभावन के लिये जब कोई वस्तु बाहर होगी तभी तो किसी अभिव्यक्ति की सम्भावना हो सकती है। इसीलिये विषयि-गत सौन्दर्य का प्रत्याख्यान करते हुए उन्होंने झुंझला कर कहा है—'जो बाहर है वही भीतर है।'

यह सच है कि भारत के प्राचीन साहित्याचार्यों को सौन्दर्यानुभूति जैसे शब्द से कतही परिचय न था पर आज सौन्दर्यानुभूति के नाम पर जो भी इसकी अर्थ-सीमायें हैं उनका राई-रत्ती विवेचन वे लोग कर गये हैं। आखिर सौन्दर्यानुभूति में सुख-दुःख-मूलक भावों की अभिव्यक्ति ही तो किसी न किसी रूप में होती है। यही भावों की अभिव्यक्ति शब्दार्थ के माध्यम से हो तो साहित्य में प्राचीनाचार्यों की रस-भावादि की अभिव्यक्ति से किस रूप में भिन्न हो सकती है? साहित्य भाव-योग है इसे आज का आचार्य (शुक्ल जी) भी मानता है। अब रही सौन्दर्यानुभूति की श्रेणियों की बात तो ये भी

सोलह-आने वे ही हैं जैसी कि प्राचीनों ने माना है। हमने प्रथम-परिच्छेद में स्पष्ट किया है कि कवि-मात्र का यही काम है कि वह किसी वस्तु को अपने मन पर आरोपित करके अपने ढंग से उपस्थित करता है—अर्थात् चित्रण करता है। इस चित्रण में उसका संरम्भ जब आन्तरिक अभिव्यक्ति की ओर अधिक होता है तब रस-वस्तु-अलंकार रूप में व्यंग्यत्रयी की श्रेणी उपस्थित होती है। सामाजिक ऐसे चित्रण की सौन्दर्यानुभूति विषयि-गत के रूप में अधिक करेगा। और जब किसी चित्रण में कवि वाह्य वस्तु के स्वभाव या उसकी साज-सज्जा पर अधिक रम जाता है तब आन्तरिक अभिव्यक्ति गौण हो जाती है और वाच्य वस्तु-अलंकार की श्रेणी उपस्थित होती है। सामाजिक ऐसे चित्रण की सौंदर्यानुभूति विषय-गत के रूप में अधिक करेगा। इस प्रकार काव्य-कला के क्षेत्र में सौंदर्य-शास्त्रियों के अनुसार जो सौंदर्यानुभूति की स्वरूप-सम्प्राप्ति है वह विवरणात्मक और अलंकारात्मक वस्तु-चित्रण से लेकर रस-भावादि और वस्तु-अलंकार-ध्वनि तक बेखटके चली जाती है। फलतः आनन्दपर्यवसायी सौन्दर्यानुभूति का मतलब है रस-पर्यवसायी सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्यानुभूति-जन्य आनन्द का मतलब है सौंदर्यानुभूति-जन्य रस। यों कहिये कि काव्य-कला के क्षेत्र में सौंदर्यानुभूति और काव्यानुभूति को सौन्दर्य-शास्त्री और काव्य-शास्त्री एक ही समझते हैं।

यहाँ एक आनुसंगिक स्पष्टीकरण है। सौन्दर्य-शास्त्री भी सौंदर्यानुभूति को अप्रत्यक्ष रूप में ही स्वीकार करते हैं और इसके लिये वे एक अन्तर्विश्वास की सत्ता को मध्यस्थ मानते हैं; इसीलिये उनकी मान्यता है कि प्रत्येक सुन्दर वस्तु आकर्षक होती है पर प्रत्येक आकर्षक वस्तु सुन्दर नहीं। सौन्दर्य-शास्त्रियों

के यहाँ यह अन्तर्विश्वास वही है जिसे काव्य-शास्त्री साधारणी-करण कहता है। इसी अन्तर्विश्वास के कारण सौन्दर्य-शास्त्री भाव-क्षेत्र में प्रत्यक्ष इन्द्रियों से नहीं टकराता। भाव-विभोर तो जिस प्रकार हम किसी सुन्दर फूल को देखकर होते हैं उसी प्रकार या उससे भी अधिक किसी रमणी के सौन्दर्य का चाक्षुष साक्षात्कार करते हुए भी होते हैं क्योंकि मनुष्य-शरीर प्रकृति की सर्वोत्तम कारीगरी है; किन्तु फूल के साथ हमारा साधारणी करण हो सकता है; किसी सुन्दरी के साथ प्रायः नहीं। 'प्रायः' इसलिये कहा है कि हो सकता है कोई इतना भक्ति भाव-विह्वल हो कि 'सियाराम मय सब जगजानी' के अनुसार नारी-मात्र में जगज्जननी की स्थापना किये बैठा हो। किन्तु ऐसी दशा में भी उस भक्त का एक अन्तर्विश्वास ही तो है जिसके कारण वह इन्द्रियों की प्रत्यक्ष उत्तेजना से बच जाता है और नारी-मात्र के प्रति उसी रूप में साधारणीकरण कर लेता है। ऐसे व्यक्ति के लिये कोई भी सुन्दरी कवि-कल्पित स्त्री-पात्र के लगभग समान होगी या प्रेक्षा-गृह में दृश्य काव्य के किसी स्त्री-पात्र की अभिनेत्री के समान होगी जिसके साथ सामाजिकों का साधारणीकरण सम्भव होता है। साधारणीकरण होते ही कोई भी प्रत्यक्ष भाव अप्रत्यक्ष हो जाता है, दूसरे शब्दों में कोई भी कटुपरिणामी भाव शाश्वत मधुर हो जाता है। इस प्रकार हमने देखा कि काव्यकला के क्षेत्र से बाहर किसी प्रत्यक्ष वस्तु की सौन्दर्यानुभूति अप्रत्यक्ष होती है जैसे फूल की, और किसी प्रत्यक्ष वस्तु की सौन्दर्यानुभूति प्रत्यक्ष होती है जैसे स्त्री की। पहली में हमारी वासना अप्रत्यक्ष रहती है दूसरी में प्रत्यक्ष। सौन्दर्य-शास्त्री पहली सौन्दर्यानुभूति को ही आध्यात्मिक और उपादेय मानता है।

काव्य के क्षेत्र की सौन्दर्यानुभूति तो सदा अप्रत्यक्ष ही होती है। क्योंकि काव्य में अनुभूति-मात्र अपनी अप्रत्यक्ष यानी संस्कारावस्थित सत्ता के रूप में ही रह सकती है—इसे अनेक बार प्रमाणित किया जा चुका है। प्रेक्षागृह में शकुन्तला का अभिनय करने वाली किसी सुन्दरी के साथ हमारा साधारणीकरण होने के कारण जो रतिभाव उद्बुद्ध होकर रस-राज शृंगार की पदवी पाता है वही काव्य-क्षेत्र से बाहर किसी सुन्दरी का चाक्षुष साक्षात्कार करने पर शृंगार-रस में परिणत नहीं हो सकता। भले ही कोई सहृदय-धुरीण किसी सुन्दरी के साथ कुछ समय तक अपनी लोभोन्मुखी प्रत्यक्ष मनोवृत्तियों का सन्तुलन बनाये रखे और अपनी तटस्थता का अज्ञात अभिनय करता हुआ स्वयं को धोखा देता रहे किन्तु आखिरकार विषय में चेतन-प्रक्रिया की सम्भूत या सम्भावित, अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मन के एकोन्मुखी प्रवाह में पड़कर इन्द्रिय-क्षोभ से टक्कर खा ही जायेगा। मन की आसक्त्यात्मक एकोन्मुखता बुद्धि-तत्व को पीसती चली जाती है और वृत्तियों का बुद्धि-प्रवर्तित सन्तुलन बिगड़ जाता है। प्रत्यक्ष वासना की निरन्तरित मूर्तमाया में संस्कारारूढ़ वासना का उद्बोध ख-पुष्पायित ही समझना चाहिए। प्रत्यक्ष वासनाओं की मुलाकात में सहृदय व्यक्ति भी हृदय-क्षेत्र से मन-क्षेत्र में टपक दिया जाता है।

मन और हृदय में क्या अन्तर है ?

ज्ञान का अधिकरण आत्मा माना जाता है—यह तो ठीक है पर क्या कोई भी ज्ञान ऐसा हो सकता है जो इन्द्रियों के माध्यम के बिना ही उछलकर आत्मा पर जा पड़े ? और क्या कोई भी इन्द्रिय ऐसी है जिसमें मन अनुस्यूत न हो ? यदि नहीं, तो फिर कहना चाहिये कि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्य अर्थात् इन्द्रिय और

विषय के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान का अधिष्ठान भले ही आत्मा हो (ज्ञानाधिकरणमात्मा) किन्तु इन प्रत्यक्ष अनुभूतियों का माध्यम हमारा मन ही है जो विषयों में अनुकूल-वेदनीयता और प्रतिकूल-वेदनीयता के कारण सुख और दुःख जैसी दो संज्ञाओं को जन्म देता है। किन्तु जब यही मन प्रत्यक्ष अनुभूतियों के बने हुए संस्कारों का माध्यमिक बन जाता है तब इसको संस्कृत (संस्कारावस्थित) अनुभूतियों अथवा वासनाओं का अधिष्ठान होने के कारण, मन न कहकर हृदय कहा जाता है। इस प्रकार मन की एक अवस्था-विशेष का नाम ही हृदय है। मन प्रत्यक्ष या असंस्कृत वासनाओं का केन्द्र है—हृदय अप्रत्यक्ष या संस्कृत (संस्कारापन्न) वासनाओं का। पहली दशा में उसकी वृत्तियाँ कटु और मधुर दोनों हो सकती है—दूसरी दशा में भावनापन्न या संस्कारारूढ़ होने के कारण उद्बुद्ध होकर मधुर ही रहती हैं। निचोड़ यह है कि प्रत्यक्ष या असंस्कृत वासनाओं के कारण जिसे हम मन कहते हैं, अप्रत्यक्ष या संस्कृत वासनाओं के कारण उसी को हृदय कहते हैं। इसलिये जो लोग काव्य में इन्द्रिय अनुभूति की बात चलाते हैं के मन के क्षेत्र में हैं, हृदय के क्षेत्र में नहीं। असंस्कृत वासनाओं से ही उनका परिचय है, संकृत वासनाओं से नहीं। ऐसे व्यक्तियों के या तो पैर में यथार्थ है जिसके अनुसार प्रत्यक्ष मनोवृत्तियाँ ही सब कुछ हैं, और नहीं तो फिर सिर पर आदर्श है जिसके अनुसार उसका एकमात्र दमन ही विहित है। ये लोग नहीं सोचते कि विष की भी रसायन तैयार की जा सकती है, या ये विष से इतने भयभीत है कि रसायन को भी विष ही समझते हैं।

संक्षेप में कहना चाहिये कि प्रत्यक्ष वासनायें मन का विषय है और इनका क्षेत्र प्रत्यक्ष संसार है, अप्रत्यक्ष या संस्कृत वास-

नायें हृदय का विषय है और इसका क्षेत्र साहित्य है। पहले क्षेत्र में तन्मयीभवन की वांछा रहती है—दूसरे क्षेत्र में तन्मयीभवन की योग्यता। पहले में चर्वणा विषय की रहती है—दूसरे में विषयोद्बुद्ध संस्कारों की। पहले में राग चेतना को कसता है—दूसरे में खोलता है। पहले में हम इन्द्रियों के अधीन होते चले जाते हैं—दूसरे में हम उनसे मुक्त। पहले में इन्द्रियोद्भूत प्रत्यक्ष ज्ञान हमारे दुःख का भी कारण होता है—दूसरे में इन्द्रियोत्तर ज्ञान हमारे शाश्वत सुख का। पहले में वह ज्ञान है जो भटकने को बाध्य करता है—दूसरे में वह ज्ञान है जिसमें सभी वेद्यान्तर भटक जाते हैं पहले में अहं' का विशेषीकरण होता है अतः सीमित है—दूसरे में 'अहं' का साधारणीकरण होता है अतः असीमित है। पहले में सुख की भ्रान्ति प्रत्यक्ष के अनुसरण और समर्थन में दीखती है—दूसरे में सुख की चेतना अप्रत्यक्ष के विभावन से उत्पन्न अनुमोदन में मिलती है। पहले में अचेतन अवस्था, लभ्य के अलाभ से उत्पन्न विषाद के कारण आती है—दूसरे में वही स्वयं समाहित परमाह्लाद के कारण आती है। पहले में प्रत्यक्ष सौन्दर्य-भुक्ति के बाद सौन्दर्य-मूर्छा सम्भव है—दूसरे में अप्रत्यक्ष सौन्दर्य-भुक्ति के बाद सौन्दर्य-मुक्ति होती है। पहले में यदि सौन्दर्य का भोग है तो मन के स्वारस्य से है अतः कटु परिणामी है—दूसरे में वही हृदय के अनुरोध से होता है अतः आनन्दात्मक रस-परिणामी है।

इतना तो मजे से स्पष्ट हो गया कि सौन्दर्यानुभूति या काव्यानुभूति और तज्जन्य आनन्द ऐन्द्रिय नहीं है। और यह भी पीछे समझ लिया गया है कि सौन्दर्य-शास्त्री और काव्य-शास्त्री, सौन्दर्यानुभूति और काव्यानुभूति को जो आध्यात्मिक मानते हैं वह इसीलिये कि दोनों के यहां संस्कारावस्थित सुख-दुःख की अभि-

व्यक्ति होती है और सुख-दुःख आत्मीय चेतना के गुण हैं किसी बाह्य वस्तु के नहीं। इसीलिये अध्यात्मविद्या के उपासकों के यहां आध्यात्मिक या आत्मिक शब्द का जो अर्थ रूढ़ है वह इन सौन्दर्य और काव्य के उपासकों के आध्यात्मिक शब्द के रूढ़ अर्थ से नितान्त विसदृश है। अध्यात्मविद्या सुख-दुःखात्मक भावातीत शुद्ध-विशुद्ध ज्ञान का विषय है किन्तु ज्ञानमात्र कम-से-कम अपनी पूर्वावस्था में इन्द्रिय-सहकृत मानसिक भावों से सर्वथा असम्पृक्त नहीं रह सकता अर्थात् ज्ञान-मात्र का सम्बन्ध आत्मा से ही नहीं है—इन्द्रिय और मन से भी है। उसी प्रकार सौन्दर्य शास्त्र और काव्य-शास्त्र में भावों की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध आत्मीय चेतना से ही नहीं है—मन से भी है। मन की ज्ञानात्मक प्रक्रिया जिस प्रकार संस्कृत-परिस्कृत होकर अध्यात्मशास्त्र की ओर चली जाती है उसी प्रकार मन की भावात्मक प्रक्रिया संस्कृत-परिष्कृत होकर सौन्दर्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र की ओर निकल जाती है। इस प्रकार अध्यात्म-विद्या का 'आध्यात्मिक' शब्द और सौन्दर्य तथा काव्य के क्षेत्र का 'आध्यात्मिक' शब्द—दोनों ही प्रयोग की दृष्टि से रूढ़ हैं किन्तु पहले में ज्ञान-तत्व का ही अन्तिम और अधिक महत्व है दूसरे में भाव-तत्व-का ही चरम और विशिष्ट स्थान है—यही दोनों का वैसादृश्य है।

ज्ञान सूक्ष्म होता है और भाव सघन—यह मनोविज्ञान की दृष्टि से भी सिद्ध है। मन की ज्ञानात्मक प्रकिया की अपेक्षा भावात्मक प्रक्रिया में अधिक तरी होती है। इन्द्रिय और विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) के सम्पर्क से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी तुलना में जो सुख-दुःखात्मक भाव उत्पन्न होते हैं, वे कहीं अधिक सघन होते हैं। ज्ञान की अपेक्षा भाव का प्रभाव इसीलिये अधिक पड़ता है, शीघ्र पड़ता है और देर तक

पड़ता है। किसी वस्तु का बौद्धिक विश्लेषण हमारे ज्ञान-क्षेत्र से सदा के लिये गायब हो सकता है पर किसी से प्रेम करके हम उसे सहज नहीं भूल सकते। यही कारण है कि भावात्मक प्रक्रिया संस्कृत-परिष्कृत होकर भी यानी साहित्य के क्षेत्र में पहुँच कर भी उस ज्ञानात्मक प्रक्रिया से, जो संस्कृत-परिष्कृत होकर अध्यात्म के क्षेत्र में पहुंच चुकी है, कहीं अधिक प्रभाव-शाली सिद्ध होती है। फलतः काव्यानन्द आध्यात्मिक आनन्द की अपेक्षा अधिक सरस, सघन और सान्द्र होता है। इस बात की पुष्टि में, मैं आज के एक तलस्पर्शी साहित्याचार्य (डा० नगेन्द्र) का प्रमाण दे सकता हूँ—

'इस प्रकार काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है। इसीलिये तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता (ऐन्द्रियता और कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती, और इसीलिये वह "पहले से अधिक शुद्ध-परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरस होती है।'...... (रीति काव्य की भूमिका)

विवेचना-सूत्र कुछ छितरा गया है। बात चल रही थी कि सौन्दर्य-शास्त्रियों की सौन्दर्यानुभूति (काव्य के क्षेत्र में) और काव्य-शास्त्रियों की काव्यानुभूति एक ही चीज है। दोनों प्रकार की अनुभूतियों का आनन्द भी एक ही है। अब इस आनन्द या ब्रह्मास्वादसहोदर रस का जीवन में उपयोग प्रतिपादित करना है जिससे उन चौथे व्याख्याकारों का निराकरण हो जाय जो 'कला कला के लिये' का अर्थ कर रहे थे कि कला का प्रयोजन स्वयं अपने में अवसित है और उसका जीवन-जगत के लिये कोई संदेश नहीं है।

भारतीय आचार्यों ने ब्रह्मास्वाद-सहोदर रस को 'सकल-प्रयोजन-मौलिभूत' कहा है। यदि साहित्य के अन्य प्रयोजनों को उन्होंने त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ काम) का साधन माना है तो रस को चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का द्वार समझा है। वस्तुतः मनुष्य की समग्र जीवन-समस्याओं का समाधान उसकी उस सामान्य भाव-भूमि में है जहाँ वह वैयक्तिक प्रयोजनों से ऊपर विश्वजनीन भावना में मंडराने लगता है—देश-काल की सीमाओं से उतर कर मानव-धर्म में पर्यवस्थान पाने लगता है—सांस्कृतिक सीमाओं से मनुष्यता तक जाने वाले अन्तर्वाहनों में विश्व-यात्रा करने लगता है—बुद्धि के ऊबड़-खावड़ धरातलों को उदारता से पाटता हुआ दूसरों को भी लड़खड़ाने से बचाता है। मानव-मात्र की एकता की सूत्रधारिणी संवेदना (देखिये पृ० ४, ५) इस सामान्य भाव-भूमि की पृष्ठभूमि है। इस भूमि में सिर का बोझ पैरों पर नहीं पड़ता और न पैरों का बन्धन ही सिर को है। न कोई बड़ा है—न छोटा, न कोई शासक है—न शास्य। गुणकर्मों की उच्चावचता यहाँ नहीं है। सामान्य और विशेष का भेद-भाव यहाँ नहीं है। स्वार्थ के बन्धुर मार्गों में मानवता के अंगों को दचोके यहाँ नहीं लगते। सामान्य जीव-जन्तुओं की भी समाज सत्ता यहाँ स्वीकार है। जड़-चेतन को मिलाने वाला भी एक ही तार है। इस सामान्यभाव-भूमि की उपलब्धि रजोगुण और तमोगुण से नहीं, सत्वोद्रेक से ही सम्भव है। यदि अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द चिन्मय वेद्यान्तरस्पर्श-शून्य और ब्रह्मास्वाद-सहोदर जैसा स्वरूप रस का है तो उसमें निःशेष वैयक्तिक प्रयोजनों की जननी रजस्तमोमयी वृत्तियों को स्थान कहाँ? वहाँ तो वह सत्वोद्रेक ही सम्भव है जो जीवन-जगत के भीतर ही मनुष्य को मुक्त कर सकता है। जीवन के विकास के लिये इससे

बड़ी मुक्ति और क्या है ? क्या ऐसी दशा का क्षणिक परिचय भी मनुष्य के सम्पूर्ण कल्मषों को नहीं निचोड़ देगा ? क्या उसे यह अनुभव नहीं होगा कि मनुष्य अपनी वैयक्तिक सीमाओं के कारण ही दुखी है ? क्या वह इसे भूल सकता है कि विश्व मंच पर उपस्थित पात्रों के साथ अथवा विश्व-मंच पर पात्रों को उपस्थापित करने वाले किसी सर्वोच्च कलाकार (ईश्वर की प्रेषणीयता के साथ साधारणीकरण करने में क्या आनन्द है ? क्या वह अनजान में भी समाहित जीवन को छोड़कर जीवन की एकांगी समस्याओं में उलझना ठीक समझेगा ? वह कैसे न मानेगा कि जीवन का समाधान व्यष्टि-जीवन में नहीं, समष्टि-जीवन में है—पल्लवग्राही प्रश्नों में नहीं, मौलिक प्रश्नों में है—खण्ड स्वार्थों में नहीं. अखण्ड परमार्थ में है—अनेकता में नहीं, एकता में है—मनुष्यों में नहीं, मनुष्यता में है ? वह कब तक इस हृदय-मुक्ति के प्रभाव से बचेगा ? एक बार में न सही तो दस बार में सही, सात्विक वासनाओं का प्रभाव उस पर पड़ेगा; सात्विक वासनाओं से ऊपर निःस्वार्थ प्रेम का कोई और भी उच्च स्वरूप है ? समता की कोई और भी सतह है ? विश्व-बन्धुत्व का कोई और भी साधन है ? मनुष्य का कोई और भी पुरुषार्थ है ? मानवता की कोई और भी श्रेणी है ? यदि नहीं, तो अपनी रस्य-मान दशा से रज:तमोमयी वृत्तियों को कम्पन-पुरस्सर चूसकर मनुष्य को अधिकाधिक सात्विक बनाने वाले ब्रह्मास्वादसहोदर रस से बाहर जीवन की कौन सी समस्या बची रह गई जो उसे पूर्ण बनाने का बीड़ा खाये बैठी है ? यदि नहीं, तो साहित्य का इससे बड़ा न तो कोई प्रयोजन है और न जीवन के लिये इससे अधिक उपयोगी कोई साधन।

इस प्रकार काव्यानन्द का व्यष्टि-जीवन से भी बढ़कर समष्टि-

जीवन में उपयोग है। फलतः आज भारत के कुछ पल्लवग्राही पण्डित रस-पद्धति के भीतर काव्यानन्द को जो मनोविज्ञान के उस आनन्द की सीमा में स्वीकार करते हैं जिसके अनुसार उसमें जीवन और समस्त क्रियाओं का अंतिम पर्यवसान हो जाता है, उनके सिर पर भी 'कला कला के लिये' वाला सिद्धान्त प्रेत बनकर बोल रहा है। ऐसी विहंगम-व्याख्यायें भारतीय साहित्य-शास्त्र का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं।

५

अभी तो जीवन-जगत के क्षेत्र में साहित्य-प्रयोजन का सिद्ध पक्ष कहलाने वाले रस की ही उपयोगिता का विवेचन हुआ है जिसके सामने 'कला कला के लिये' वाला सिद्धान्त कला-मुण्डी खा गया। प्रयोजन के साधनात्मक द्वितीय पक्ष को तो अभी इस प्रसङ्ग में छुआ भी नहीं है जो लोक की मान्यताओं के भीतर अपनी सार्थकता उद्‌घोषित करता हुआ उपदेश-तत्व या कान्ता-संमित उपदेश के नाम से प्राचीन ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। वैसे तो संसार की कोई भी समस्या मार्मिक अनुभूतियों में ढलकर काव्यानन्द का सिद्ध रूप (व्यंग्य-रूप) धारण कर सकती है किन्तु उनका बौद्धिक समाधान भी अर्जित-संवेदना के बल पर हृदयस्पर्शी अथवा चेतश्चमत्कारी होता है—(देखिये परिच्छेद १. प्रकरण ४)। इसीलिये साहित्य में वासनाओं के अलौकिक आस्वाद (रस) के साथ-साथ लौकिक व्यवहार-पक्ष भी सहृदय-श्लाघ्य होता है। लोक-संग्रह और लोक-साधना में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचने वाला यही तत्व है। शुक्ल जी इस पर बहुत जोर देते हैं। वे इसी तत्व के पैमाने से तुलसी को सूर से बड़ा सिद्ध कर गये हैं।

मम्मटाचार्य ने यद्यपि 'सद्यः परिनिर्वृत्ति' यानी रस को 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' कहा है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से कान्ता-संमित उपदेश को 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' कहकर लोक-संग्रह और लोक-साधना पर भी उन्होंने अपना

संरम्भ सूचित किया है। यों कहने को उन्होंने काव्य के छः प्रयोजन माने हैं—

काव्यं यशसेर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

—काव्यप्रकाश १।

पहले दो प्रयोजन अर्थात् यश और अर्थ की प्राप्ति कवि और कलाकार का वैयक्तिक स्वार्थ है, साथ ही सच्चे काव्य के आनुसंगिक फल होने के कारण नगण्य हैं। व्यवहार-ज्ञान और कान्ता-संमति उपदेश सामाजिक की दृष्टि से हैं। यद्यपि व्यवहार-ज्ञान का अवसर कवि को भी प्राचीन काल में राज-दरबार में पहुँचने से सम्मान-पुरस्सर प्राप्त होता था और आज भी राजाओं का स्थान कुछ विशिष्ट प्रकार के तबकों के हाथ में है पर कवि के पक्ष में व्यवहारज्ञान को उसके काव्य-निर्माण में हेतु-स्वरूप 'निपुणता' के भीतर रहने देना अधिक ठीक है (निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्) सामाजिक की दृष्टि से भी व्यवहार-ज्ञान, कान्ता-सम्मित उपदेश को ही प्रतिध्वनि-मात्र है। शिवेतरक्षति और सद्यः परिनिर्वृत्ति—ये दोनों प्रयोजन प्रधान-गुणभाव से कवि और सामाजिक दोनों के हैं। पहला कवि के लिये प्रधान और सामाजिक के लिये गौण है, दूसरा-कवि के लिये गौण और सामाजिक के लिये प्रधान है। शिवेतर-क्षति प्राचीन समय में तो धार्मिक दृष्टि से ही कवि के लिये प्रयोजनीय थी किंतु आधुनिक काल में नैतिक और सामाजिक दृष्टि भी इसे मिल गई है। अनेक कवियों के उद्गार हैं कि उन्हें मंगलमय पथ पर ले जाने वाली उनकी कविता ही है। शायद बायरन ने तो यहाँ तक कहा था कि यदि मैं कविता न करता तो कुछ बुरी बात करता।

इन सारे प्रयोजनों पर विचार करने से केवल दो ही ठोस पक्ष सामने रह जाते हैं—सद्यः परिनिर्वृत्ति या रस और कान्ता-सम्मित उपदेश। रस को अब छोड़ देना चाहिए। इसका काम-चलाऊ विचार हो चुका है। यों तो कान्ता-सम्मित उपदेश की भी सामान्यतया व्याख्या आगे-पीछे की जा चुकी है किन्तु लगभग सौ वर्ष से पाश्चात्य देशों में समस्याओं का झंडा उठ खड़ा हुआ है जिसके फलस्वरूप सभी प्रकार की क्रान्तियाँ साहित्य में उतर कर अपना-अपना बौद्धिक हल ढूढ़ने लगी हैं। पचास वर्ष से भारत का इतिहास भी एक संक्रान्ति-काल से गुजर रहा है और जब से यह स्वतंत्र हुआ है तब से तो संक्रान्ति की पराकाष्ठा पर है। आज शिक्षा-जीवियों के तीन दल हैं। पहला वह है जो पाश्चात्य देशों के सम्पर्क से समाज में संक्रमित होने वाली समस्त अच्छी-बुरी बातों का विरोधी है। यह वर्ग 'स्नेहः खलु पापशंकी' के अनुसार अपने देश को किसी भी हवा से बचाना चाहता है। इन कठ-हुज्जतीयों को कौन समझाये कि कोई देश उसी समय पिछड़ता है जब वह संसार के वातावरण से अपने को अलग काट लेता है। दूसरा वर्ग वह है जो पाश्चात्य प्रभाव का बुरी तरह शिकार है। इसके लिये न तो भारत में कोई विचार-मनिषी पैदा हुआ है न कोई आचार-निष्ठ, न कोई यहां गौरवपूर्ण संस्कृति रही है न कोई अभिनव सभ्यता, न कोई युग-पुरुष हुआ है न कोई युग-प्रवर्तक साहित्यकार, न कोई गतिमय जीवन रहा है न कोई प्रगतिमय साधन। यह वर्ग बात-बात में पाश्चात्य देशों का उदाहरण देता है—उनकी शिक्षा-दीक्षा को आदर्श मानता है—उनकी सभ्यता को दण्डवत् करता है—उनके आचार-विचारों की महिमा गाता है—उनकी समस्याओं को सर्वजनीन कहता है। इस वर्ग के

लोगों को भारत की राष्ट्रीय भाषा और तत्सम्बन्धी साहित्य के बारे में तो घोर भ्रान्ति है। आज से दश-बारह वर्ष पहले जब अंग्रेज भारत पर राज्य करता था—तब यहां की निन्यानवें प्रतिशत जनता का यही विश्वास था कि भारत इतना पिछड़ गया है कि वह कभी आजाद होने लायक नहीं है—वह अपने पैरों पर अपना ही बोझ नहीं सम्भाल सकता—दुनियाँ की राजनीति के स्वतन्त्र धक्कों में वह टूक-टूक हो जायगा। अँग्रेज भी संसार के सामने यही कहता था कि अभी कई शताब्दियों तक भारत में नागरिकता की उत्पत्ति की कोई सम्भावना नहीं है जिसके आधार पर अन्य देशों की धारणा बन गई थी कि भारत में चालीस करोड़ भेड़ रहती हैं। पर आज ? आज की यह हालत है कि दश वर्ष की स्वतन्त्रता ने ही यह सिद्ध कर दिया कि संसार में भारत की राजनीति का वही स्थान है जो नारी-समाज में किसी सती-शिरोमणि का। भारत अपने पैरों पर ही अनायास खड़ा नहीं हो गया, उसने इस बीच में कई देशों को उठाने में सहारा दिया है और विश्वराजनीति के पैशाची पैरों में पिसने से उन्हें बचाया है। भारत आज एशिया को ही दिशादान (लीड) नहीं कर रहा, सारे संसार के पथ-निर्माण में इसका-योग आवश्यक हो गया है। अब कहां हैं वे लोग जो दश वर्ष पहले अँग्रेज की राजनीति के पैरपोश थे ? उनकी बात चली होती तो गांधी और नेहरू जेल में सड़कर मर गये होते। उनकी गद्दारी सफल हुई होती तो उन्हीं की सन्तान अँग्रेजों के कागज पीटते-पीटते खतम हुई होती। यह राजनैतिक भ्रान्ति थी जो ठिकाने लग चुकी है। पर हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य के बारे में फिर वैसी ही भ्रान्ति यहां के अधिकांश शिक्षितों की बनी हुई है—यह बड़े दुख की बात है। अँग्रेज चला गया पर अँग्रेजियत को लोग

छाती से लगाये पड़े हैं। इनके सामने भाषा केवल अँग्रेजी है और कवि केवल शैक्सपीयर। पहले ये लोग चिल्लाते थे कि अँग्रेज चले जायेंगे तो क्या होगा। आज ये चिल्लाते हैं कि अँग्रेजी चली जायगी तो क्या होगा। अँग्रेज चले गये, और उनके बाद क्या हुआ—यह सबके सामने है। अँग्रेजी भी चली जायगी, और इसके बाद क्या होगा—यह भी सबके सामने आ जायगा। ये लोग जितना ही अँग्रेजी को रोकने का हल्ला मचा रहे हैं उतना ही उसके पैर उखड़ रहे हैं। ये लोग देश-काल की आवश्यकताओं को नहीं समझ पा रहे। ये उनसे अधिक प्रतिक्रियावादी हैं जो पुरानी मान्यताओं के धनी हैं। इनका स्वाभिमान और आत्म-विश्वास बिल्कुल चौपट हो गया है। इन्हें परावलम्बन का असाध्य ज्वर है जिसमें अँग्रेजी की ठंडाई ही इन्हें रुचिकर प्रतीत होती है। अथवा इन्हें यह डर है कि अँग्रेजी के जाते ही हमारी प्रतिष्ठा चली जायगी। आखिर इन्होंने सारी जिन्दगी अँग्रेजों के ही कपड़े धोये हैं, अँग्रेजों के ही चपरास उठाये है। आज भी ये अपनी अयोग्यता का मुँह अँग्रेजी की चिक में छिपाये खड़े हैं। देश के स्वतन्त्र जागरण के ये परम शत्रु रहे हैं और आज भी वैयक्तिक सुविधाओं के लिये हिन्दी-संस्कृत के विरोधी हैं। अच्छा, यह भी आवश्यक नहीं है कि ये अँग्रेजी के विद्वान ही हों। मैंने अधिकतर उन्हीं लोगों को अँग्रेजी का समर्थन करते हुए सुना है जो 'ज्ञान लव दुर्विदग्ध' हैं। यह भी जरूरी नहीं है कि ये लोग अँग्रेजी की किसी रचना का ठीक-ठीक अर्थ ही समझते हों। नहीं, जिसे ये ठीक तरह नहीं समझते उसकी और भी तारीफ करते हैं। मैंने अनेक बार कई प्रोफेसरों को शैली और कीट्स की पंक्तियों पर इस प्रकार क्लासों में झूमते देखा है मानों इन्हें अपस्मार (मिरगी) की बीमारी हो। पर बाहर

निकलने पर जब उनसे पूछा गया है कि वे किस बात पर इतने रीझ रहे हैं तब उनके दयनीय उत्तरों से यही प्रमाणित हुआ है कि वे या तो सम्बद्ध रचना के किसी अंश को ठीक नहीं समझ पा रहे और या तो फिर किसी ऐसे अंश पर लट्टू हैं जिसमें साहित्य के नाम पर कुछ भी नहीं है।

अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी साहित्य पर मैं आक्षेप नहीं कर रहा। यह मान लिया जा सकता है कि अंग्रेजी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है और अंग्रेजी साहित्य विश्व के साहित्यों में से एक समृद्ध साहित्य है। पर क्या इसीलिये हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा भी होने योग्य नहीं है और उसका साहित्य नहीं के बराबर है ? हम खूब समझते हैं कि किसी भाषा की सीमाओं के साथ-साथ उसका साहित्य भी फैलता है। राजनैतिक और वैज्ञानिक कारणों से इंगलिश भाषा देश-देशान्तरों में फैल गई और पीछे-पीछे उसका साहित्य भी। हमें अनेक आवश्यक बातें इंगलिश पुस्तकों से उपलब्ध होती हैं और इसीलिये हम उन्हें पढ़ते हैं जिसके कारण इंगलिश भाषा और साहित्य का अनजान में प्रचार और प्रसार होता है। पर कल्पना कीजिये कि यदि हमारा देश उन्नति की दौड़ में पाश्चात्य देशों से आगे निकल जाय और हमारा स्वाभिमान जग उठे तो क्या होगा ! यहाँ के वैज्ञानिक अपनी खोज और आविष्कार की सिद्धान्त-पुस्तकें हिन्दी में लिखेंगे, और यदि अन्य देश भारत से पिछड़ना न चाहेंगे तो उन्हें वे पुस्तकें पढ़नी पड़ेंगी जिसका मतलब होगा कि उन्हें हिन्दी पढ़नी पड़ेगी। यह अनजान में हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार होगा। समझ में नहीं आता कि हिन्दी भी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा क्यों नहीं हो सकती और जयशंकर प्रसाद, शैक्सपीयर की भाँति दुनियाँ की जबान पर

क्यों नहीं चढ़ सकता यदि हिन्दी भाषा की सीमायें इंगलिश भाषा की सीमाओं से मिला दी जाँय।

तीसरा वर्ग समन्वयवादियों का है। इसके भीतर कुछ लोग तो ऐसे हैं जो भारतीय सभ्यता पर पाश्चात्य सभ्यता की कलम चढ़ाते हैं और दूसरे वे हैं जो पाश्चात्य सभ्यता पर भारतीय मुहर लगा देते हैं। पहले लोग भारतीयता से बिना जाने ही ममत्व करते हैं और उस पर वाह्य देशों की गतिविधियों को थोपते हैं—दूसरे लोग पाश्चात्य प्रवाह में तो बह रहे हैं पर अपने वैलक्षण्य के लिये भारतीयता की नोंच-खोंच करते चलते हैं। निश्चित बात है कि इस संक्रान्ति-काल में बहुत ही कम लोगों ने देश की मूल समस्याओं को समझा है। साहित्य के क्षेत्र में भी कुछ इने-गिने ही साहित्यकार और साहित्यालोचक हैं जो देश की समस्याओं के पीछे चल रहे हैं, समस्याओं के पीछे देश को नहीं चला रहे। ऐसे ही साहित्यकारों को काव्यानन्द के साथ उपदेश-तत्व मिलाना पड़ जाता है—साहित्य के सिद्ध पक्ष के साथ साधना पक्ष पर जोर देना पड़ जाता है। संक्रान्तियों के कारण ही क्रान्तियाँ आती हैं। दो चीजों के परस्पर टकराने पर ही विकास का मार्ग निकलता है। भारत की वर्तमान संक्रान्ति, जिसमें भारतीय और पाश्चात्य सभ्यतायें गुत्थंगुत्था लड़ रही हैं, किसी बहुत बड़े विकास की पीठिका है।

अस्तु, प्रयोजन यह है कि उपदेश-तत्व की विशेष व्याख्या समस्याओं के रूप में देखना आजकल बहुत ही आवश्यक है। यह कहना कठिन है कि मनुष्य के पीछे समस्याओं ने कब से ऊधम उठा रखा है। शायद मनुष्य, जब से मनुष्य कहलाया तभी से समस्यायें उसके साथ हैं। और जिस दिन से साहित्य में मनुष्य

ने अभिव्यक्ति पाई उसी दिन से उसकी समस्याओं ने भी उसके द्वार पर धरना देना प्रारम्भ कर दिया है।

कुछ आधुनिक विचारकों ने भारत के ऐतिहासिक साहित्य के और साहित्यक इतिहास के भीतर समस्याओं की अच्छी छान-बीन की है। वस्तुतः हमारे वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के लम्बे-लम्बे रूपकों में प्राकृत पुरुषों के लिये 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की जगह-जगह स्थापना की है। 'शिवसंकल्पमस्तु' इदम हमसत्यात्सत्यमुपैमि' आदि वाक्यों का संपुट वैदिक ग्रन्थों में चलता है। 'सुन्दरम्' की झांकी उषा, अग्नि, इन्द्र, आदि की वैज्ञानिक और भौतिक स्तुतिओं में संमूर्तित जान पड़ती है। सत्य का प्रकाश, शिव का विकास और सुन्दर का उल्लास हमारे वैदिक साहित्य की समस्याओं के समाधान थे जो आज भी उच्छिष्ट नहीं हुए हैं। संस्कृत के साहित्यकारों ने सत्य के प्रकाश में ओजगुण, शिव के विकास में प्रसादगुण और सुन्दर के उल्लास में माधुर्यगुण के दर्शन किये।

समस्याओं के अवगाहन के लिये साहित्यकार की दृष्टि अणु-दर्शी और दूर-दर्शी दोनों ही होनी चाहिये। पहली दृष्टि के कारण वह युग-द्रष्टा और दूसरी के कारण युगस्रष्टा कहलाता है। युग-द्रष्टा अपने पात्रों की सृष्टि में युग-समस्यायों को समाहित करता है अतः युग-प्रतिनिधि कहलाता है। युग-स्रष्टा एक कदम और भी आगे है। वह अपने युग का प्रतिनिधित्व तो करता ही है, उस पर से भविष्यत् समस्याओं का युगान्तर-व्यापी समाधान भी दे जाता है। हमारे देश के सबसे बड़े स्रष्टा बाल्मीकि और व्यास हुए हैं। इसे हम नहीं, देश-विदेश के अनेक इतिहास-विज्ञ सिद्ध कर चुके हैं। बाल्मीकि रामायण की रथ-यात्रा जीवन के नैतिक और समाज के मर्यादित सकरों को पार कर रही है।

भ ग, भाग्य और मर्यादा की सीमायें सामंजस्य पाकर करुण-रस की सृष्टि करती है। वैदिक काल की समस्या थी—स्वच्छन्द विहार से उत्तरोत्तर मृग-तृष्णा और कष्ट-परम्परा। समाधान था ईश्वरीय भय, धार्मिक जीवन और आचारमूलक कर्म-काण्ड। रामायण-काल की मुख्य समस्या थी—भोग और भाग्य का संघर्ष। और उसका मुख्य समाधान था मर्यादित जीवन। क्रौंच-मिथुन का स्वच्छन्द भोग और उनमें से एक का वध, भोग और भाग्य का संघर्ष लेकर उतरता है। यही शोक-समस्या रामायण के मूल हैं। एक ओर राम के सामने राजसिंहासन का भोग है, दूसरी ओर बन-गमन का भाग्य उपस्थित है। इन दोनों का समाधान भी राम की मर्यादा में मिल जाता है। स्वच्छन्द-विहार का प्रतीक रावण इस मर्यादा से टकराकर टूट जाता है। तुलसीदास ने इसी रावण को मर्यादा के विपरीत और भी घृणित चोला दिया। राम का मारा हुआ रावण एक बार जला होगा पर तुलसीदास का मारा हुआ रावण हर साल जलाया जाता है।

महाभारत की समस्यायें अपने युग के अनुसार कुछ भिन्न प्रकार की हैं। यहां शक्ति और मद के साथ सामर्थ्य और संयम का संघर्ष है। कौरव शक्ति और मद के प्रतीक है। पांडव सामर्थ्य और संयम की मूर्ति है। कौरवों की नीति स्वच्छन्द है क्योंकि उसका आधार पाप, अधर्म और अन्याय है। पान्डवों की नीति परतन्त्र है क्योंकि उसमें पुण्य, धर्म और न्याय का बन्धन है। कौरवों की मद-विह्वल शक्ति और पांडवों का धर्म-भीरु कष्ट श्री कृष्ण के नियति-चक्र से चूर-चूर होकर अन्तर्जगत की समंजस शान्ति में बिखर जाता है। वास्तव में व्यास जैसा स्रष्टा विश्व के इतिहास में दूसरा नहीं आया। उनकी सृष्टि के अन्द्वन्द की इकाइयां इतनी स्वतन्त्र और साफ हैं जितनी ब्रह्मा की इस अनन्त

सृष्टि की। ईश्वरीय सृष्टि की यही तो मार्मिकता और विलक्षणता है कि यहां एक सूरत-स्वभाव के दो व्यक्ति नहीं मिल सकते। स्रष्टा कवि की सृष्टि का भी यही वैशिष्ट्य होता है। महाभारत में यह अपनी काष्ठा पर है। युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, दुःशासन कर्ण, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, विदुर, धृतराष्ट्र आदि आदि कोई भी तो किसी से नहीं मिलता। और इनकी संख्या इतनी अधिक है कि इनके संघर्ष में भूमण्डल क्या समस्त ब्रह्मांड की उथल-पुथल जान पड़ती है। इस विलक्षण महती सृष्टि की द्वन्द्वात्मकता का समाधान श्रीकृष्ण के विराट रूप में है। श्री कृष्ण का चरित्र एक ऐसी सृष्टि है जिसमें मानव की प्रवृत्ति, निवृत्ति, धर्म नीति, ज्ञान, कर्म, संन्यास, भोग, मोक्ष और जीवन के समस्त योग-क्षेम अपना-अपना औचित्य ग्रहण करते हुए सदा आराम से लेटे रहेंगे। मानना पड़ेगा कि व्यास की दृष्टि मानव के भावी इतिहास के प्रत्येक पन्ने पर से गुजर चुकी थी। उसने निःशेष मानवीय द्वन्द्वों का महाभारत के शान्त-रस से विश्व-शान्ति में चूडान्त-संस्कार कर दिया है।

इतने पर भी जो लोग जीवन-जगत की समस्याओं को और उनके समाधानपरक प्रयोजन को साहित्य क्षेत्र में कोई महत्व न देना चाहें उनसे निबटना कठिन है। युग-विशेष की समस्याओं के प्रति कवि की जागरूकता की मात्रा उसकी रचनाओं की उपादेयता की मात्रा है और उन समस्याओ को जीवन में घोलकर एकरस कर देना उसकी प्रेषण-पटुता और कला है। वर्तमान की कसौटी पर जब कोई रचना खरी उतर जाती है तब उसका मूल्य निश्चित हो चुकता है। ऐसी रचना युग-विशेष से गुजरते हुए जीवन का मूल्य है जिसे समाज की मर्यादा कभी नहीं भूल सकती क्योंकि समाज उसी समय तक समाज है जब तक वह अपने

जीवन को नहीं भूलता। तुलसीदास के समय की समस्यायें बहुत बदल गई हैं पर उनकी रचनाओं का अर्पित मूल्य जन-समाज के हृदय की वस्तु बन चुका है। सभी महाकवियों की रचनायें, चाहे वे किसी भी देश-काल से सम्बद्ध क्यों न हो, जीवन के शाश्वत प्रवाह के झरने होती हैं। इन झरनों का आनन्द उनके पास खड़े होकर ही लिया जा सकता है—उनके साथ गिरकर ही लिया जा सकता है—उनके कोलाहल में डूबकर ही लिया जा सकता है। यदि शैक्सपीयर की रचनाओं में से अतिमानवीय सत्ता (सुपरनैचुरलिज्म) को अविश्वास की शिला पर पटक दिया जाय तो उसकी कला टूटे हुए काच के टुकड़ों के ढेर के अतिरिक्त कुछ भी न रह जायगी। पर नहीं, यह अतिमानवीय सत्ता का विश्वास जीवन की जान्हवी का तीर्थस्थान बन चुका है जहाँ संस्कारी मानव के मेले लगते रहेंगे। तुलसीदास ने अपने अमृतोपदेश से अपने समय के जिस जन-समुदाय की रक्षा की उसकी परम्परा क्या इतनी कृतघ्न हो सकती है कि वह उसे किसी भी युग में गलदश्रु याद न करे? इसके विपरीत आशंका तो यह है कि कहीं बुढ्ढे सहृदय इसी कृतज्ञता की छाया में इतने भाव-विह्वल न हो जाँय कि वर्तमान की जीवन समस्याओं से अलग जा पड़ें और उनके साथ समझौता करने में नई सन्तान को इतना समय लगाना पड़े कि वह समय की गति के साथ प्रगति न कर सके। यह इसलिये और भी स्वाभाविक है कि प्राचीन समस्याओं की कटुता वर्तमान में स्मृति-रूपा होने के कारण भाव-मात्रैकशेष रह जाती है जो बड़ी मधुर जान पड़ती है। और फिर उनके तत्कालीन समाधान तो और भी मधुर होते हैं। वर्तमान की समस्यायें प्रत्यक्ष होने के कारण कटु होती हैं और उनके समाधान भी

सम्मुख रहने के कारण इतने मधुर नहीं हो पाते। तो फिर क्या आश्चर्य है कि प्राचीनता की अभिराम माया का व्यामोह नवीनता की उमंग को उसी प्रकार शान्ति भंग करने वाला समझे जिस प्रकार कोई बुड्ढा बच्चों के खेल-कूद को। ऐसे ही जरठ-पण्डितों की भृकुटी छायावाद और रहस्यवाद की किशोर कविताओं को बहुत दिनों तक भरती दिखाती रही थी। आज भी ऐसे नैष्ठिक आलोचक मिल सकते हैं जो वर्तमान कविता की स्वच्छन्दधारा के सौन्दर्य को देखकर अपना संयम नहीं बिगाड़ना चाहते। अपने समय के कुछ इसी प्रकार के व्यक्तियों के कारण कालिदास को लिखना पड़ गया था—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः पर-प्रत्यय नेयबुद्धिः ॥

—मालविकाग्निमित्र।

इसलिये जो कुछ भी था वह पहले ही कहा जा चुका है और अब कुछ भी कहने को नहीं है—यह कहना तभी ठीक होगा जब यह मान लिया जाय कि पहले जीवन था और अब उसकी मृत्यु हो गई है। बल्कि इसका प्रतियोगी प्रमाण तो यह है कि पहले की अपेक्षा आज के जीवन की समस्यायें और भी विषम हैं। इसलिये उनका समाधान और भी व्यापक तथा उदार भूमि पर होना चाहिये। रामचरितमानस और कामायनी को एक साथ रखकर देखने का धैर्य जिसमें हो उसे इस बात का समर्थन मिल जायगा कि धार्मिक धरातल पर बौद्धिक वृत्तियों की रोक-थाम जितनी सरल है, बौद्धिक धारातल पर धार्मिक वृत्तियों का सन्तुलन उतना ही कठिन है। और अभी तो कामायनी को उसके पूरे मूल्य भी समाज ने अर्पित नहीं किये। वस्तुतः प्रयोजन की चरमान्त सफलता का बोध तबतक

समाज को पूर्णतः नहीं होता जब तक उसके सिक्कों को प्रचलित मान्यता नहीं मिलती। इसके लिये समय लगता है। कामायनी को भी समय लगेगा। रामचरितमानस को भी बहुत समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। डा० ग्रियर्सन से पहले तुलसीदास केवल भक्त थे। और रामचरितमानस क्या था—यह पता नहीं, पर काव्य नहीं था—यह पता है। और शुक्ल जी के आते-आते तुलसी को अनन्त साहित्याकाश का सूर्य न कहकर शशि कहने में भी संकोच होने लगा और रामचरित मानस मानव-परम्परा का महाकाव्य बन गया।

कभी-कभी तो देश-काल की आवश्यकतायें इतनी भभक उठती हैं कि उनका तत्क्षण समाधान करने के लिये साहित्य में अभिधावृत्ति का नग्न नृत्य होने लगता है। यही कारण है कि जब काव्य के पण्डाल में ये प्रस्ताव पास किये जा रहे थे—

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्यायें सभी॥

—भारत-भारती।

तो देश के कविता-प्रेमियों की छाती फूल उठती थी। ऐसी कृतियाँ भी तात्कालिक महत्व की दृष्टि से कम उपयोगी नहीं होती भले ही जीवन-व्यापी प्रभाव की न्यूनता के कारण ये साहित्यिक इतिहास अथवा ऐतिहासिक साहित्य के निर्माण में योग देकर निकल जाँय। फिर भी जब हम साहित्य के प्रयोजन के द्वितीय पक्ष उपदेश-तत्व या शुक्ल जी के शब्दों में लोक-मंगल के साधनात्मक पक्ष की बात कहते हैं तो हमारा मन्तव्य केवल देश-काल की शाब्दिक विवृति और विरोधी समस्याओं का बौद्धिक समाधान मात्र नहीं है। यह काम तो साहित्य से बाहर भी किया जा सकता है। नेताओं के गर्म भाषण, समाज-आन्दोलन, राजनै-

तिक संस्थायें, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के लचीले दाव-पेच आखिर इसी अखाड़े की शोभा हैं। पर इन सबका क्षेत्र बुद्धि से अनन्यतया अधिकृत है और प्रत्यक्ष राग-द्वेष से दूषित भी है। प्रत्यक्ष मनोविकारों की बात ही छोड़िये, उनसे तो समस्यायें उत्पन्न और होती है। बौद्धिक हल भी प्रायः शाश्वत नहीं होते और सर्व-जनमान्य तो शायद कभी भी नहीं। शुद्ध बुद्धि की महिमा भी लोक में अस्मिता-शबलित होने के कारण जय-पराजय में आंकी जाती है। ये दो उसके अनिवार्य पक्ष हैं। इसका विजयी पक्ष सदा आक्रामक होता है अतः उसमें हिंसा का भाव विद्यमान है। परा-जित पक्ष सदा आतंकित होता है अतः उसमें प्रतिहिंसा धधकती रहती है। संसार के क्षेत्र में बुद्धि का यह द्वन्द्व पुरातन और सदातन है। कहना चाहिये कि बहिर्मुखी बुद्धि का अपने में कोई शाश्वत समाधान नहीं है। अन्तर्मुखी बुद्धि की बात ज्ञान योगी जानें, उसका यहां व्यवहार के क्षेत्र में कोई प्रसंग भी नहीं है।

किन्तु शाब्दिक विवरण और बौद्धिक समाधान भी जब अर्जित-संवेदना पर चढ़कर और सात्विक वासनाओं में डूबकर निकलते हैं तब इतने मधुर और कारगर होते हैं जितने कामदेव के वाण और इतने टिकाऊ होते हैं जितनी ब्रह्मा की सृष्टि। इस-लिये साहित्य-कर्म और नेतागीरी में अन्तर है। साहित्यकार बुद्धि से काम लेता है पर समाधान हृदय से ही करता है। नेता हृदय से काम ले भी लेता है पर समाधान बुद्धि से ही करता है।

नितान्त आधुनिक अर्थ में यदि समस्या को लिया जाय तो यह अत्यन्त साम्प्रदायिक शब्द है। किन्तु इसका समाधान भी कान्ता-सम्मित उपदेश तत्व का विरोधी नहीं है। सन् १८५० के बाद की योरोपीय क्रान्ति का इतिहास इससे सटा हुआ है। सन् १८७५ में इब्सन के नाटकों से इसकी पूर्णतः स्थापना

समझनी चाहिये। पीछे यह आन्दोलन फ्रान्स में आँत्वान द्वारा, रूस में स्टैनिस्लावकी और इंगलैंड में बर्नार्ड शा के द्वारा फूला और फला। इस शब्द का व्यवस्था-प्राप्त अर्थ है कि जीवन की कोई भी समस्या, चाहे वह सामयिक हो या चिरन्तन, चाहे व्यष्टिगत हो या समष्टिगत, तुल्यवल-विरोधी तार्किक समर्थनों के द्वारा ऐसे विनिगमना-विरह के साथ उपस्थित हो कि औचित्यानौचित्य की एक-कोटिक प्रामाणिकता दब जाय और बुद्धि के तार झनझना उठें। निश्चय ही समस्या बौद्धिक आधार पर उठाई जाती है और उसका समाधान भी यथा सम्भव बौद्धिक होता है पर बिल्कुल बौद्धिक नहीं। बिल्कुल बौद्धिक होने पर तो यह पंचावयवी (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगम) तर्क-शास्त्र अथवा विधान-सभा की बहस ही हो जायगी।

समस्या के इसी साम्प्रदायिक अर्थ के फलस्वरूप समस्या-प्रधान कृतियों में पर्याप्त वैलक्षण्य आ गया। प्ररूढ़ परम्परायें, प्रचलित परिपाटियाँ, जो साहित्य-शरीर में मनोरंजन, आकर्षण, कौतुक, अनावश्यक भावुकता, बनाव-सजाव, चुनाव आदि की अतिकल्पित परिधि में व्यावसायिक अधिक थीं, बुद्धिवादी युग में फिर से परीक्षणीय ठहराई गईं। पुनःपरीक्षण में काल्पनिक, मिथ्या और विचार-शून्य मनोविकारों के कृत्रिम उद्गारों पर पावन्दी लगा कर, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की यथार्थ समस्याओं का विवेचन नाटकों और उपन्यासों का लक्ष्य घोषित किया गया। परिवर्तन और परिष्कार के अतिरिक्त नवीनता का प्रतिनिधित्व काव्य-पात्रों के माध्यम से उतर कर विकासवाद का नारा बुलन्द करने लगा और व्यक्ति-वैचित्र्य ने चरित्र-सौन्दर्य की अवतारणा की। बुद्धि के सामने विकटता और उसे पगु बनाने की स्थिति ने रचना-तत्वों के स्वतन्त्र विनियोग को दबोच

दिया। फलतः समस्याकृतियों का रचना-विधान समस्याओं को इस मन्थरगति से लाने में कमाल पाने लगा जिसमें जंग खाई हुई बुद्धि को गहरे घिस्से लगें और उसकी चमक-दमक सहज स्वाभाविक और टिकाऊ हो। जो कर्म-संघर्ष पहले बौद्धिक संघर्ष का उपजीव्य था वह उपजीवी बनकर उसके द्वार पर खड़े रहने को मजबूर हुआ। अर्थात् कर्मों के द्वन्द्व केवल प्रसंग-प्रस्तावना में पड़ गये और जीवन के नाटकों को बौद्धिक द्वन्द्वों के 'भरत-वाक्य' में पढ़ा जाने लगा।

दूसरी ओर रोमांस के रहस्यात्मक पक्ष पर भी चोट की गई। प्रेम को दबाने वाली प्रवृत्ति शोचनीय और संहारक समझी गई। पर साथ ही वैयक्तिक प्रेम की अवहेलना और तिरस्कार का विरोध करते हुए व्यक्ति को सामाज के लिये मूलतः महत्वपूर्ण सिद्ध किया गया। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक घात-प्रतिघात में व्यक्ति की रक्षा के लिए सारी शक्ति लगा दी गई। व्यक्ति कहाँ तक समाज के लिये झुके और समाज कहाँ तक व्यक्ति को अपने में व्यवस्थित करे—इसका समाधान खोजा जाने लगा।

जब रचनाओं का लक्ष्य ही बदल गया तब रचना-तत्वों में भी परिवर्तन होना अनिवार्य हो गया। रचना-शैली, पात्र, कथोपकथन, कथानक, वातारण-आदि सभी कुछ उद्देश्य के अनुसार चल पड़े। संक्षेप में नैसर्गिक जीवन की महत्ता के कारण कृत्रिमता, तड़क-भड़क, सज-धज. चटपटापन, वागडम्बर आदि को छोड़कर इस बात को प्रमुखता दी जाने लगी कि कोई बड़ी से बड़ी बात सरल से सरल रूप में उपस्थित की जाय। अनेक पात्रों का आग्रह, गाने-बजाने तथा कविता, भावुक प्रवृत्ति, अनावश्यक दृश्यों की बहुलता, पट-विस्तार के लिये विभिन्न देश-काल की व्यवस्थाओं और घटनाओं की विभ्रममयी भरती, पात्र-विशेष के

साथ अनावश्यक पक्षपात, वर्गवाद और जातिवाद का अक्षुण्ण पूर्वाग्रह-जैसी बातों को एक हाथ से अस्वीकार कर दिया गया।

सब मिलाकर समस्याकृतियों में बुद्धि-तत्व की प्रधानता है और इसीलिये इनमें उपदेश-तत्व अपनी प्रखर मात्रा में है। किन्तु फिर भी वह कान्ता-संमित ही है, यह दूसरी बात है कि सामान्यकान्तासंमित न होकर विदग्ध कान्ता-संमित है। इसीलिये इन कृतियों में बुद्धि का थकित-भाव ही नहीं चकित-भाव भी है। बुद्धि-विस्तार ही नहीं चित्त-विस्तार भी है। इनमें तर्क-वितर्कों का परिधान मानसी मार्दव है। आकर्षण-विकर्षण की सीमाओं में सुषुप्ति-जागृति का न थकाने वाला मिश्रण है। अहंभाव के पैरों में पलने वाली नूतनता के आग्रह में व्यक्ति-वैचित्र्य का अद्भुत पराक्रम है। निःसन्देह समस्याकृतियां साहित्य-जीवन की सामयिक अंगड़ाइयां है और उसके चैतन्य की प्रख्यापिका हैं।

इस प्रकार 'कला कला के लिये' वाले सिद्धान्त को जन्म देने वाले पश्चिम ने ही जब जीवन-जगत से टक्कर खाई तब उसे ऐसी गहरी मौत दी कि साहित्य में उसका पुनर्जन्म ही असम्भव हो गया। पश्चिमी साहित्य में ऐसे अनेक सिद्धान्त-वाद अपनी मौसमी उड़ान में इतने ऊंचे चढ़ जाते हैं कि उन्हें बे-मौसिम गिरना पड़ता है और फिर उनके पंख भी इकट्ठे नहीं किये जा सकते।

तृतीय-परिच्छेद

[अलंकार और अलंकार्य]

१

इस प्रकरण में कुछ विवादास्पद विषयों की विवेचना है। साहित्य के भीतर कुछ ऐसे तत्व हैं जिन्हें आँख मूंदकर अलंकार अथवा अलंकार्य नहीं कहा जा सकता। शब्दार्थ-तत्व को पीछे मध्यम-अलंकार कह कर छोड़ ही चुके हैं। शब्दार्थ काव्य का शरीर है और शब्दालंकार तथा अर्थालंकार उस शरीर के शोभाधायक अस्थिर धर्म हैं जो परम्परया काव्य के आत्मस्थानीय रस तक पहुँच जाते हैं।

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोलंकारास्तेङ्गादिवत् ।

—साहित्य-दर्पण

इसका मतलब है कि शब्दार्थ अनुप्रासादि अलंकारों से सजाया जाता है—इसलिये तो अलंकार्य है और अलंकृत और अनलंकृत दशा में भी आत्मस्थानीय रसादि को अभिव्यक्ति देता है इसलिये स्वयं अलंकार भी है। शरीर बाह्य अलंकारों से अलंकृत होकर भी और स्वयं भौतिक रूप में भी आत्मा की व्यंजना करता है। आत्मा के बिना शरीर की सत्ता ही नहीं समझी जाती। मुर्दे इसीलिये जला दिये जाते हैं।

पर सिद्धान्त-पक्ष यह है कि शब्दार्थ को किसी भी प्रकार अलंकार्य मानना ठीक नहीं है, वह अलंकार ही है। शब्दार्थ, अलंकार है—यह तो सिद्ध ही है पर वह अलंकार नहीं है—यह सिद्ध करने का मतलब होगा कि वह अलंकार ही है।

शब्दार्थ अलंकार्य क्यों नहीं है—इसका समाधान इस प्रश्न

पर निर्भर है कि कवि अलंकारों की योजना किसकी अपेक्षा से करता है। शब्दार्थ की अपेक्षा से करता है या रसभावादि की अपेक्षा से? एक स्वर से सभी साहित्य-मर्मज्ञ उत्तर देंगे कि अलंकार-योजना रस-भावादि की अपेक्षा से ही की जाती है। रस-भावादि के प्रतिकूल अलंकार-योजना साहित्य में बहुत बड़ा दोष है। शान्त-रस की अभिव्यक्ति में कोमल और कटु-दोनों प्रकार के वर्ण आते हैं, सांसारिक विषयों की भर्त्सना कटु ध्वनि में और आध्यात्मिक रमण की व्यंजना कोमल ध्वनि में होती है। पर पंचवटी के वर्णन में केशवदास जी ने इस बात की कोई परवाह नहीं की और कर्ण-कटु 'टी' का एक ही पद्य में सत्तरह बार गिनकर संपुट-पाठ कर दिया है। पद्य यह है :—

सब जात फटी दुपटी दुख की कपटी न रहे जँह एक घटा
निघटी रुचि मीच घटी हू घटी जग जीव जतीन की छूटी तटी।
अघ-ओघ की बेरी कटी बिकटी निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान गटी
चहु ओरन नाचति मुक्ति नटी गुण धूर्जटी बन पंचवटी।

—रामचन्द्रिका

पहली ढाई पंक्तियों में 'अटी' का पदान्त-गत और पादान्त-गत अन्त्यानुप्रास जितना रसानुगत है पिछली डेढ़ पंक्तियों में उतना ही दोष-पूर्ण है।

यह तो शब्दालंकार की बात रही। इसी प्रकार रसभावादि के विपरीत अर्थालंकारों की योजना भी बहुत भौंड़ी हो जाती है। महाकवि कालिदास भी एक पद्य में रूपक की ऐसी बेढंगी योजना कर बैठे कि दो विरोधी रसों की टक्कर हो गई है।

राम-मन्मथ शरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेश वसतिं जगाम सा ॥

—रघुवंश ११।

ताड़का के हृदय में बाण से चोट करने वाले राम पर मन्मथ का आरोप, राक्षसी के पूतगन्धी रुधिर पर चन्दन का आरोप, यमराज पर प्रिय नायक का आरोप और बीभत्स राक्षसी पर प्रेयसी का आरोप श्रृंगार को अभिव्यक्ति देने के कारण प्रकृत रस (वीभत्स) के प्रतिकूल है।

ध्वनिकार ने अलंकारों को इसीलिये 'अपृथग् यत्न निर्वर्त्य' कहा है कि वे प्रकृत रस के प्रतिकूल न पड़े, यानी कवि प्रकृत रस के प्रवाह में पड़कर ही अलंकार-विधान करें। यों कहना चाहिये कि प्रकृत-रस को अभिव्यक्ति देने में जो कवि का प्रयत्न होता है उससे अलग प्रयत्न उसे अलंकार-योजना में न करना चाहिये अन्यथा इसके दो कुपरिणाम होंगे। या तो दुर्मिल भावों की योजना होगी, नहीं तो फिर असंबद्ध और निरर्थक चमत्कार की सृष्टि होगी। भावों की दुर्मिलता या रस-विरोधिता तीन रूपों में होती है—आलम्बन-गत, आश्रय-गत और नैरन्तर्य-गत। पिछले उदाहरण में ताड़का को ही वीभत्स और श्रृंगार का आलम्बन बना देने से उक्त रसों का आलम्बन-गत विरोध आ गया है। क्योंकि घृणा और प्रेम का आलम्बन एक नहीं हो सकता। आश्रय गत विरोध वीर-भयानक आदि रसों का होता है। रावण को आलम्बन बनाकर यदि राम को वीर और कायर दोनों चित्रित कर दिया जाय तो यह वीर-भयानक रसों का आश्रय-गत विरोध होगा। कोई आदमी वीर और कायर एक ही साथ नहीं हो सकता। उसी प्रकार किसी नायक का शान्त चित्रण करते-करते एक ही सांस में श्रृंगारी चित्रण भी कर दिया जाय तो यह शांत और श्रृंगार का नैरन्तर्य-गत विरोध होगा। क्योंकि कुछ चित्त-वृत्तियों का एकदम पास रहना असम्भव है। अतः ऐसी वृत्तियों में किसी प्रकार का व्यवधान होना चाहिये।

दूसरा कुपरिणाम असम्बद्ध और निरर्थक चमत्कार की सृष्टि है। असम्बद्ध का मतलब देश-काल और प्रकरण के विरोध से है और निरर्थक चमत्कार का मतलब प्रकृतार्थ की अपुष्टि से है। केशवदास जी की कृपा से इनके उदाहरण भी बहुत मिल सकते हैं। शायद ही उनका कोई पद्य इस दोष से मुक्ति पा सके। नहीं तो जिस किसी वस्तु का वर्णन वे करने लगते हैं उसे तीनों लोकों में बिना भटकाये नहीं छोड़ते। पाठक को भी पता नहीं रहता कि बात कहाँ से चली थी और कहाँ पहुँच कर रुकेगी। यदि पता भी रहता है तो प्रकरण के साथ उनका (केशव जी का) बलात्कार देखकर भीतर ही भीतर घुटता रहता है। शुक्ल जी इसीलिये उनसे बहुत नाराज हैं। आखिर राम चन्द्रिका में त्रेता-युग के प्रकृत दण्डक-बन के साथ केशव जी द्वारा चित्रित उस दण्डक-बन का पाठक कैसे सामंजस्य कर लें जिसमें प्रलय-कालीन सूर्यों के ढेर हैं और जिसमें द्वापर के पांचो पाण्डव पकड़ कर ठूँस दिये गये हैं ?

'बेर भयानक सी अति लगै, अर्क-समूह जहाँ जगमगै'
'पांडव की प्रतिमा सम लेखौ, अर्जुन भीम महामति देखौ'

—रामचन्द्रिका।

अलंकार-योजना ही नहीं, सामान्य शब्दार्थ-योजना भी प्रकृत रस-भावादि की अपेक्षा से ही की जाती है, नहीं तो उन शब्दार्थ-गत दोषों से बच सकना किसी भी कवि के लिये असम्भव है जिनकी बहुत लम्बी सूची हमारे प्राचीन आचार्यों ने बनाकर रख छोड़ी है। साहित्य-दर्पण के सप्तम परिच्छेद और काव्य-प्रकाश के सप्तम उल्लास में यही प्रकरण चलता है। आधुनिक कवियों में बाबू मैथिली शरण गुप्त का शब्दार्थ-गत दोषों से अधिक

सम्बन्ध है। तुक-बन्दी के लालच में निरर्थकत्व और अपुष्टार्थत्व दोष तो जगह-जगह आ गये हैं। एक नमूना जैसे—

चौदह चक्कर खायगी जब यह धरा अभंग
लौटेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के संग।
—साकेत ६।

जमीन सूर्य के चारों ओर टुकड़ों में भी घूमती है—इसकी दुःशंका किसी को नहीं थी जिसके निवारणार्थ 'अभंग' शब्द देना जरूरी होता। पर दे दिया गया है। उर्मिला का प्रलाप (प्रलापो नर्थकं वचः) कहकर भी इसका समाधान नहीं किया जा सकता क्योंकि उक्त पद्य में प्रलाप-विरोधी चिन्ता नामक संचारी भाव की व्यंजना है। 'अभंग' का अर्थ 'लगातार' कर लेने पर भी दोष बना ही रहता है, क्योंकि पृथिवी रुक-रुक कर नहीं घूमती।

जुगुप्सा-व्यंजक अश्लीलता के लिये पन्त जी का यह पद रखा जा सकता है।

'भारी है जीवन भारी पग'

लोक में 'भारी पग' का प्रयोग गर्भिणी स्त्री के लिये प्रसिद्ध है जो यहां जुगुप्सित अर्थ की व्यंजना करता है। यही खैर है कि भारी जीवन वाले मजदूर अपनी भारी पग वाली जीवन-संगिनी के प्रति इसे असभ्य उपहास समझ कर कवि जी से न लड़ें।

जब यही बात है कि शब्दार्थ की योजना भी रस-भावादि की अपेक्षा से की जाती है तब शब्दार्थ की अपेक्षा से अलंकार की योजना का कोई मतलब ही नहीं निकलता। और खास कर उस समय जब कि यह साथ ही साथ स्पष्ट है कि अलंकार-योजना भी रसभावादि की दृष्टि से न की जाय तो उलटा दोष होगी। दोनों बातों को मिलाकर यही निष्कर्ष आता है कि रस-

भावादि की अभिव्यक्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसमें शब्दार्थ-योजना और अलंकार-योजना दोनों एक साथ आ जानी चाहिये; यह न हो कि शब्दार्थ योजना से अलग अलंकार-योजना के लिये प्रयत्न किया जाय। 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' अलंकारों के विषय में ध्वनिकार की यही मान्यता है। इस प्रकार शब्दार्थ के अलंकारों की भांति शब्दार्थ भी रस-भावादि के व्यंजक और मुखापेक्षी होने के कारण अलंकार-कोटि में आते हैं, अलंकार्य-कोटि में नहीं।

तब प्रस्तुत को क्या माना जाय?

प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही शब्दार्थ के क्रिया-प्राप्त रूप हैं। अप्रस्तुत-विधान का मतलब शब्दार्थ के अलंकारों से है जो स्पष्ट ही अलकार की कोटि में आते हैं। इस विषय में केवल इतना और कहना है कि यह अप्रस्तुत-विधान दो प्रकार का होता है। पहला वह जिसमें किसी अप्राकरणिक वस्तु को प्रकरणोपयोगी बना लिया जाता है। जैसे मुख के वर्णन में चाँद को उसका उपमान बना लिया जाय। सादृश्य-मूलक जैसे सभी अलंकार इसके भीतर है। दूसरा वह है जब स्वयं शब्द-प्रकार तथा उक्ति-प्रकार ही प्रकरणोपयोगी बनाया जाय। शब्द-प्रकार का मतलब शब्दालंकारों से है। उक्ति-प्रकार वाले अप्रस्तुत-विधानों में शेष सभी अलंकार आ जाते हैं। उदाहरणार्थ यथासंख्य अलंकार में किसी बात का क्रम ही प्रकृतार्थोपयोगी होता है।

> अमिय हलाहल मदभरे श्वेत श्याम रतनार।
> जियत मरत झुकि-झुकि परत जे चितवहिं इकबार ॥
>
> —रसलीन।

यहाँ आखों का श्वेत-भाव, श्याम-भाव और अरुण-भाव का क्रम से अमृत हलाहल और मद के रूप में और फिर इन तीनों का उसी क्रम से जिलाना, मारना और चक्कर लाना क्रियाओं के रूप में सुन्दर निर्वाह हुआ है। उक्ति के कितने ढंग हो सकते हैं इसकी कोई सीमा नहीं और इसीलिये अलंकार भी निःसीम हैं।

अब रही प्रस्तुत की बात। रस-भावादि प्रक्रिया में इसी को विभाव कहा जाता है। इसके भी दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। उद्दीपन के भी दो रूप हैं—आलम्बन-गत और आलम्बन-बहिर्भूत। नाटक में दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का साक्षात्कार होने पर शकुन्तला सामाजिकों के रति-भाव (स्थायिभाव) का आलम्बन-विभाव बनेगी। शकुन्तला की अभिप्राय-हीन चेष्टायें (साभिप्राय चेष्टायें तो अनुभव कहलाती हैं) आलम्बन-गत उद्दीपन होंगी। चन्द्रोदय, तला-कुंज, एकान्त स्थान आदि-आदि वाह्य उद्दीपन-विभाव होंगे। आगे अनुभाव (आश्रय-गत साभिप्राय चेष्टायें) और संचारियों के मिलने पर यही उद्दीप्त रति-भाव पूर्ण आस्वाद्य-कोटि पर पहुँच कर श्रृंगार-रस कहलायेगा। यह रस की संप्राप्ति है।

स्पष्ट है कि विभावादि रस से भिन्न हैं। रस किसी स्थायिभाव का उद्बुद्ध रूप है जब कि विभावादि उस भाव के उद्बोधक हैं। स्थायिभाव, सामाजिक के हृदय की चीज है अतः उसका उद्बुद्ध रूप रस विषयि-गत है सब्जैक्टिव है। पर विभावादि सामाजिक के भीतर नहीं बाहर रहते हैं अतः वे विषय-गत हैं—औब्जेक्टिव हैं। 'विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रस-निष्पत्तिः' इस भरत-सूत्र के भीतर 'संयोगात्' शब्द की सबसे अधिक प्रामाणिक व्याख्या अभिनव गुप्ताचार्य ने 'व्यंग्य-व्यंजकभावात्' के रूप में की है जिसका मतलब है कि

रस व्यंग्य है और विभावादि उसके व्यंजक हैं। व्यंग्य और व्यंजक पृथक दशा में एक नहीं हो सकते अतः रस और विभावादि भी एक नहीं हो सकते। इसकी तिरछी चोट यह है कि जिस प्रकार व्यंजक शब्दार्थ अलंकार की सीमा में पड़ते हैं उसी प्रकार व्यंजक विभावादि भी अलंकार की सीमा में आने चाहिये।

यहाँ एक आनुसंगिक परिष्कार है कि रत्यादि स्थायिभाव की भांति व्यभिचारी भाव भी सामाजिक के हृदय में आश्रय की चेष्टाओं से यानी अनुभावों से व्यंजित होता है और इसीलियें विषयि-गत है पर व्यंजक होने के कारण यह अलंकार्य की सीमा में नहीं आता। यह रस की व्यंजना में स्वयं को समर्पित कर देता है अतः रस के रहते हुए साधनापर-पर्याय अलंकार ही कहलायेगा। पर जहां आलम्बन अप्रत्यक्ष जैसी अवस्था में है वहां आश्रय के कार्यों से (सामाजिक के लिये अनुभावों से) इसकी प्रधान व्यंजना सामाजिक के भीतर होगी तब यह अलं-कार्य कोटि में आयेगा और भावध्वनि का उदाहरण होगा।

एवं वादिनी देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी
लीलाकमल-पत्राणि गणयामास पार्वती।

कुमारसम्भव ६।

हिमाचल और नारद के बीच जब शिव के साथ पार्वती के विवाह की चर्चा चल रही थी तब पार्वती नीची गर्दन किये लीला-कमल के पत्र गिन रही थी। यहां रति का आलम्बन शिव प्रत्यक्ष अथवा प्ररूढ़ नहीं है। पार्वती के पत्र-गणना रूप कार्य से लज्जा नामक संचारी भाव की प्रधान व्यंजना हो रही है।

किन्तु भाव-ध्वनि का उदाहरण संचारी की प्रधान व्यंजना से ही नहीं होता। इसलिये जहां कहीं भी भाव-ध्वनि हो वहां चट से संचारी भाव को (व्यंजित दशा में) अलंकार्य नहीं कहा जा

सकता। जहां प्रयत्न रहते हुए भी आलम्बन में कुछ निर्बलता रह जाती है वहां रत्यादि स्थायीभाव का प्रकृष्ट रूप में परिपाक न होने के कारण भी भावध्वनि होती है। ऐसे स्थलों पर अलंकार्य स्थायिभाव होगा, संचारी भाव नहीं।

पुराने आचार्यों ने स्थायी भाव की ध्वनि में कुछ ऐसे कारण माने थे जिनमें एक-दो पीछे घायल हो गये। उन्होंने जैसे, पुत्रादि और देवादि विषयक रति को पूर्ण आस्वाद्य न होने के कारण रति-ध्वनि का उदाहरण माना था पर बाद में वात्सल्य-रस और भक्ति रस की सत्ता ने इस मान्यता को चुनौती दे दी। किन्तु ऐसे अनेक स्थल हो सकते हैं जहां रत्यादि भाव पूर्णतः पुष्ट न हों; वे सभी भावध्वनि के उदाहरण होंगे। रस तरंगिणी में इसका अच्छा विवेचन है। पर इस छायावादी युग में प्राकृतिक तत्वों के प्रणय-व्यापारों में रति-ध्वनि आज भी बड़ी आसानी से समझी जा सकती है। कालिदास का यह पद्य है:—

> मुखार्पणेषु प्रकृति-प्रगल्भाः स्वयं तरंगाधरदानदक्षः
> अनन्य-सामान्य-कलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धुः।
>
> —रघुवंश १३।

हिन्द-सागर में मिलती हुई नदियों का दृश्य है। भावार्थ है कि समुद्र को नदियों के साथ जो कलत्र-सेवन-सुख है वह किसी अन्य के भाग्य में नहीं बदा। नदियां समुद्र को अपना मुख अर्पित करने में स्वभाव से ही प्रगल्भ हैं (नदियां स्वयं समुद्र में मुंह के बल गिरती हैं—यह उनका मुखार्पण हो गया) दूसरी ओर समुद्र भी तरंग-रूप में नदियों को अपना अधर-दान देता है (नदियों के गिरते प्रवाह के कारण जो समुद्र की जलराशि की मोटी लहर उस प्रवाह पर चढ़ती सी जान पड़ती है—यह समुद्र का बदले में अधर-दान हो गया) यह चुम्बन-प्रतिचुम्बन

लोकातिशायी है। लोक में दक्षिण नायक होना ही बड़ी बात है, वह भी ऐसी अनेक पत्नियों का जो परस्पर ईर्ष्या-कलह से शून्य हों—यह और भी बड़ी बात है क्योंकि उसे किसी का अनुनय जो नहीं करना पड़ेगा। और सबसे बड़ा सौभाग्य तो यह है कि याचक (प्रेमी) को प्रस्ताव करने की आवश्यकता ही न पड़े अर्थपति (प्रिय) पहले ही उसका भाव समझकर समर्पण लिये खड़ा रहे। यही सब कुछ नदी और समुद्र के संगम से व्यक्त होकर रति ध्वनि तक पहुँचता है। चापल्यादि संचारी भाव स्वयं उसी की व्यंजना में खो गये हैं।

खैर बात यह है कि अतिप्ररूढ़ भावों को आचार्यों ने स्थायी भावों में वर्गीकृत किया है और अनतिप्ररूढ़ भावों को संचारियों में। दोनों ही सामाजिक के हृदय में उद्बुद्ध होते हैं—व्यंग्य होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि स्थायिभाव तो केवल व्यंग्य ही रहता है, व्यंजक नहीं, पर व्यभिचारी अनुभावों के द्वारा व्यंग्य भी होता है और रस-भावादि की व्यंजना में व्यंजक भी। पर सावधानी बरतने की बात है कि व्यभिचारी उसी समय तक व्यभिचारी है और इसीलिये अलंकार-कोटि में है जब तक वह व्यंजक बना हुआ है-यानी स्वयं में विश्रान्त नहीं है। किन्तु ज्योंही वह अपनी व्यंजकता छोड़ देगा तो स्वयं में ही विश्रान्त होने के कारण अलंकार्य-कोटि में आ जायगा। व्यभिचारी तथांजितः (अर्थात् व्यभिचारी भाव भी व्यंजित होकर भावध्वनि कहलाता है) का यही मतलब है। नहीं तो व्यभिचारी कभी वाच्य तो होता नहीं, उसे व्यंजित कहने की जरूरत ही क्या थी? प्रधानतया व्यंजित होने पर भी इसे व्यभिचारी भाव व्यवहार-मात्र के लिये कह देते हैं ठीक उसी प्रकार जैसे उपमादि अलंकारों को व्यंग्य यानी अलंकार्य होने पर भी अलंकार ही कह देते हैं।

इसलिये व्यभिचारी भी विभाव-अनुभाव की भाँति अलंकार कोटि में ही आता है। रस अखण्ड और समूहालम्बनात्मक होता है—इसका अर्थ केवल इतना है कि वह स्वयं में पूर्ण और वेद्यान्तर-स्पर्श शून्य होता है। 'विभावादि-जीवितेक प्राण' रहते हुए भी उसमें विभावादि की पृथक् प्रतीति नहीं होती, इसलिये तो रस समूहालम्बनात्मक है और विभावादि से पृथक् रहकर भी वह स्वान्त-विश्रान्त यानी स्वतः पूर्ण है इसलिये अखण्ड भी है।

सदैव व्यंग्य रहने वाला व्यभिचारी व्यंजक कैसे हो सकता है—यह सोचना भोलापन है क्योंकि शब्द और वाच्य की भाँति व्यंग्य भी व्यंजक हो सकता है।

'पश्य निश्चल-निःस्पंदा विसिनी-पत्रे राजते बलाका'

—गाथा सप्तशती

कोई उपनायक अपनी प्रेयसी को दूर जंगल की तरफ संकेत करता हुआ कहता है कि—देखो विसिनी-पत्र पर बलाका निश्चल और निःस्पन्द बैठी हुई है। यह वाच्यार्थ हुआ। व्यंग्यार्थ है कि कोई शोर-गुल वहाँ नहीं है। इस व्यंग्य से भी आगे यह व्यंग्य निकलता है कि वह स्थान एकान्त है और प्रेम-क्रीड़ा के लिये उपयुक्त है। और इस व्यंग्य से भी—चलो वहीं चलें—यह प्रस्ताव व्यंग्य है।

यहाँ क्रमशः तीन व्यंग्य हैं जिनमें पहले दो व्यंजक भी हैं पर अन्तिम व्यंग्य ही है, अतः स्वान्त-विश्रान्त होने के कारण उसी को अलंकार्य माना जायगा। हो सकता है किसी सहृदय को इससे आगे और भी व्यंग्यान्तर की प्रतीति हो, पर जिस किसी के लिये जो भी व्यंग्य स्वान्त-विश्रान्त होगा वही अलंकार्य कोटि में पर्यवसित होगा। कहना यह है कि जिस प्रकार व्यंग्य वस्तु से किसी दूसरी वस्तु की व्यंजना संलक्ष्यक्रम से होती

है उसी प्रकार एक व्यंजित भाव से भावान्तर की व्यंजना असंलक्ष्यक्रम से हो सकती है और व्यभिचारी भाव ऐसा ही व्यंजित भाव है जो स्वयं व्यंजित होकर भी रसादि की व्यंजना कराता है।

विषयिगत होने पर भी यानी व्यंजित होने पर भी किसी वस्तु या भाव को अलंकार्य बनने के लिये स्वान्त·विश्रान्त होना यानी व्यंजक न होना चाहिये नहीं तो माधुर्यादि गुणों की भाँति उन्हें भी अलंकार-कोटि में ही गिरना पड़ेगा।

सारांश यह है कि काव्य के क्षेत्र में केवल व्यंग्य ही (व्यंग्य-व्यंजक नहीं) आत्मस्थानीय है। यह एक बात हुई। दूसरी बात है कि इसीलिये केवल व्यंग्यत्रयी आत्मस्थानीय है और अलंकार्य है। उससे बाहर सभी कुछ अलंकार की कोटि में आता है। जो लोग अनात्मवादी हैं उन्हें भी किसी अन्तःपक्ष की सत्ता माननी पड़ती है—भावों की सत्ता माननी पड़ती है। अतः उनके अनुसार भी व्यंग्यत्रयी विषयि-गत सिद्ध होती है। और विषयि गत वस्तु को अलंकार्य मानना तथा विषय-गत वस्तु को अलंकार कहना चेतना-प्रधान मानव-सृष्टि के अनुकूल ही है।

बहुत ही ठिकाने की बात यह है कि आखिर कवि प्रस्तुत का विधान किसी न किसी भाव की तन्मयता में ही तो करता है। यह दूसरी बात है कि कभी-कभी भाव की मात्रा इतनी क्षीण होती है कि जिसके कारण वह प्रस्तुत सामाजिकों के हृदय में स्पष्ट रस-भावादि की अभिव्यक्ति नहीं करा पाता पर कुछ-न कुछ भावनात्मक व्यापार (चित्रित करने से पहले वस्तु-मात्र को मन पर आरोपित करने के कारण) तो कवि को करना ही पड़ता है जिसका मतलब होता है कि प्रस्तुत का विधान कुछ-न-कुछ भावादि की अपेक्षा रखता ही है। और यदि प्रस्तुत-

विधान को किसी की भी अपेक्षा हुई तो शब्दार्थ की भाँति और अलंकारों (अप्रस्तुत-विधान) की भाँति वह भी अलंकार्य न होकर अलंकार ही रह गया। सब मिलाकर कहना चाहिये कि कवि जिस अन्तः पक्ष की वस्तुमयी तथा भावमयी सीमा में प्रस्तुत का विधान करता है और सामाजिक प्रस्तुत का विभावन करता हुआ जिस अन्तः पक्ष का साक्षात्कार करता है वही अलंकार्य है। व्यंग्यत्रयी सामाजिक के अन्तःपक्ष की चीज है—इसलिये अलंकार्य है। दूसरे शब्दों में इसी बात को यों कहा जा सकता है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत का विधान शब्दार्थ का कार्य-रूप ही है और यह कार्य जिस लिये है वही इसका अलंकार्य है साहित्य का प्रयोजन हम अन्तःपक्ष की सात्विकता और भाव सामान्यानुभूति के रूप में व्यंग्यत्रयी के भीतर पीछे दिखा चुके हैं। अतः साहित्य में अलंकार्य केवल व्यंग्यत्रयी है और तदतिरिक्त सभी कुछ अलंकार की कोटि में रह जाते हैं।

रीति देश-काल की मान्यताओं में एक रूढ़ पद-रचना है और शैली व्यक्तित्व की सीमा में रचना-वैलक्षण्य ही है। दोनों शब्दार्थ के ही विशिष्ट रूप हैं अतः अलंकार्य कोटि तक नहीं पहुँच पाते।

गुण भी किसी गुणी के शोभाधायक होते हैं फलतः स्पष्ट ही अलंकार होने चाहिये। तदनुसार साहित्य के गुण भी अलंकार कोटि में पड़ जाते हैं।

पर यहाँ एक शास्त्रीय पेच है!

इसमें कौन सी तुक है कि अलंकार तो शब्दार्थ-गत माने जायँ पर गुण शब्दार्थ-गत न माने जायं? अथवा दोष तो शब्द अर्थ और रस इन तीनों में माने जायँ पर गुण रस में ही माने जायँ? आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि गुण-सम्प्रदाय में

शब्दार्थ के जो बीस गुण कहे गये हैं वे कुछ ठीक हैं। और यथोत्तर आचार्यों ने जो इन्हें घटाते-घटाते तीन कर दिया तथा केवल रस-गत कर दिया, यह बहुत ठीक नहीं है। रीति-सम्प्रदाय वालों की तो यह कमी थी कि उन्होंने गुण शब्दार्थ-गत ही क्यों माने—रस-गत भी क्यों न माने? और पिछले आचार्यों की यह त्रुटि जान पड़ती है कि उन्होंने गुण रस-गत ही क्यों कहे—शब्दार्थ-गत भी क्यों न कहे?

पर बात कुछ और ही है। शोभाधायक धर्म दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य। अनित्य या अस्थिर धर्मों को साहित्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में समझा जाता है नित्य या स्थिर धर्मों को गुण कहा जाता है। गुणों का सम्बन्ध इसीलिये नित्य तत्व आत्मा से किया जाता है। रीति या गुण संप्रदाय वालों ने रीति को काव्य की आत्मा निश्चित किया था इसीलिये उन्होंने जो गुणों का सम्बन्ध रीति से किया यह उचित ही था। रीतिरात्मा काव्यस्य—विशिष्टा पद-रचना रीति—विशेषो गुणात्मा इन तीनों के अर्थ का समन्वय करने पर रीति का यही लक्षण बनता है गुण विशिष्टा पद-रचना रीतिः यानीगुणों के कारण विशिष्ट पद-रचना का नाम रीति है। अब यह दूसरी बात है कि पद-रचना के मूल में शब्दार्थ-तत्व ही है इसीलिये पुराने आचार्यों के बीसो गुण शब्दार्थ-गत सिद्ध हो गये। पर इतना निर्विवाद है कि उन्होंने भी गुणों को किसी अंश तक नित्य समझा था और नित्य तत्व आत्मा के रूप में स्वीकृत रीति के साथ इन्हें सम्बद्ध किया था।

पिछले आचार्य तो गुणों को नित्य धर्म स्वीकार करते ही हैं और इसीलिये उन्होंने भी इन्हें नित्य आत्म-तत्व के भीतर रखा है। अब यह दूसरी बात है कि इन आचार्यों ने आत्म-तत्व के

रूप में रस-भावादि को स्वीकार किया और इसीलिये इनके यहां गुण रस-गत सिद्ध हो गये। अब रहा इसका उत्तर कि इन्होंने गुणों की संख्या बीस से घटाकर तीन कर दी तो यह भी इनकी मान्यता के अनुसार ठीक ही है। इन्होंने रस को आत्मा माना है इसलिये गुण भी भाव रूप में ही होने थे। पुराने आचार्यों के बीस गुणों में अनेकों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष शब्दार्थ-योजना से था जिनमें से कुछ तो रस-विशेष के विरोधी होने के कारण दोष बन गये, कुछ दोषाभाव-मात्र सिद्ध हुए और बचे-खुचे माधुर्य, ओज और प्रसाद-इन तीनों में ही अन्तर्भुक्त हो गये। इस प्रकार दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुण कट-छट कर तीन ही रह गये।

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परेस्थिताः
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्र चिन्न ततो दश ॥

—काव्य प्रकाश

संक्षिप्त सार यह है कि जो धर्म प्रत्यक्ष रूप से शब्दार्थ को सजाते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से रस तक पहुँचते हैं उन्हें साहित्य में अलंकार कहा जाता है और जो धर्म साक्षात् रस के हैं और गुण-वृत्ति से (परम्परया) शब्दार्थ में भी रहते हैं उन्हें गुण कहा जाता है। अलंकारों को शब्दार्थ-गत अस्थिर धर्म कहने का और गुणों को रस गत स्थिर धर्म कहने का यही भाष्य है।

२

अलंकार और अलंकार्य का जो मतलब है वही हू-बहू अलंकार-पक्ष और अलंकार्य पक्ष का नहीं है। अलंकार्य के रूप में व्यंग्यत्रयी (रसभावादि, वस्तु, अलंकार) और अलंकार के रूप में व्यंग्यत्रयी से बाहर जो कुछ भी है वह सब आ जाता है—यह सिद्धान्त-पक्ष है। किन्तु अलंकार-पक्ष का मतलब केवल व्यंग्यत्रयीतर और अलंकार्य-पक्ष का अर्थ केवल व्यंग्यत्रयी नहीं है। बल्कि अलंकार-पक्ष का मतलब है—अलंकार-प्रधान पक्ष और अलंकार्य-पक्ष का अर्थ है अलंकार्य-प्रधान पक्ष। और भी स्पष्ट शब्दों में यह बात है कि अलंकार-पक्ष में वाच्य लक्ष्य आदि की प्रधानता रहती है जब कि अलङ्कार्य-पक्ष में व्यंग्यत्रयी की। इसका अर्थापत्ति से यह भी अर्थ निकलता है कि अलङ्कार-पक्ष में व्यंग्यत्रयी रह तो सकती है पर गौण-भाव से, और अलङ्कार्य-पक्ष में तो वाच्य लक्ष्य आदि गौण-भाव से रहते ही हैं।

दूसरी बात जिसकी यहाँ पुनरुक्ति आवश्यक है, यह है कि साहित्य की बाह्य सीमायें बताने के लिये चाहे हम अलंकार और अलंकार्य कह दें अथवा-अलङ्कार-पक्ष और अलंकार्य-पक्ष कह दें, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु फिर भी 'अलङ्कार और अलंकार्य' कहने का जितना प्रभाव साहित्य की बाह्य-सीमाओं पर पड़ता है उतना आभ्यन्तर सीमाओं पर नहीं। और उसी प्रकार साहित्य की आभ्यन्तर सीमाओं का स्पष्टीकरण करने के लिये 'अलङ्कार-पक्ष और अलंकार्य-पक्ष' कहना जितना

सटीक उतरता है उतना 'अलंकार और अलङ्कार्य' कहना नहीं। इसका कारण बहुत साफ है। 'अलङ्कार और अलङ्कार्य' कहने से इन दोनों का मिश्रण हमारे सामने नहीं आता बल्कि साहित्य के दोनों सिरे अलग-अलग स्पष्ट हो जाते हैं। हमारे सामने साहित्य के सिर और पैर अपनी सीमान्त दूरी पर साफ-साफ चमकते हैं। यह प्रश्न, बिना उठाये स्वयं नहीं उठता कि सिर और पैरों की परस्पर संक्रान्ति-सीमायें एक-दूसरे की तरफ कहाँ तक है। किन्तु जब हम 'अलंकार-पक्ष और अलंकार्य-पक्ष' कहते हैं तब हमारे सामने अलङ्कार और अलङ्कार्य का मिश्रण उपस्थित होता है। हम पहली चोट यही सोचते हैं कि अलङ्कार-पक्ष में अलङ्कार्य कहाँ तक रह सकता है और अलंकार्य-पक्ष में अलङ्कार का क्या स्थान है, अर्थात् अलङ्कार और अलंकार्य की संक्रान्ति-सीमायें क्या हैं। संक्षेप में, अलङ्कार और अलङ्कार्य कहने से इन दोनों के सीमान्त रूपों का पृथक्-पृथक् बोध होता है जो साहित्य के सम्भावित दूरतरस्थ दो क्षितिजों का स्पर्श करने के कारण साहित्य की बाह्य सीमायें बनाते हैं। और 'अलङ्कार-पक्ष और अलंकार्य-पक्ष' कहने से अलङ्कार और अलङ्कार्य की दो परस्पर सीमान्त संक्रान्तियों का मिश्रित बोध होता है जो साहित्य के सम्भावित निकटतरस्थ दो क्षितिजों का स्पर्श करने के कारण साहित्य की आभ्यन्तर-सीमायें अधिक स्पष्ट करती हैं। नीचे दिये हुए चित्र से यह बात स्पष्ट होगी।

चित्र में रेखा का मोटापन अलङ्कार्य की और पतलापन अलङ्कार की स्थिति का सूचक है। रेखा साहित्यिक चमत्कार का संकेत करती है। अलंकार्य का चमत्कार अधिक सान्द्र होता है इसलिये वहाँ की रेखा अपेक्षा-कृत मोटी होती गई है और अलङ्कार का चमत्कार अधिक हलका होता है इसलिये वहाँ की

रेखा अपेक्षा-कृत पतली होती गई है। इस प्रकार साहित्य का चमत्कारी प्रभाव ही साहित्य की बाह्याभ्यन्तर सीमाओं का निबटारा करता है।
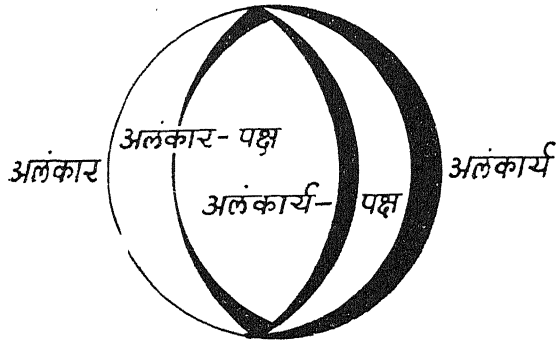
अब सम्भवतः 'चमत्कार' शब्द की व्याख्या इस प्रसंग की सबसे बड़ी मांग है। हमारे साहित्य-शास्त्र में 'चमत्कार' शब्द का द्विधा प्रयोग मिलता है—एक सामान्य अर्थ में, दूसरा विशेष अर्थ में। जब इसका प्रयोग सामान्य होता है तब काव्य-साधनीभूत अलंकार की ओर जाता है। पर सावधानी की आवश्यकता है कि काव्य का सामान्य चमत्कार भी बौद्धिक चमत्कार नहीं है, चेतश्च-मत्कार है। कारण, साहित्य-मात्र की सृष्टि के लिये साहित्यकार किसी भी वस्तु को मन पर आरोपित करके यानी अर्जित-संवेदना के अनुसार ही उपस्थित करता है इसीलिए साहित्य के सामान्यतम स्थलों में भी कुछ न कुछ चित्रोपमता आ ही जाती है जो स्पष्ट ही कलाकार की संकल्पात्मक (संकल्पः कर्म मानसम्) सृष्टि हैं। मानसिक चमत्कार या मनोरंजन भी इसे नहीं कह सकते, क्यों कि

साहित्य स्वप्नादि की भांति मन की प्रत्यक्ष सृष्टि नहीं है अप्रत्यक्ष सृष्टि है। ऐसी दशा में साहित्यकार का चमत्कार हृदय का चमत्कार या चेतश्चमत्कार ही कहा जा सकता है, बौद्धिक या मानसिक चमत्कार नहीं। संस्कृत साहित्य में एक बार ऐसी नौबत आई थी कि चमत्कार का सामान्य प्रयोग आपे से बाहर हो गया था और वह कौतुकोत्पादी बौद्धिक बाजीगरी में अपने हाथों की सफाई दिखाने लगा था। पर ठीक मौके पर कविराज विश्वनाथ ने उसे डांट दिया।

'रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका'

—साहित्य-दर्पण १०।

पीछे शुक्ल जी ने भी हिन्दी में ऐसी ही सदर-गदर के कारण काव्य के सामान्य चमत्कार को बौद्धिक चमत्कार के अर्थ में लेकर बुरी तरह रगड़ दिया और मानसिक चमत्कार के अर्थ में इसे मनोरंजन कहकर साहित्य से बाहर ढकेल दिया।

काव्य के सामान्य चमत्कार का एक उदाहरण देखिये—

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणु स्तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः।
अंगार-शेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभाषे॥

—रघुवंश ७।

युद्ध का चित्र है। सेना की पदाक्रान्ति से उठकर ऊपर आकाश में छाई हुई धूलि, जो कि नीचे रक्त-वर्षा से दब गई है छिन्न मूल हो गई है, वायु से हिलती हुई ऐसी जान पड़ती है मानो उस अग्नि का पहले का उठा हुआ धुंआँ है जो इस समय ईंधन के पूर्णतया जल जाने पर केवल अंगार के रूप में शेष है।

यहां कोई भी स्पष्ट व्यंजना नहीं है पर चित्र इतना वास्तविक और टिकाऊ है एवं अप्रस्तुत-विधान (उपमान के रूप में)

इतना तात्विक और चमकाऊ है कि पाठक के चित्त पर छा जाता है। सूक्तियों में भी चेतश्चमत्कार का सामान्यतम रूप अवश्य रहना चाहिये। बिहारी की एक सूक्ति इस प्रकार है—

कनक कनक ते सौगुनो मादकता अधिकाय।
उहि खाये बौराय नर इहि पाये बौराय॥

—बिहारी सतसई।

कनक शब्द का अर्थ-भेद से दो बार प्रयोग, पर अर्थ-भेद रहते हुए भी मादकता का सामान्य प्रयोग तथा 'खोये' और 'पाये' के साथ 'बौराये' के भिन्न प्रयोगों में भी एक अर्थ का निर्वाह साहित्यिक चमत्कार का विषय है, बौद्धिक चमत्कार का नहीं।

विशेष अर्थ में 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग व्यंग्यत्रयी के चमत्कार की ओर जाता है। ध्वनिकार ने रसास्वाद को 'चेतश्चमत्कृतिविधायी' कहकर रस-प्रक्रिया के आद्यन्तव्यापी चित्त-विस्फार के रूप में इस विशेष चमत्कार का ही अभिधान किया है। पीछे पंडितराज जगन्नाथ ने भी 'रमणीयार्थ' की व्याख्या करते हुए इसे परमाह्लाद की सीमा में स्वीकार किया—"लोकोत्तरं चाह्लाद-गतश्चमत्कारापरपर्यायः कश्चिज्जातिविशेषः"।

भ्रान्ति, चमत्कार के इस दूसरे प्रयोग में भी एक आचार्य को हुई थी। रस-प्रक्रिया के आद्यन्त-व्यापी चेतश्चमत्कार को ध्यान में रखकर महापात्र विश्वनाथ के पूर्वज नारायण शास्त्री ने सब रसों का अन्तर्भाव अद्भुत रस में कर दिया था।

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते'
तच्चमत्कार-सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।'

—साहित्य दर्पण

निश्चय ही इन पंक्तियों में दी गई अद्भुत रस की सम्प्राप्ति के अनुसार चमत्कार स्थायिभाव ठहरता है। और अन्य सभी रसों में रत्यादि स्थायिभावों के साथ इसकी सामान्य स्थिति होने से सभी रसों का स्थायिभाव भी यही चमत्कार हो जाता है। पर परवर्ती आचार्यों ने इसे भी उचित करवट दे दी। उन्होंने रत्यादि स्थायिभावों से स्वतन्त्र चमत्कार की स्थिति में विस्मय स्थायिभाव (अद्भुत रस के लिये) और मिश्रित चमत्कार की स्थिति में रत्यादि के आस्वाद-वैशिष्ट्य के कारण रत्यादि स्थायिभावों की (शृंगारादि रसों के लिये) भिन्न और स्वतन्त्र सत्तायें मान लीं।

काव्य के विशेष चमत्कार का भी एक उदाहरण रख लिया जाय। सर्वनाश होने पर भी उत्कट-उत्साही रावण की इस उक्ति में वीर-रस का उदाहरण है :—

> न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
> सोप्यत्रैव निहन्ति राक्षस-कुलं जीवत्यहो रावणः
> धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
> स्वर्ग-ग्रामटिका-विलुण्ठन-वृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः।
>
> —हनुमन्नाटक

(रावण कहता है कि मेरी तो यही बहुत बड़ी बेइज्जती है कि मेरे भी दुश्मन संसार में हैं—और जीवित हैं। और दुश्मन भी कोई चक्रवर्ती राजा नहीं, बल्कि एक भिखारी (बनवासी राम) है—जो और भी शर्म की बात है। फिर वह भिखारी संसार के किसी कोने में पड़ा हुआ मेरा विरोध करता रहता तो कुछ गनीमत भी थी। पर नहीं, वह तो यहीं मेरे सिर पर है। सिर पर भी वह चुपचाप खड़ा हो सो बात नहीं—खुरापात मचा रहा है—राक्षसों को मार रहा है—और एक-दो राक्षसों

को नहीं, राक्षस-कुल का ही बीज मिटाने पर उतारू है। ऐ रावण! (दूसरों को रुलाने वाले) तू फिर भी जीवित है! तुझे तो लाज से ही मर मिटना चाहिये था। उस इन्द्र-विजयी मेघनाद को धिक्कार है, उस महाकाय कुम्भकर्ण को धिक्कार है और स्वर्ग जैसी झोपड़ियों को लूट कर फूली हुई मेरी भुजाओं को भी नौ-करोड़ लानत है।)

अथवा राम की उक्ति में इसी रस का उदाहरण है जहाँ क्रोध पर एकदम संयम है और उत्साह की एकदम गहरी व्यंजना है। युद्ध आरम्भ होने से पहले रावण के प्रति राम का यह प्रस्ताव है।

> ओ लंकेश्वर ! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते।
> कोऽयं ते मति-विभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किंचिद् गतम् ॥
> नैवं चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजः पंकिलः।
> पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्यावन्धबन्धूकृतः ॥
>
> —बालरामायण।

(आप लंकेश्वर हैं, कुछ छोटे-मोटे व्यक्ति नहीं हैं इसलिये सीता का अपहरण आपकी शान के खिलाफ है। आपको बड़ा आदमी समझ कर ही मैं आपसे सीता की याचना स्वयं कर रहा हूँ ताकि उसे लौटाने में भी आपका गौरव बना रहे। इतने बड़े पण्डित और राजनीतिज्ञ होकर भी आप विचलित न हों। एक बार फिर सोच लीजिये। अभी कुछ बना-बिगड़ा नहीं है। परन्तु यदि इतने पर भी आपने असावधानी बरती तो अपनी तो मैं नहीं कहता, पर खरदूषण और त्रिशिरा के गले के रक्त से रञ्जित यानी खूंख्वार तथा बिल्कुल धनुष की डोरी पर चढ़ा हुआ यह बाण इससे अधिक सहन करने को तैयार नहीं है—अर्थात् छूटना ही चाहता है।)

अब यदि इस द्विधा प्रयुक्त चमत्कार की अर्थ-सीमायें मिला दी जांय तो यही हमारे साहित्यिक चमत्कार की पूर्ण व्याख्या होगी। चमत्कार के अति सामान्य सिरे पर शब्दार्थ और अलंकार ही नहीं, वे अनेक उक्ति-प्रकार पड़े हुए हैं जिनका नामकरण अभी साहित्य-शास्त्री नहीं कर पाये और न सबका कभी कर ही पायेंगे। क्योंकि जब तक साहित्य है तब तक उसके भीतर नये-नये उक्ति-प्रकार प्रवेश करते ही रहेंगे; इसीलिये इन सभी ज्ञात-अज्ञात प्रकारों को अलंकार के आभोग में रख लिया गया है। चमत्कार के विशेष शिरे पर व्यंग्यत्रयी पड़ी हुई है जिसे अलंकार्य कहा गया है। ये साहित्य की वाह्य सीमायें हैं। और साहित्य के भीतर ही जो इन दोनों की परस्पर संक्रातियां हैं उनके कारण अलंकार-पक्ष और अलंकार्य-पक्ष की स्थापना पीछे की गई है। ये साहित्य की आभ्यन्तर सीमायें हैं। उत्तम, मध्यम और अधम इन तीनों प्रकार के काव्यों की बुनियाद साहित्य की आभ्यन्तर सीमायें ही हैं (देखिये परि० १ प्रक० ३)। एक ही चित्र में इन तीनों प्रकार के काव्यों को अलंकार-गत और अलंकार्य-गत चमत्कार के तारतम्य से व्यक्त किये देते हैं।

३
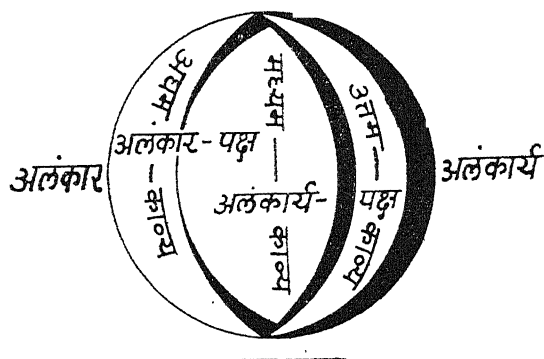
अब यह भी देखना चाहिये कि साहित्य के समस्त वादों और सम्प्रदायों के मूल में भी अलङ्कार-पक्ष और अलङ्कार्यपक्ष की वृत्तियाँ किस प्रकार काम करती हैं।

जीवन का आग्रह कभी अन्तर्मुखी होता है, कभी बहिर्मुखी। व्यष्टि-जीवन का भी यह सत्य है और समष्टि-जीवन का भी। प्रातः से सायं तक हमारी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों की इतनी ज्ञात-अज्ञात आवृत्तियाँ होती रहती हैं कि उनका रोजनामचा बनाया जाना असम्भव है। पर बाहर-भीतर का अन्तर बहुत स्पष्ट है। हम कभी अपने बाह्य उप-करणों की ओर अधिक झुकते हैं तो कभी अपने अन्तः पक्ष की ओर। कभी हम सांसारिक आकर्षणों में कामदेव की पूजा करने लगते हैं तो कभी उससे भयभीत होकर कामारि के पैरों में गिर पड़ते हैं। दोनों एक-दूसरे की प्रतिक्रियायें हैं। दोनों एक-दूसरे की शरण हैं। त्र्यम्बक ने जिसके कारण काम को जलाया उसी के कारण उसे जिलाया भी। विष्णु ही उसके जनक नहीं हैं, शिव भी हैं। उसी प्रकार शिव ही उसके शत्रु नहीं हैं, विष्णु भी हैं जिन्होंने उसे वह अतिवादी स्थूल रूप प्रदान किया जो किसी दिन जलने को मजबूर था। इस प्रकार कामारि और कामतात एक ही हैं। जीवन में किसी एक की बन्दना, दोनों की बन्दना है और दोनों की बन्दना किसी भी एक की बन्दना है। यही बात रघुवंश के किसी सर्ग के मङ्गलाचरण में टीकाकार श्री मल्लिनाथ ने कितनी करामात के साथ कही है :—

जाह्नवी मूर्न्धि पादे वा कालः कण्ठे वपुष्यथ।
कामारिं कामतातं वा कश्चिद्देवं भजामहे ॥

अर्थात् गंगा जिसके सिर पर है अथवा पैर में (सिर पर शिव के और पैर में विष्णु के) काल (विष और नीलिमा) जिसके गले में है अथवा समस्त शरीर में (गलस्थित विष के कारण शिव नीलकण्ठ हैं और विष्णु सम्पूर्ण शरीर से नीलवर्ण हैं ही) और जो कामारि (हर) है अथवा कामतात (विष्णु) है ऐसे किसी एक देव की बन्दना करता हूँ।

साहित्य की मूल चेतना भी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी आग्रहों में बदलती रहती है क्योंकि साहित्य व्यष्टि-समष्टि जीवन की पूर्ण प्रतिनिधि इकाई है। और साहित्य में ही नहीं, साहित्य की आलोचना में भी यही चक्रनेमि-क्रम चलता रहता है—साहित्य में साहित्यकारों के कारण और साहित्य की आलोचना में साहित्याचार्यों के कारण। साहित्यकार जब अपने साहित्य-निर्माण में अधिक अन्तर्मुखी होता है अर्थात् अधिक सँवेदन-शील होता है तब उसके साहित्य की चेतना के भी अन्तर्मुखी होने के कारण उसका वह साहित्य अलंकार्य-प्रधान होता है। और जब वह अपने साहित्य-निर्माण में अधिक बहिर्मुखी होता है अर्थात् बाह्य साज-सज्जा की ओर अधिक दत्त-चित्त होता है तब उसके साहित्य की चेतना के भी अधिक बहिर्मुखी होने के कारण उसका वह साहित्य अलङ्कार-प्रधान कहलाता है। इन्हीं दो सरणियों को हमने साहित्य के भीतर क्रमशः अलङ्कार्य पक्ष और अलङ्कार पक्ष कहा है। हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य में अलङ्कार्य पत्त है और रीतिकालीन साहित्य में अलङ्कारपत्त। भक्तिकाल के कवियों की साहित्य-चेतना अन्तर्मुखी अधिक थी और रीतिकाल के कवियों की साहित्य-चेतना बहिर्मुखी। और जैसी कि अलङ्कार्य-

पक्ष और अलङ्कार-पक्ष की आभ्यन्तर सीमाओं के विवेचन में उत्तम, मध्यम और अधम काव्य की व्यवस्था की गई है उसके अनुसार भक्तिकालीन साहित्य में उत्तम काव्य के उदाहरण अधिक होंगे और रीतिकालीन साहित्य में अधम काव्य के। मध्यम काव्य के उदाहरण दोनों में लगभग बराबर मिलेंगे।

किञ्च साहित्यकार की उपर्युक्त द्विधा साहित्य-चेतनाओं के मूल में कभी तो सामाजिक प्रेरणा अधिक होती है और कभी वैयक्तिक प्रेरणा। सामाजिक प्रेरणा का मतलब है किसी देश-काल की प्रवृत्ति। भक्ति-काल के कवियों की अन्तर्मुखी साहित्य चेतना के मूल में और रीति-काल के कवियों की बहिर्मुखी साहित्य-चेतना के मूल में सामाजिक प्रेरणा अधिक है। वैयक्तिक प्रेरणा का मतलब है कवि की अपनी स्वाभाविक प्रेरणा से। यह प्रेरणा कभी-कभी देश-काल की परिपाटी की प्रतिक्रिया-स्वरूप भी हो सकती है। घनानन्द की कविता में जो अलङ्कार्य-पक्ष है यानी अन्तर्मुखी प्रवाह है उसके मूल में उसकी वैयक्तिक प्रेरणा ही है जो रीति काल की परिपाटी के विरुद्ध चली गई है।

बहुत ही प्रसिद्ध अर्थ, जो कवि की अन्तर्मुखी साहित्य-चेतना का लिया जाता है, वह लक्षण ग्रन्थों की सिद्ध परिपाटियों से निरपेक्ष होकर कवि कर्म में प्रवृत्त होना है, और उसी प्रकार जो कवि की बहिर्मुखी चेतना का लिया जाता है वह लक्षण-ग्रन्थों के किटकिन्नों पर कवि-कर्म की साधना करना है। भारत में ही नहीं पाश्चात्य देशों में भी ये दोनों प्रकार के साहित्य चलते रहे हैं। नाम-मात्र का ही अन्तर है। नहीं तो भारत के अलंकार पक्ष और अलंकार्य पक्ष के मूल में जो है वही पश्चिम के क्लासिसिज्म और रोमाण्टिसिज्म के मूल में भी है। ग्रीक

आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थों के अनुप्रवर्ती क्लासिकल लिटरेचर का जो रूप पश्चिमीय साहित्य में है वही लगभग संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों की सरणि पर लिखे गये रीति-काव्य का हिन्दी-साहित्य में है। और पश्चिम में क्लासिकल लिटरेचर की प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न होने वाले रोमाण्टिक साहित्य की जो रूप-रेखा है, वही लगभग भारत में रीति-साहित्य की प्रतिक्रिया में पनपने वाले छायावादी या स्वच्छन्दतावादी साहित्य की है।

यहाँ एक आनुसङ्गिक स्पष्टीकरण है। वह यह कि हम भारत के रीतिवाद और स्वच्छन्दतावाद को योरोप के क्लासिसिज्म और रोमाण्टिसिज्म का अभिन्न रूप या पर्याय नहीं बतला रहे। हमारा स्पष्ट मतलब इतना है कि दोनों प्रकार के साहित्यों की दोनों जगह मूल प्रेरणा एक सी है जिसे हम कवि की बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी चेतना के रूप में उद्घोषित कर चुके हैं। अगले प्रकरण में हम यह भी समझेंगे कि इसी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी चेतना का सम्बन्ध जब साहित्यालोचक आचार्यों से होता है तब क्रमशः अलंकार्य-सम्प्रदायों के और अलंकार-संप्रदायों के साहित्य-शास्त्र तैय्यार होते हैं। रससम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय और औचित्य-सम्प्रदाय—ये तीन अलंकार्य सम्प्रदाय हैं और रीति या गुण सम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय और शुद्धालंकारसम्प्रदाय ये तीन अलंकारसम्प्रदाय कहलाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी मूल चेतना का ध्यान रखकर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को हमारे यहाँ के कुन्तक की वक्रोक्ति का बिलायती उत्थान कहा था। दोनों आचार्यों की आलोचना सम्बन्धी मूल चेतना जो बहिर्मुखी है। दूसरे, अभिव्यंजनावाद के समानान्तर व्यापारात्मक उक्ति-वैचित्र्य वक्रोक्ति में ही है अन्य किसी अलंकार-सम्प्रदाय में है भी नहीं। तीसरे 'बिलायती' शब्द

से उन्होंने स्पष्ट ही इसका संकेत कर दिया था कि अपने देश की मौलिक परम्परा का भेद रखकर भी चीज आकार-प्रकार में जितनी विदेशी हो सकती है उतनी कुन्तक की वक्रोक्ति क्रोचे की अभिव्यंजना के रूप में है। यह तो शुक्ल जी का मतलब नहीं था कि वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद एक ही हैं। यही मतलब होता तो स्वभावोक्ति अलंकार का खण्डन करने वाले कुन्तक के अनुयायी बनकर वे अभिव्यंजनावाद पर तिरछी चोट न करते। इन सब बातों को समझने की कृपा न कर कुछ आधुनिक लेखकों ने शुक्ल जी की त्रुटि दिखाने के लिये कुछ पृष्ठ ही नहीं लिखे, ग्रन्थ तक रगड़ मारे हैं। ये लेख केवल इस दृष्टि से सफल हैं कि इनके द्वारा वक्रोक्ति और अभिव्यंजना का अन्तर समझने में किसी हद तक विद्यार्थियों को सहायता मिलती है।

दूसरा स्पष्टीकरण यह है कि अलंकार्यपक्ष और अलंकारपक्ष का हू-बहू मतलब रोमाण्टिसिज्म और क्लासिसिज्म अथवा स्वच्छन्दतावाद और रीतिवाद नहीं है। अलंकार्यपक्ष और अलंकारपक्ष का क्षेत्र उक्त दोनों 'वादों' की अपेक्षा व्यापक और कुछ विसदृश भी है। क्लासिसिज्म या रीतिवाद के लिये आवश्यक है प्राचीन विधानों का आग्रह; पर अलंकारपक्ष में यह अनिवार्य नहीं है। किसी रोमाण्टिक या स्वच्छन्दतावादी कवि की कविता में कदाचित् कहीं बहिर्मुखी चेतना होने के कारण अलंकारपक्ष हो सकता है पर क्लासिसिज्म या रीतिवाद उसे नहीं कह सकते। उसी प्रकार रोमाण्टिसिज्म या स्वच्छन्दतावाद के लिये आवश्यक है प्राचीन विधानों के प्रति क्रान्ति-भावना; पर अलंकार्यपक्ष में यह अनिवार्य नहीं है। किसी क्लासिकल या रीतिवादी की कविता में घुणाक्षरन्याय से कहीं अन्तर्मुखी चेतना के कारण अलंकार्यपक्ष हो सकता है पर उसे रोमाण्टिसिज्म या

स्वच्छन्दतावाद नहीं कह सकते। और फिर वे भी तो सैकड़ों काव्य हैं जिनका निर्माण क्लासिसिज्म और रोमाण्टिसिज्म जैसे 'वादों' के जन्म से बहुत पहले ही हो चुका था पर उनमें अलंकारपक्ष और अलंकार्यपक्ष हैं। उदाहरणार्थ भारत के और ग्रीस के अतिप्राचीन कवियों की कविताओं को क्या कहियेगा जिनके आधार पर पिछले आचार्यों ने लक्षण ग्रन्थ तैय्यार किये और उन्हीं सिद्धान्तों के अनुप्रवर्तन का आग्रह करके रीतिवाद और क्लासिसिज्म का जन्म हुआ? उन कविताओं को रोमाण्टिसिज्म के रूप में भी नहीं देखा जा सकता क्योंकि रोमाण्टिसिज्म तो क्लासिसिज्म के विरोध-स्वरूप पनपता है जो और भी पीछे की चीज है। फलतः अलंकारपक्ष और अलंकार्यपक्ष के भीतर अनिवार्यतः क्लासिकल और रोमाण्टिक दृष्टि नहीं रक्खी जा सकती पर अलंकारपक्ष और अलंकार्यपक्ष की दृष्टि क्लासिसिज्म और रोमाण्टिसिज्म के भीतर भी रहती ही है। संक्षेप में कहना चाहिये कि साहित्यकार की सामान्यतया बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी चेतना के कारण अलंकारपक्ष और अलंकार्यपक्ष चलते रहते हैं जब कि उसकी बहिर्मुखी चेतना के आग्रह और अन्तर्मुखी चेतना की क्रान्ति के फलस्वरूप क्लासिसिज्म और रोमाण्टिसिज्म का प्रादुर्भाव होता रहता है।

अब फिर से विवेचना-सूत्र पर आ जाना चाहिये। प्रसंग था कि योरोप के क्लासिसिज्म और रोमाण्टिसिज्म के और भारत के रीतिवाद और स्वच्छन्दतावाद के मूल में साहित्यकार की बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी चेतनायें ही हैं जिनके आधार पर आचार्यों ने उक्त 'वादों' को सिद्धान्त रूपों में उपस्थित किया। इस मूल दृष्टि से क्लासिसिज्म और रीतिवाद एवं रोमाण्टिसिज्म और स्वच्छन्दतावाद में कोई बुनियादी अन्तर नहीं है—ठीक

उसी प्रकार जैसे मनुष्यता की दृष्टि से वहाँ के मनुष्य और यहाँ के मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु इसके अतिरिक्त और सब अन्तर ही अन्तर है।

क्लासिसिज्म और रोमाण्टिसिज्म—ये दो नाम पश्चिम की दो साहित्य-धाराओं को दिये जा चुके हैं। सभी देशों के साहित्यिक इतिहास में यह बात साधारणतः पाई जाती है कि वहाँ के साहित्य का प्रारम्भ अपनी स्वाभाविक दशा में होता है। प्रायः प्रत्येक देश के साहित्यकारों ने पूर्वाग्रह और पराग्रह से दूर या अपरिचित रहते हुए साहित्य का शिलान्यास किया है। बाल्मीकि, होमर, कालिदास आदि महाकवियों की रचनायें इस बात की साक्षी हैं। इन लोगों की कृतियाँ अत्यन्त प्रावाहिक तथा स्वाभाविक हैं और अपनी पिछली सन्तान के मुँह में पानी भर लाने वाली रही हैं। आचार्य लोग इन आदर्श रचनाओं से प्रभावित होकर इनकी सिद्धान्त सरणियाँ बनाने को विवश हुए और साहित्यकार उन नियमों के आधार पर उनका अनुसरण करने के लिये लालायित हुए। क्लासिसिज्म एक ऐसी ही धारा है जिसका आरम्भ प्लेटो और अरस्तू के अनुकृतिवाद के सिद्धान्त पर प्राचीन ग्रीक कवियों और नाटककारों के द्वारा अपने आदर्श कवियों की रचनाओं को प्रमाण तथा अनुकरणीय मानने के कारण हुआ। अनुकृति के दो स्वरूप इन दो आचार्यों ने निश्चित किये थे। साहित्य में अनुकृतिवाद के आविष्कर्ता प्लेटो की धारणा थी कि कलाकार स्थूल प्रकृति का अर्थात् बाह्य आकृति का अनुकरण करता है। भले ही प्लेटो का कला के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण न था और इसीलिये उसी के शिष्यों ने उसका प्रकारान्तर से खण्डन भी किया किन्तु जनसमाज में प्लेटो कला के प्रभाव से अवश्य ही

त्रस्त था और इसीलिये अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में इसकी व्यवस्था उसे करनी पड़ी। प्लेटो का अनुकृतिवाद इसलिये दूषित था कि वह स्थूल वस्तुओं की अनुकृति तक ही पहुँचा था—वस्तु-मात्र में स्थित सत्य या तथ्य की अनुकृति तक नहीं। अरस्तू दूसरा आचार्य था जिसने अपनी उदार व्याख्या से अनुकृति-वाद को यथासम्भव निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न किया जिसका फलितार्थ था कला की सत्यता। संगीत-कला में अनुकरणीय वस्तु निराकार, अव्यक्त और भावना-मात्र मानते हुए अरस्तू ने अप्रत्यक्ष रूप से काव्य-कला में भी वस्तुओं के अन्तर्गत सामान्य अव्यक्त सत्य की अनुकृति-परक व्याख्या की। वास्तव में अरस्तू ने कला को पूर्णतः सौन्दर्य की वस्तु मानकर अनुकृतिवाद पर आधारित काव्य के स्वरूप में एक मौलिक अनुदान किया और प्लेटो के अनुसार भावनामात्र-जन्य अतएव पशुवृत्त्यपरपर्याय काव्यसृष्टि में बुद्धि-तत्व की स्थिति मानकर उस नैतिक आदर्श की स्थापना की जिसके अभाव में प्लेटो ने उसे असात्म्य और बहिष्करणीय कहा था। संक्षेप में प्लेटो ने कहा था कि कला, अनुकृति की भी अनुकृति है। बढ़ई की खाट, आदर्श खाट की अनुकृति होने के कारण स्वयं अपूर्ण है। फिर उसका भी वर्णन या चित्रण करने वाला कलाकार उसका केवल आभास-मात्र दे सकता है जो वास्तविक सत्य से कोसों दूर है। अरस्तू ने इसका समाधान यह किया कि अनुकृति वाह्य एवं स्थूल पदार्थों की नहीं होती बल्कि उन वस्तुओं की सत्ता में बरतने वाले अव्यक्त निराकार और भावना-अर्जित तथ्य की होती है जो चराचर विश्व का शाश्वत सत्य रूप है। प्लेटो ने कहा था कि कला एक पशु-सुलभ आवेग की चीज है जिसमें बौद्धिक व्यवस्था नहीं होती। इसीलिये यह एक प्रकार की पाशविक वृत्ति होने

के कारण आदर्श-राज्य से बहिष्कार्य है । अरस्तू ने समाधान किया कि कला में आध्यात्मिक सौन्दर्य है जिसमें बौद्धिक सत्ता का उचित संमिश्रण रहता है । आध्यात्मिकता बिना ज्ञान-तत्व के स्वयं ही अव्यवहार्य है। फलतः कला में उत्कृष्ठ बुद्धि-तत्व की सत्ता उसे नैतिक आदर्श प्रदान करती है। इसीलिये कला जनसमाज के लिये मंगलास्पद है। प्लटो का अभिप्राय था कि कला भ्रान्त है अतः उसका आनन्द भी भ्रमात्मक है जो प्राणी के लिये कथमपि हितकारी नहीं है। अरस्तू ने कहा कि काव्यानन्द का माध्यम सौन्दर्य है और इसीलिये वह प्रयोजनीय है । दूसरे शब्दों में कला उसने इसलिये सुन्दर मानी कि वहां अधिकाधिक अनुकृति के द्वारा वस्तुओं के यथावत् स्वरूप ज्ञान से वास्तविक आनन्द की सृष्टि होती है, मिथ्या आनन्द की नहीं । इसीलिये दुःखान्त रचनाओं को भी उसने विरेचन के सिद्धान्त से परिणामतः सुखकारी ही सिद्ध किया ।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अनुकृतिवाद के दो रूप उक्त आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थों में पारित हुए उसी प्रकार उदाहरण ग्रन्थों में साहित्यकारों के द्वारा भी दो प्रकार के अनुकरण प्रवर्तित हुए। प्राचीनतम ग्रीक कवियों की आदर्श कविता का अनुकरण पहले वाह्य रूप के आधार पर चला और यह चौदहवीं शती के अन्त तक रहा। इसी को साहित्य के इतिहास में ओल्ड क्लैसिसिज्म या कृत्रिम क्लैसिसिज्म कहते हैं। ऐसी स्थूल और बाह्य अनुकृति-मूलक कला में न तो मूल वस्तु का सौन्दर्य आ सकता था और न वह उसकी भांति प्रभावशालिनी ही हो सकती थी। फलतः ऐसी कला के प्रति विराग-मूलक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। १५-वीं शती से लेकर १८ वीं शती तक प्राचीन ग्रीक-कला

के पुनरुत्थान का समय माना जाता है। इसी को इतिहास में न्यू क्लैसीसिज्म या वास्तविक क्लैसीसिज्म कहा गया है। संक्षेपतः ओल्ड क्लैसीसिज्म मूर्ति की विशेषता आकृति एवं उसके सौन्दर्य के साथ और न्यू क्लैसीसिज्म आकृति-सौन्दर्य को भावाभिव्यंजना के साथ स्वीकार करता है। ग्रीक आचार्यों की लम्बी काव्य-परम्परा इस पर एक मत है कि आकृति का सौन्दर्य आत्मा का ही सौन्दर्य है। उनके यहां कला में आध्यात्मिक सौन्दर्य की स्थापना यही सिद्धान्त करता है। काव्यकला में व्यक्त प्रसाधनों एवं बाह्य साज-सज्जाओं का आग्रह करने वाले क्लैसीसिज्म में भी इसका पूरा-पूरा अभिनिवेश है।

रोमाण्टिसिज्म का सबसे पहला प्रतिनिधि फ्रांस का रूसो था। अट्ठारहवीं शती का अन्तिम चरण क्लैसिक रेखा पर रोमाण्टिक रेखा की संक्रान्ति के लिये इतिहास में प्रसिद्ध है। पीछे इङ्गलैण्ड में इसी धारा का प्रतिनिधित्व शैली और कीट्स ने एवं जर्मनी में गेटे और वीकेलमैन ने किया। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि रोमाण्टिसिज्म का जन्म भी १८-वीं शती में हुआ था। वस्तुतः क्लैसीसिज्म की प्रतिक्रिया में रोमाण्टिसिज्म का जन्म भी न्यू क्लैसीसिज्म के साथ ही साथ हो चुका था किन्तु १८ वीं शती के अन्त में होने वाली फ्रांस की क्रान्ति ने योरोप की पुरानी संस्कृति को एकदम बदलकर रख दिया जिसमें धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ कला-सम्बन्धी मान्यतायें भी करवट बदल गईं। कवियों ने कला-विषयक ग्रीक-परम्परा को एक झटके में तोड़ दिया और उनकी कल्पना नितान्त नवीन रूप में व्यक्त हुई। स्वतन्त्रता की कामना और बन्धनों के प्रति विद्रोह रोमाण्टिक धारा की रीढ़ है जो अपने अत्यन्त प्रौढ़ रूप में १८ वीं शती के अन्त में ही प्रकट हुई।

संक्षेप में यदि हम क्लैसीसिज्म और रोमाण्टिसिज्म का भेद समझना चाहें तो इन शब्दों में समझा जा सकता है—

क्लैसीसिज्म में बाह्य अङ्गों की संगति, वैधानिक बन्धन, भावनाओं का संयम और चरित्रों का समर्याद चित्रण विहित है पर रोमाण्टिसिज्म में आन्तरिक अनुभूतियों की उच्छ्वलित और उद्वेलित अभिव्यक्ति, स्वच्छन्द आवेग, कल्पना-प्रवण दृष्टि और सभी प्रकार के बन्धनों के प्रति अराजकता-पूर्ण विद्रोह है। क्लैसीसिज्म रूप-सौन्दर्य पर अटका हुआ है तो रोमाण्टिसिज्म अरूप और अनन्त की भावना में रमता है। यही दोनों का सिद्धान्त-भेद है।

विषय वस्तु की दृष्टि से क्लैसीसिज्म उदात्त वस्तुओं के अङ्कन और अभिजात चरित्रों के आकलन का पक्षपाती है। उसके यहाँ चित्रणीय, चित्र और चित्रण का समतल होना चाहिये, उच्चावचता नहीं। अर्थात् बड़ी वस्तु का छोटे रूप में और छोटी वस्तु का बड़े रूप में चित्रण क्लैसीसिज्म में विधान-प्राप्त नहीं है। किन्तु रोमाण्टिसिज्म उत्कृष्ट कला के लिये उदात्त रूपों का ही पक्षपाती नहीं है। वह निकृष्टतम कोटि की वस्तु के चित्रण में भी अपनी अन्तरतम अनुभूतियों का जल उँडेल देता है और उसे कल्पना के स्वर्ण-पङ्खों पर स्वर्ग की यात्रा भी करा सकता है। यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। क्लैसीसिज्म में साधारण और साधारणेतर भाषा की प्रवृत्ति विषय-सापेक्ष रहती है। रोमाण्टिसिज्म में विषय की उच्चावचता न रहने के कारण भाषा के विभिन्न वैधानिक प्रयोगों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। एक वाक्य में कहना चाहिये कि क्लैसीसिज्म में वस्तु और अभिव्यक्तिकरण की शैली अलग-अलग हैं और दोनों का अपना-अपना सौन्दर्य है किन्तु रोमाण्टिसिज्म

वस्तु और शैली में तत्वतः कोई अन्तर नहीं समझता, दोनों को ही भाव-व्यंजना का अभिन्न आधार मानता है। अपने अन्तिम दिनों में उधर क्लैसीसिज्म का संयम ही उसका कारागृह बन जाता है और इधर रोमाण्टिसिज्म की असंयत गति ही उसे अन्त में गिरा देती है।

अब क्लासीसिज्म और रोमाण्टिसिज्म के समानान्तर भारत के रीतिवाद और स्वच्छन्दता के स्वरूप का विवेचन भी कर लिया जाय। हिन्दी के रीतिकाल की प्रवृत्तियों के स्वरूप और उनकी आधारभूमि आज कुछ मत-भेद का विषय है। नवीनतम आलोचक रीतिकाल के प्रति अत्यधिक उदार होते जा रहे हैं। किन्तु हमें इन सब बातों के झमेले में न पड़ कर जो निर्विवाद तथ्य है उसी के आधार पर अपने प्रसंग की रक्षा करनी है। चाहे तो स्वतः साहित्यिक प्रवाह के कारण रीतिकाल का उद्गम हुआ हो या राजनैतिक, सामाजिक जैसी परिस्थितियों के कारण किन्तु शृंगारिकता और काव्य रचना सम्बन्धी नियमों की अनुबन्धिता वहाँ है—यह सर्वसम्मत बात है। उसी प्रकार आचार्यत्व और शृंगारिकता का स्वरूप चाहे जैसा रहा हो पर रीतिकाल के ये दोनों ही स्वरूपाधायक तत्व हैं। इससे आगे आचार्यत्व और शृंगारिकता के स्वरूप के विषय में भी एक बात निर्विवाद है जिसे हम क्रमशः बाह्य-प्रदर्शन और बाह्य-प्रसाधन कह सकते हैं। हिन्दी के तत्कालीन समस्त आचार्य अलंकार-शास्त्र की औपचारिक वृत्ति से अपनी रसज्ञता का ही अधिक प्रदर्शन करते थे। यही कारण है कि रीतिकाल का कोई भी आचार्य ऐसा नहीं है जिसने अपने लक्षण-ग्रन्थों में स्वरचित उदाहरण पेश न किये हों। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था जो वे संस्कृत-साहित्यशास्त्र के गहन विवेचन में न पड़कर

उसके कुछ ही अंगों की नोंच-खसोट करके अपना काम निकालें। पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये भी संस्कृत का पल्लवग्राही पाण्डित्य ही उस समय पर्याप्त था क्योंकि इस समय न तो संस्कृत का ठोस और व्यापक वातावरण रह गया था और न हिन्दी के क्षेत्र में उसका पूर्ण प्रसार ही हो सका था। हिन्दी के आचार्य उस समय जो कुछ भी संस्कृत साहित्य की मोटी-झोटी कतरन ले आते थे वह तत्कालीन सामन्त-दरबारों के लिये अचम्भे का बच्चा था। निश्चय ही यह समय की परवशता थी जो तत्कालीन आचार्य, दरबारों के स्थूल भोगोन्मुखी वातावरण को साथ रखकर शास्त्र की गम्भीर विवेचना की तरफ अपनी पूरी शक्ति से यात्रा न कर सके।

जिस प्रकार आचार्य लोग कुछ शास्त्रीय पंक्तियों पर अपना पाण्डित्य जमाये बैठे थे उसी प्रकार कवि लोग पुराने किटकिन्नों पर अपनी कविता की प्रदर्शनी लगाये बैठे थे। दोनों की ही प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी थीं। किन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इस समय का आचार्यत्व आलंकारिक और शृंगारिक कवित्व से असम्पृक्त और स्वतन्त्र न था, उससे अलग एक और भी बुनियादी कारण था जो उसके महत्व को ही सर्वथा पोंछ देता है। वह संस्कृत साहित्याचार्यों की अपूर्ण नकल थी और खासकर उन साहित्याचार्यों की जो मुख्यतः रीतिवादी अथवा अलंकारवादी थे और जिनका आलोचना-सम्बन्धी मौलिक दृष्टिकोण भी बहिर्मुखी था। अगले प्रकरण में आलोचक की बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी चेतना के कारण उत्पन्न होने वाले सम्प्रदायों के विवेचन में इसका प्रसंग आने वाला है। प्रस्तुत प्रकरण में कवि की बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी चेतना के फलस्वरूप प्रवाहित होने वाली काव्य-धाराओं का विवेचन चल रहा है। हमारी रीति-

कालीन काव्य-धारा कवियों की बहिर्मुखी चेतना का परिणाम है क्योंकि यहाँ आत्माभिव्यंजन न होकर आत्मप्रदर्शन है और कला का आन्तरिक समाधान न होकर बाह्य-प्रसाधन है। यही बात हम पश्चिम के क्लासिसिज्म में भी देख चुके हैं। किन्तु बहिर्मुखी वृत्ति के फल स्वरूप बाह्य साज-सज्जा की एकता रहते हुए भी क्लासीसिज्म और रीतिवाद में उतना ही अन्तर है जितना एक ही आकाश के नीचे पूरब और पश्चिम का। इस अन्तर के मूल में विभिन्न संस्कृतियाँ, भौगोलिक स्थितियाँ और ऐतिहासिक जैसी अनेक परिस्थितियाँ हैं।

भारत की संस्कृति मूलतः आध्यात्मिक या अन्तः पक्ष-प्रधान रही है और पश्चिम की मूलतः भौतिक या बाह्यपक्ष-प्रधान। यह भेद जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्पष्ट है और साहित्य के क्षेत्र में भी। भारत में आत्म-तत्व का पहले और भूत-तत्व का परस्तात् विचार किया जाता है। भारत ने सर्वप्रथम रस की स्थापना साहित्य में की जो कि उसका आत्मस्थानीय तत्व है। पीछे भले ही अनेक आचार्य ऐसे हुए जिन्होंने इतर अङ्गों को अधिक महत्व दिया किन्तु ध्यान रखने की बात है कि जिस-किसी आचार्य ने भी काव्य के जिस-किसी अङ्ग को प्रधान माना वह आत्म स्थानीय या अन्तस्तत्व समझ कर ही। वैसे समष्टि रूप में यहाँ के संस्कृत साहित्य के इतिहास पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि अन्तः पक्ष की दृष्टि पहले है और बाह्य-पक्ष की उसके बाद। रस के परिचय के उपरान्त यहाँ बाह्य सौन्दर्य को क्रमागत महत्व मिला था (सौन्दर्यमलङ्कारः)। इसके विपरीत पश्चिम में बाह्य-सौन्दर्य के माध्यम से अन्तः पक्ष की ओर यात्रा प्रारम्भ की गई। विषय-गत (औब्जैक्टिव) सौन्दर्य के माध्यम से विषयि-गत सौन्दर्य की धारणा इसी तथ्य

का संकेत करती है। ग्रीक साहित्य के इतिहास में हम स्पष्ट देखते हैं कि वहाँ के प्राचीनतम आदर्श-साहित्य का अनुकरण पहले आकृति-मूलक था जो ओल्ड क्लैसीसिज्म के नाम से प्रसिद्ध है और तदुपरान्त प्रेरणा-मूलक या भावना-मूलक अव्यक्त तत्व का अनुकरण प्रारम्भ हुआ जो न्यू क्लैसीसिज्म के नाम से ख्यात-विख्यात है। यह बाहर से भीतर की ओर जाने का क्रम है। हिन्दी में पुराना रीतिवाद और नया रीतिवाद—जैसा कोई क्रम नहीं है। इसका कारण यही है कि संस्कृत साहित्य में बहुत पहले ही अन्तः पक्ष से यानी रसादि से बाह्य पक्ष यानी अलंकारादि की ओर यात्रा पूर्ण होकर लौट चुकी थी। भारत में तो सर्ग और तदनन्तर प्रतिसर्ग, इन दोनों का ही नियम है। अर्थात् यहाँ का सृष्टि-क्रम अव्यक्त से व्यक्त की ओर, और प्रतिसृष्टि-क्रम व्यक्त से अव्यक्त की ओर चलता है। इसीलिये यहाँ आध्यात्मिक समीक्षा और भूत-समीक्षा—इन दोनों का क्रम-भेद है, पर लक्ष्य-भेद नहीं! फलतः हिन्दी के रीतिवाद ने अन्तः पक्ष के रूप में शृंगार रस की और बाह्य पक्ष के रूप में अलङ्कारों की बंधी-बँधाई प्राचीन पद्धति पर साथ ही साथ रचनायें प्रारम्भ की। जीवन जगत के प्रति मूलतः स्थूलपरक और सूक्ष्मपरक—ये दो दृष्टियाँ हैं जो साहित्य के क्षेत्र में भी पश्चिम और पूरब का सांस्कृतिक भेद स्पष्ट करती हैं।

सारी विभिन्नताओं का विवेचन तो यहाँ कठिन है पर एक भेद और भी अत्यन्त मौलिक है। पश्चिम का विश्वास है कि जीवन-जगत की भलाई और बुराई के भिन्न-भिन्न स्रोत हैं। भलाई का स्रोत ईश्वर है और बुराई का शैतान। वहाँ ये दो प्रतिद्वन्द्वी सत्तायें मान ली जाती हैं जिसका मतलब है कि वहाँ ईश्वर की सत्ता आधी है और शैतान आधा ईश्वर है। दोनों का

वहाँ संघर्ष चलता रहता है। शैतान सदैव विद्रोह करता है और कभी-कभी वह सफल भी हो जाता है। यही बात प्रकारान्तर से वहाँ के साहित्य में भी उतर जाती है। अर्थात् जीवन-जगत का अत्यधिक संघर्ष और न्याय पर अन्याय की विजय के कारण जीवन-जगत के प्रति दुःखान्त (ट्रैजैडी) का दृष्टिकोण पश्चिमीय साहित्य का उच्छ्वसित है। क्लासीसिज्म क्या, वहाँ की कोई धारा इससे अछूती नहीं है। इसके विपरीत भारत एक सर्वनियन्ता शक्ति पर विश्वास करता है जो भलाई-बुराई दोनों का मूल है। यहाँ भलाई भी ईश्वर से आई है और बुराई भी। बुराई का रूप माया है जो ईश्वर के सदैव अधीन है। यहाँ स्वभावतः सारी वस्तुओं का पर्यवसान ईश्वर में ही होता है। अर्थात् माया एकान्ततः किसी को आच्छन्न नहीं किये रह सकती, उसका अन्त अवश्य होता है और एक-न-एक दिन असत्य पर सत्य की विजय हो ही जाती है। जब भी जीव माया की क्रीड़ा से थक जाता है, वह उसी के भीतर जब-तब प्रकट होने वाले प्रकाश की सहायता से 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की ओर प्रस्थान कर देता है। यही असत्य से सत्य की प्राप्ति है जिसे भारत के ऋषि ने स्पष्ट ही कहा है—"इदमहमसत्यात् सत्यमुपैमि"। यही बात सहस्रमुखी होकर भारतीय साहित्य में अनेकशः पल्लवित और पुष्पित होती हुई दीख पड़ती है। अच्छाई का परिणाम अन्ततोगत्वा अच्छाई ही होता है—यह जीवन-जगत के प्रति आस्था-मूलक सुखान्त (कौमैडी) दृष्टिकोण भारतीय साहित्य की मूल आत्मा है। सत्य के सामने असत्य की जीत तो यहाँ होती ही नहीं साथ ही सत्य के प्रकट होते ही असत्य विलीन भी हो जाता है, इसलिये जीवन-जगत का संघर्ष भी यहाँ उतना भयङ्कर नहीं जितना पश्चिम में है। दैवी-विधान के प्रति

पूर्ण आस्था और उसी के समानान्तर स्वस्थ आशावादिता यहाँ सदा से अमन-चैन का सन्देश देती आई हैं जो पश्चिम के लिये केवल कल्पना की वस्तु है। भारत के रीतिवाद क्या, समस्त साहित्यिक धाराओं के ये दो ही किनारे हैं।

भारत का एक दर्शन-सिद्धान्त ऐसा भी है जो यहाँ की संस्कृति के मूल में जीवन-जगत को माया का और दुःख का रूप समझकर इससे विरक्ति का सन्देश देता है, हिन्दी के छायावादी साहित्य में यही पलायनवाद के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु यदि थोड़ी भी गहराई से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि यहाँ की दर्शन-प्रतिपादित विरक्ति और साहित्यसृष्ट पलायनवाद के भीतर और भी अधिक आशावादिता और आस्था की व्यंजना है। आशावादिता का लक्षण है कर्मण्यता और निराशावादिता का निष्कर्मण्यता। पश्चिम में दर्शन-प्रतिपादित विरक्ति का अर्थ जो भी हो पर भारत में विरक्ति का अर्थ निष्कर्मण्यता कदापि नहीं है। यहाँ की विरक्ति-जन्य मुक्ति तो सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। और इस पुरुषार्थ के प्रति प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब किसी परात्पर शक्ति की शरण में पूर्ण आस्था हो। आस्था और आशावाद का चोली-दामन का सम्बन्ध है जो हमें किसी और भी उच्च कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करता है। यह जीवन की एक महती प्रगति है और किसी भी प्रगति को निराशावाद नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यहाँ के पलायनवाद का मतलब पश्चिम की भाँति जीवन-जगत से हार कर पुरुष का पुरुषार्थ-त्याग नहीं है। यह कितनी मजेदार बात है कि यहाँ की पलायनवादी वृत्ति भी जीवन-जगत के अभावों के बीच से होकर ही अपनी दौड़ का मार्ग निकालती है। उसकी धारणा है कि संसार की यात्रा संसार तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह असीम

है अथवा इसका सम्बन्ध असीम से है जहाँ यात्रा स्वयं ही खो जाती है—

जीवन का उद्देश्य नहीं है बीच राह में रुक जाना
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिससे आगे राह नहीं

—प्रसाद

संसार के बीच से यात्रा करते हुए संसार के विश्रामालयों की शोभा हतप्रभ करके उसे रोक न ले इसीलिये कवि यह कहता है:—

ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे

और यदि 'कोलाहल की अवनि' के आवास में छलपूर्ण प्रेम-कथा के प्रति कवि को घृणा है तो क्या वह साथ ही अपने नाविक के प्रति इतना आस्थावान नहीं है कि जहाँ वह उसे ले जायगा वहाँ निश्छल प्रेम और शान्ति का वातावरण है ? क्या इसके द्वारा कवि ने संसार को निश्छल प्रेम और अकलह के प्रति आस्था का सन्देश नहीं दिया ? और यदि कोई भी कल्याणकारी सन्देश है तो उसकी प्रेरणा देता हुआ उसका साहित्य निराशावादी कैसे हो सकता है ?

सारांश यह है कि आशावादी आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र में निराशावाद और पलायनवाद अपने उस रूप में अवतीर्ण नहीं हो सकते जो पश्चिमीय है और जिसका अस्तित्व जीवन-जगत के असफल संघर्ष में है। यह भारत की आध्यात्मिक आशावादिता (औप्टीसीज्म) और आस्था का क्रियात्मक रूप है जिसे कुछ लोग प्रसाद जी की कतिपय कविताओं में पलायनवादी मनोवृत्ति तथा उसी प्रकार सुश्री महादेवी वर्मा की अनेक रचनाओं में निराशावादिता (पैस्सीसिज्म) का दृष्टिकोण कहकर छुट्टी पा लेते हैं।

आस्था और आशावादिता का शुद्ध भौतिक दृष्टिकोण भी अच्छा जरूर है पर उसका अतिवास्तविक रूप या तो किसी नीति या राजनीति का उपदेश देगा जो साहित्य के अविचारित-रमणीय क्षेत्र से बाहर पड़ जायगा नहीं तो फिर भोगवाद में कूद पड़ेगा। यह भौगोलिक विभिन्नता की ही महिमा है कि पश्चिम में उक्त दृष्टि-कोण अपने जीवन-संघर्ष की तीव्रता के कारण मार्क्सवादी जैसे काव्यवादों में फूटा जब कि भारत में वही रीतिकाल की स्थूल शृंगारिकता में फट पड़ा। भारत की भौगोलिक स्थिति सदा से समृद्ध रही है। इसकी भी दो सीमान्त प्रतिक्रियायें इस देश में होती आई हैं। या तो ऐश-आराम से ऊबकर बुद्ध-प्रभृति युग पुरुषों ने आशा और आशावादिता का आध्यात्मिक चिरन्तन रूप संसार के सामने रखा, नहीं तो फिर वाजिदअली शाह जैसों ने आपादशिर भोग-मग्न ऐहिकता की हद कर दिखाई। संस्कृत कवियों की पद-पंक्ति पर चलने वाले रीति-कवियों की घोर शृंगारिकता की प्रवृत्ति छोटे-मोटे राजा-महाराजाओं की मनोवृत्ति का अनुसरण करती हुई, भारत की समृद्धि भौगोलिक स्थिति के साथ भी कार्य-कारण भाव रखती है। और यदि घटनाओं का नाम ही इतिहास नहीं है—उनकी परस्पर संगति का विवेचन भी इतिहास है तो हिन्दी के रीतिवाद की उत्पत्ति के लिए यह भी अंशतः उत्तरदायी है। साहित्यिक घटनाओं को देखते हुए यह बहुत ही स्वाभाविक जान पड़ता है। राधाकृष्ण की भक्ति किस प्रकार शृंगार-रस में सरक पड़ी और तुलसीदास की मर्यादित काव्य-रेखाओं की प्रतिक्रिया किस प्रकार भावों की अराजकता में प्रतिफलित हुई—इसका विवेचन भी हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने कुछ-न-कुछ किया ही है। यह ऐतिहासिक घटनाओं की संगति का ही परिणाम है कि पश्चिम के क्लेसिसिज्म

में चरित्रों का मर्यादा-पूर्वक आकलन है जब कि भारत के रीतिवाद में अमर्यादित शृंगार-भावना की बरसाती बाढ़ है। तात्पर्य यह है कि साहित्यकार की बहिर्मुखी चेतना, जिसके अनुसार वह बाह्य साज-सज्जा की ओर अधिक दत्त-चित्त रहता है, पश्चिम के क्लासिसिज्म और भारत के रीतिवाद के मूल में समानरूप से अभिव्याप्त है। क्लैसीसिज्म के विरुद्ध भले ही यहाँ के रीतिकाल में शृंगार-भावना है किन्तु उसका सांचा बाह्य, स्थूल और एक निश्चित रूप में ठुका-पिटा हुआ है जो कि साहित्यकार की बाह्य-वृत्ति का ही समाधान करता है। साहित्य की इसी बहिर्मुखी चेतना के कारण हम क्लैसीसिज्म और रीतिवाद को एक ही प्रकार की मौलिक प्रवृत्ति का परिणाम समझते हैं। तदतिरिक्त चाहे जितनी विभिन्नतायें हों वे सभी मानवमात्र की इस बुनियादी चेतना-विशेष के सामने अपना देश-कालिक महत्व ही रख सकती हैं।

अब भारत के स्वच्छन्दतावाद का विवेचन भी पश्चिमीय रोमाण्टिसिज्म के समानान्तर कर लिया जाय। सबसे पहली बात तो यह है कि हिन्दी का स्वच्छन्दतावाद पश्चिम की देन नहीं है। यह पन्द्रह आने भारतीय साहित्य के स्वाभाविक विकास की धारा है। एक आना इसलिये छोड़ दिया गया है कि हिन्दी का स्वच्छन्दतावादी युग अपनी देश-काल की सीमाओं में पश्चिम की भौतिकतावादी सभ्यता के सम्पर्क से अछूता नहीं रह सका जो कि अत्यन्त स्वाभाविक भी था। किन्तु साहित्य की चेतना स्वयं अपनी प्रतिक्रिया होती है, वातावरण उसे विभिन्न रूप प्रदान कर सकता है। बहिर्मुखी चेतना की प्रतिक्रिया अन्तर्मुखी चेतना में और अन्तर्मुखी चेतना की प्रतिक्रिया बहिर्मुखी चेतना में अवश्य ही होगी—यह स्वीकृत सत्य है।

किन्तु किस रूप में होगी—यह वातावरण की विभिन्नता और संक्रान्तियों पर निर्भर है। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में बहिर्मुखी चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी जिसकी प्रतिक्रिया आवश्यंभावी थी और वह स्वच्छन्दतावाद की छाया-वादी काव्यशैली के रूप में सामने आई। यह धारणा भी गलित है कि यदि पश्चिमीय प्रभाव का हाथ हिन्दी-साहित्य पर न होता तो स्वच्छन्दतावाद के आने मे कुछ और समय लग जाता। बल्कि यह कहना चाहिये कि पश्चिमीय प्रभाव के मूलस्रोत इङ्गलैण्ड की शासन-सत्ता के प्रति भारत को एकदम राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी समूची शक्ति न लगानी पड़ी होती तो हिन्दी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद बहुत पहले ही आ गया होता। घनानन्द जैसे रीति-मुक्त कवियों की कवितायें इस बात का सबूत हैं कि हिन्दी-साहित्य को रीतिकालीन बहिर्मुखी चेतना की विरोधी अन्तर्मुखी चेतना उसी समय साहित्य में करवट बदलने लगी थी। यदि राष्ट्रीयवाद का प्रचण्ड रूप इस बीच में आग न उगलता तो जिन्हें हम राष्ट्रवादी कवि कहते हैं वे बाबू मैथिलीशरण के व्यक्तित्व में स्वच्छन्दतावाद का प्रतिनिधित्व स्वीकार करते और घनानन्द तथा सुमित्रानन्दन पन्त के लाक्षणिक प्रयोगों की सदृशता पर जो हमें आज आश्चर्य होता है वह न हुआ होता।

हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद की सबसे पहली काव्यशैली छाया-वाद है जो अपना प्रौढ़ रूप ले चुकी है। रहस्यवाद, छायावाद को ही एक कोटि है। आज इस पर बड़ी आसानी से विचार किया जा सकता है कि छायावाद पर पश्चिम का कितना प्रभाव है।

डा० नगेन्द्र ने कहा है कि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। निश्चय ही यह परिभाषा साहित्य की अन्तर्मुखी चेतना का अविकल संकेत करती है जिसे हम पीछे पश्चिम के रोमाण्टि-

सिज्म का और भारत के स्वच्छन्दतावाद का मूल बतला चुके हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि हिन्दी में जो साहित्य की रीति-कालीन स्थूलता थी उसके प्रति स्वभावतः यह सूक्ष्मता का विद्रोह है कुछ पश्चिम के प्रसाद का फल नहीं। डा० नगेंद्र ने सिद्ध किया कि छायावाद, साहित्य के समस्त स्थूल उपादानों की सूक्ष्म प्रति-क्रिया है। सचमुच इसका हमारे साहित्य की ऐतिहासिक धारा से सगा सम्बन्ध है, कुछ सिर-पट का नहीं। अर्थात् छायावाद मूलतः यहीं के बहिर्मुखी साहित्य की प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न हुआ है, पश्चिम के साथ इसका कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है।

छायावाद की शैली भी अपनी निजी है जो भाव और कला की सीमाओं में लहरें मारती हैं। आत्मा और परमात्मा की रहस्यात्मक प्रणय-लीला, प्रकृति में चेतन की अनुभूति एवं प्रणय-व्यापार और जीवन की स्वतंत्र अनुभूति, छायावाद के भावपक्ष की या सिद्धान्त-पक्ष की सामग्री है। इस सामग्री को अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार की पद्धति में छायाचित्र की सी अभिव्यक्ति देना छायावाद की कलात्मक प्रणाली है। इन दोनों पर पश्चिम का कुछ भी मौलिक प्रभाव नहीं है। जहाँ तक रहस्यात्मक सिद्धान्त-पक्ष का सम्बन्ध है वह भारतीय साहित्य-शृङ्खला की 'अध्यात्मिक कड़ी का नैसर्गिक विकास है.' भारतीय अध्यात्मवाद के बोरे में भरा हुआ बिलायती भुस नहीं है। फिर विकास ही है, अन्धानुकरण नहीं। सुश्री महादेवी वर्मा के ही शब्दों में वह परा विद्या की अपार्थिवता, वेदान्तीय अद्वैत की छाया अलौकिक प्रेम की तीव्रता और कबीर के दाम्पत्य-प्रेम की मिली-जुली सृष्टि है जिसमें रमने वाला मस्तिष्क हृदयमय है और हृदय मस्तिष्कमय।

रहस्यानुभूति के दो प्रधान पक्ष हैं। पहला आत्मप्रधान है,

दूसरा प्रतीक या प्रतिबिम्ब प्रधान। पहले का साहित्यिक रूप एकान्त-दर्शन एवं प्रणय-निवेदन हैं और उसका भारतीय दर्शन के आत्मवाद से सीधा सम्बन्ध है। एकान्त-दर्शन और एकान्त-प्रणय संकेत के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

शशिमुख पर घूँघट डाले
अञ्चल में दीप छिपाये;
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये
—प्रसाद (आंसू)

करुणामय को भाता है
तम के परदे में आना;
ओ नभ की दीपावलियो
तुम क्षणभर को बुझ जाना।
—महादेवी वर्मा

रहस्यानुभूति के प्रतीक या प्रतिबिम्ब प्रधान पक्ष का साहित्यिक रूप प्राकृतिक प्रतीकों के सिर पर अभीष्ट की व्यंजना है और उसका भारतीय दर्शन के प्रतिबिम्बवाद या सर्ववाद से सीधा सम्बन्ध है ?

"नभ में उसके दीप, स्नेह
जलता है पर मेरे उर में;
मेरे हैं ये प्राण, कहानी
पर उसकी हर कम्पन में।"
—महादेवी वर्मा

स्पष्ट है कि जहाँ आत्मप्रधान रहस्यानुभूति का मार्ग शुद्ध प्रेम है वहाँ प्रतीक या प्रतिबिम्ब प्रधान रहस्यानुभूति का मार्ग

प्राकृतिक सौन्दर्य है। किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही है—चाहे उसे अभीष्ट की प्राप्ति कहें या प्राप्त्याभास।

हमने देखा कि न तो छायावाद पश्चिम की देन है और न उसके उपकरण और उपादान ही पश्चिम से आये हैं। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि पश्चिमीय सभ्यता से टकराते हुए भारत में होने वाली संक्रान्तियों से छायावाद अछूता ही रह गया है। नहीं, बीसवीं शती का भौतिक विज्ञान और वैज्ञानिक क्रांतियाँ जो निःसन्देह पश्चिम की ऐहिक प्रगति के परिणाम हैं, छायावादी साहित्य में पूर्णतः प्रतिबिम्बित हैं। जीवन-जगत के संघर्षों का समाधान है तो आध्यात्मिक ही किन्तु उसकी सीमायें मानवीयता और सांस्कृतिकता को वौद्धिक धरातल पर हैं, धार्मिक धरातल पर नहीं। इसीलिये छायावाद की आध्यात्मिक दृष्टि यहाँ के धर्मों, सम्प्रदायों और पन्थों की धार्मिक दृष्टि से मेल नहीं खाती। कुछ आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि भारतीय अध्यात्म, पुरुष से प्रकृति की ओर प्रवृत्त होता है और एक चेतन-केन्द्र से नाना चेतन-केन्द्रों की सृष्टि करता है, किन्तु छाया-वादी काव्य प्रकृति को चेतनसत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है, यानी परम्परागत प्राचीन अध्यात्म, भाव से दृश्य की ओर जाता है पर छायावादी अध्यात्म, दृश्य से भाव की ओर चलता है। पर सर्वथा ऐसी बात भी नहीं है। यह ठीक है कि भारतीय संस्कृति मूलतः अन्त-र्मुखी है और पश्चिम की मूलतः बहिर्मुखी, पर भारतीय दर्शन आत्मबोध से प्रकृति की तरफ जाकर फिर प्रकृति के ही द्वार से आत्मज्ञान की ओर लौटता भी है। इन दो प्रस्थान-बिन्दुओं के कारण ही यहाँ दर्शनों में आत्मवाद और सर्ववाद का पक्ष ऊपर दिखाया जा चुका है। पौराणिक साहित्य ने सर्ग-प्रतिसर्ग

के रूप में और वैदिक साहित्य ने संचर-प्रतिसंचर के रूप में इन्हीं का प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया है। भारतीय दर्शन, भाव से दृश्य की ओर और दृश्य से भाव की ओर भी जाता है जब कि पाश्चात्य दर्शन दृश्य से भाव की ओर ही चलता है। दृश्य से भाव की ओर जाना भी पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शनों का समान नहीं है। पौर्वात्य दर्शन अन्तर्दृष्टि में आश्वस्त होकर बाह्य प्रकृति से यात्रा प्रारम्भ करता है पर पाश्चात्य दर्शन बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य से चलकर अन्तर्दृष्टि में विश्वास करता है। भारतीय दर्शन का प्रधान प्रमाण अन्तः साक्ष्य है पर पाश्चात्य दर्शन का वही प्रमाण बहिः साक्ष्य है। भारतीय दर्शन की इस गतागत और आगत-प्रत्यागत सरणि के कारण ही यहाँ का उपासना-क्षेत्र अपने तीन रूपों में प्रसिद्ध है विश्वमूर्ति, विश्वचर और विश्वातीत। पहले रूप के पीछे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है—यह धारणा काम करती है। "प्रजापतिश्चरतिगर्भेऽन्तर्जायमानो बहुधा विजायते" अर्थात् वह सत्ता सर्वव्यापक है, सबके भीतर छिपे रूप में काम करती है—इस प्रकार की ऋचायें विश्वचर की उपासना के मूल में हैं। और "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" जैसी श्रुतियों ने विश्वातीत की उपासना को जन्म दिया जिसके अनुसार वह परात्पर सत्ता वहीं तक सीमित नहीं है जहाँ तक हम देखते हैं। छायावादी काव्य में इन तीनों का ही विचित्र सम्मिश्रण है। जब कोई रहस्यवादी साहित्यकार यह कहता है कि 'टूट गया वह निर्मम दर्पण' तो निश्चय ही वह दर्पण के प्रतीक से यावन्मात्र दृश्य जगत की बात करता है और उसके टूट जाने से विश्वातीत परात्पर शक्ति की ओर यात्रा की सूचना देता है। उसी प्रकार "मैं भी देख लूँ उस पार क्या है"—आदि-आदि

पंक्तियाँ संसार की सीमाओं से परे किसी शक्ति की जिज्ञासा करती हैं।

विश्वचर और विश्वमूर्त की उपासना तो छायावादी साहित्य की रीढ़ ही है। पन्त जी की 'मौन निमन्त्रण' कविता में इसे अच्छी तरह देखा और समझा जा सकता है जहाँ प्रकृति के प्रत्येक स्पन्दन में उन्हें कोई अज्ञात सत्ता मौन निमन्त्रण देती है। और वे बारबार कहते हैं कि 'न जाने मुझे बुलाता कौन'।

फिर छायावादी काव्य दृश्य से भाव की ओर ही जाता हो—ऐसा नियम भी नहीं है। अपनी एकान्त अनुभूति में वह कभी-कभी भाव-पक्ष के भीतर ही रमता है। पीछे इसका उदाहरण दे चुके हैं। एक और उदाहरण यह है :—

कौन तुम मेरे हृदय में
कौन मेरी कसक में नित,
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में—
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा—
नील के सूने निलय में।
कौन तुम मेरे हृदय में ॥

—महादेवी वर्मा

इतना सब कुछ होते हुए भी यह कहते नहीं बनता कि छायावादी काव्य का अध्यात्म पक्ष प्राचीन परम्परित अध्यात्मवाद ही है। छायावाद के अध्यात्म में जीवन-जगत का संघर्ष अपने प्रौढ़ रूप में उपस्थित हुआ है जिसके कारण उसका धरातल धार्मिक न होकर बौद्धिक है और उसका चरम दृष्टिकोण परमार्थ-साधन न होकर जग-जीवन और समाज के आन्दोलनों का

वह समाधान है जो या तो मानवीय संस्कृति में अथवा सांस्कृतिक मानवता में लोक-संग्रह को महत्व देता है। दूसरी विभिन्नता यह भी है कि छायावादी काव्य में जीवन-जगत के प्रति एक स्वतन्त्र आत्मानुभूति है जो दृश्य जगत में उसकी रागात्मक और विरागात्मक स्थिति के लिए स्वयं उत्तरदायी है। इसी स्वतन्त्र अनुभूति के कारण हम छायावादी साहित्य में जड़-चेतन का अभेद तो पराकाष्ठा पर देखते ही हैं साथ ही साथ संवेदना की रेखायें भी किसी बँधी-बँधाई पद्धति पर हम नहीं पाते। प्रकृति का, उद्दीपन-विभाव के स्थान पर मुख्यतः आलम्बन विभाव बन जाना और सौन्दर्य के माध्यम से आकर्षण-विकर्षण की चक्रव्यूही रचना, छायावाद की स्वतंत्र संवेदना का फल है। छायावादी साहित्य में ही सबसे पहले रस की अलौकिकता की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूति को दाद दी गई। अकर्तृत्व का स्थान मुख्यतः आत्माभिव्यंजना को दे दिया गया अर्थात् कवि पात्रों के माध्यम की अपेक्षा स्वयं ही पाठकों के मर्म का स्पर्श करता हुआ पाया गया। स्वच्छन्द संवेदना की चपेट में अभिव्यक्ति के साधनों में भी पर्याप्त हलचल मची। मानवीकरण, ध्वनिचित्रण, विशेषण विपर्यय, रूपकचित्र आदि अलंकार एवं स्वच्छन्द छन्दों और मुक्त छन्दों की सृष्टि, छायावादी कवियों के उत्तेजना-समर्पित क्रान्तिकारी दृष्टिकोण की अपनी मस्ती है।

अब इस प्रकरण के अन्त में एक बहुत ही विवाद-ग्रस्त प्रश्न हम उठा रहे हैं। ऊपर कहा गया था कि छायावाद हिन्दी के स्वच्छन्दतावाद की ही एक शैली है, पर कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि छायावाद की ही एक शैली स्वच्छन्दतावाद है। इस विषय में हमारा सबसे पहला निवेदन तो यह है कि जिस प्रकार पश्चिम में क्लैसीसिज्म की प्रतिक्रिया में रोमाण्टिसिज्म का

प्रादुर्भाव हुआ उसी प्रकार हिन्दी के रीतिवाद के प्रतियोगी किसी अन्तर्मुखी चेतना वाले साहित्य का जन्म होना स्वाभाविक ही था और वह हुआ भी। कोई उसे छायावाद कहता है तो कोई स्वच्छन्दतावाद। यह केवल नाम-मात्र का भेद है, मौलिक चेतना का नहीं। पर हम इसे स्वच्छन्दतावाद कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं और छायावाद को इसकी एक शैली के रूप में स्वीकार करते हैं।

ऐसा क्यों?

प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि छायावाद और स्वच्छन्दतावाद—इन दोनों में व्युत्पन्न और परिभाषिक अर्थ की दृष्टि से कौन अधिक व्यापक है और साहित्य की उपर्युक्त अन्तर्मुखी चेतना का मुख्यतः अन्त तक साथ देनेवाला कौन है। इन दोनों शर्तों को जो कोई भी पूरा करेगा वह अंगी होगा और जो ऐसा करने में छोटा पड़ जायगा वह उसका अंग मानना पड़ेगा। और यदि दोनों ही वाद उपर्युक्त दोनों शर्तों को पूरा करें अर्थात् दोनों ही व्युत्पन्न और पारिभाषिक अर्थ की दृष्टि से बराबर व्यापक हों और साहित्य की अन्तर्मुखी चेतना का दोनों ही एक रूप से अन्त तक साथ देने वाले सिद्ध हों तो ऐसी दशा में ये दोनों ही एक-दूसरे के पर्याय होंगे—न कोई बड़ा होगा, न कोई छोटा—न कोई व्यापक होगा, न कोई व्याप्य—न कोई अंगी होगा, न कोई अंग।

छायावाद का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—किसी बात को छाया-वृत्ति से कहना—सांकेतिक ढंग से कहना—सूक्ष्म पद्धति से कहना या अप्रस्तुत विधि से कहना। स्वच्छन्दतावाद का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—किसी बात को स्वच्छन्द तरीके से कहना—अन्तः प्रेरणा के अनुरोध से कहना। अन्तःप्रेरणा का अनुरोध दोनों

रूपों में हो सकता है—अप्रस्तुत या सांकेतिक रूप में भी और प्रस्तुत अथवा अभिहित रूप में भी। इस प्रकार स्वच्छन्द-तावाद, अप्रस्तुत—दोनों प्रकार की कथन-पद्धतियों को अपने भीतर समेट लेता है जब कि छायावाद केवल अप्रस्तुत पद्धति तक ही रह जाता है। फलतः व्युत्पन्न अर्थ की दृष्टि से स्वच्छन्द-तावाद, छायावाद की तुलना में कहीं अधिक व्यापक है। अर्थात् जो कुछ छायावाद का विशेष अर्थ है, वह तो स्वच्छन्दतावाद में आ जाता है पर स्वच्छन्दतावाद का जो अर्थ है वह पूरा छाया-वाद के पेट में नहीं आता। इसलिये स्वच्छन्दतावाद व्यापक है और छायावाद व्याप्य—स्वच्छन्तावाद अंगी है और छायावाद अंग।

पारिभाषिक या रूढ़ अर्थ की दृष्टि से भी दोनों को मिला लीजिये। छायावाद का पारिभाषिक या रूढ़ अर्थ क्या है—इसके लिये हमें छायावाद की उन परिभाषाओं की अर्थ-सीमायें देखनी होंगी जो अनेक विद्वानों ने की हैं। उनमें भी जो परिभा-षायें अत्यन्त संकुचित हैं उन पर तो विचार ही क्या किया जाय, जो अत्यन्त व्यापक परिभाषायें हैं उन्हीं के अनुसार छायावाद के अर्थ की तुलना स्वच्छन्दतावाद के अर्थ से करते हैं।

डा० नगेन्द्र छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह मान चुके हैं। आजकल वे छायावाद को स्थूल से हटकर सूक्ष्म का आग्रह कहना अधिक पसन्द करते हैं। खैर, उनकी दी हुई दोनों परिभाषाओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है; वस्तुतः वे एक ही हैं। स्थूल से हटकर सूक्ष्म का आग्रह करने का मतलब भी एक प्रकार से स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह हो ही गया। प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष, विरोध, विरोध ही है। इस परिभाषा में 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' शब्द अर्थ की दृष्टि से बहुत-कुछ अनि-

दिष्ट हैं और इसीलिये इन्हें बहुत कुछ व्यापक सिद्ध किया जा सकता है। काव्य के भाव पक्ष में इनका अर्थ होगा—रीतिकालीन भावों की मांसलता के स्थान पर उनका रेशमी परिधान और काव्य के कलापक्ष में इनका अर्थ होगा—काव्य के चिराचरित रूढ़ साधनों और उपादानों के स्थान पर नवीन पद्धति और प्रयोग। पर भाव पक्ष के बारे में डा० नगेन्द्र ने स्वयं यह कह दिया है कि "छायावाद के कवि की प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं से आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं"। इस अन्तःसाक्ष्य ने उनकी छायावाद की परिभाषा को बहुत-कुछ निर्दिष्ट कर दिया है। छायावाद में वे सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति नहीं मानते—इसका अर्थ है कि उनकी दृष्टि में छायावादी काव्य आध्यात्मिक नहीं है। यह बात छायावादी कवियों के अन्तःसाक्ष्य के विरुद्ध होने के कारण छायावाद की सीमा में भी अव्याप्त है क्योंकि निराला और महादेवी वर्मा—दोनों ने ही छायावाद को आध्यात्मिक अनुभूति का साहित्य सिद्ध किया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी छायावादी काव्यधारा में आध्यात्मिक अभिव्यक्ति स्वीकार की है। सामान्य से सामान्य आलोचक की भी यही राय है। डा० नगेन्द्र यहां अकेले पड़ जाते हैं। और "छायावाद के कवि की प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं से आई है"—इसका मतलब है कि रीतिकाल की शृंगारिकता का विरोध छायावाद नहीं करता बल्कि उसी को वह अन्तःकरण की कुण्ठा के साथ संयमपूर्वक कहता है। अर्थात् कहने की शैली का विरोध है, भाव-पक्ष का नहीं। यह कथनांश पहले कथनांश की भांति छायावाद की सीमा में अव्याप्त न भी हो पर स्वच्छन्दतावाद के तो व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ से भी यह छोटा पड़ता है। स्वच्छन्दतावाद का अर्थ है कि

यहाँ कोई भी बात स्वच्छन्द अन्तः प्रेरणा से कही जाती है—बिना किसी कुण्ठा या हिचकिचाहट के साथ कही जाती है। वस्तुतः तात्पर्य यह है कि स्वच्छन्दतावाद अन्तःस्थ अनुभूतियों के उद्वेलित अर्थ को यदि सांकेतिक, अप्रस्तुत या छायिक अभिव्यक्ति देना चाहता है तो वह किसी कुण्ठा के कारण या संयम के बाँध के कारण नहीं, बल्कि काव्य की एक प्रभावशालिनी पद्धति के कारण ही वह ऐसा करता है। स्वच्छन्दतावाद किसी भी प्रकार के बन्धन को नहीं मानता, उसका प्रतिपाद्य जिस प्रकार भी तीव्र और स्वाभाविक बन सके वही उसका विधि-विधान है। तभी तो स्वच्छन्दतावाद का अतिवादी रूप वह हो सकता है जिसे आचार्य वाजपेयी जी ने अत्यन्त अनियमित, असंयत और अराजकतापूर्ण प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने वाला कहा है। छायावाद की उपर्युक्त परिभाषा यहाँ तक नहीं आ पाती, वह शैली की कोमलता पर ही टंगी रह जाती है।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने जो छायावाद की स्वरूप-सम्प्राप्ति दी है वह कुछ और भी व्यापक है पर स्वच्छन्दतावाद की सीमाओं को वह भी नहीं ढँकती। सृष्टि के प्रति विस्मय की स्थिति, मानसिक अशान्ति का आभास और इष्ट की प्रकाश-प्राप्ति—ये तीन अवस्थायें छायावाद के स्वरूप का संगठन करने वाली वे मानते हैं। किन्तु ये तीनों ही तत्व उनके अनुसार सीमित हैं और सांस्कृतिक तथा मानवीय धरातल पर एक प्रकार की आध्यात्मिकता से परिवेष्टित हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि अपनी निगूढ़ अभिव्यक्तियों के कारण छायावाद प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक काव्य कहा जाता रहा है। पर स्वच्छन्दतावाद में उपर्युक्त तीनों दशाओं के रहते हुए भी आध्यात्मिकता

की कोई पाबन्दी नहीं है। आजकल जो नवीन ढंग का काव्य अपनी किशोर अवस्था में चल रहा है और छायावाद के अव्यवहितोत्तर काल से ही चल रहा है, उसमें सृष्टि के प्रति ही नहीं स्वयं आत्मतत्व के प्रति भी विस्मय की स्थिति है। वैयक्तिक मानसिक अशान्ति के साथ-साथ सामाजिक अशान्ति का आभास भी उसमें है। इष्ट के प्रकाश के साथ-साथ विश्वजनीन प्रकाश की प्राप्ति का संदेश भी उसमें है। नितान्त उदीयमान कवियों की बात हम न भी कहें, किन्तु श्री रामधारी सिंह दिनकर जी का साहित्य न तो छायावाद से अलग काटा जा सकता है और न छायावाद की ही सीमा में जबर्दस्ती ठोका जा सकता है। वह आधा छायावादी है और आधा छायावाद से बाहर प्रगतिवादी किन्तु सम्पूर्ण ही स्वच्छन्दतावादी है—यह कहा जा सकता है। छायावाद की जिस विशेष पद्धति के कारण प्रसाद जी छायावाद के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार हैं, उसे ध्यान में रखकर दिनकर जी को केवल छायावादी कवि कहने में हिचक होती है क्योंकि इससे उनके पूरे व्यक्तित्व का आकलन नहीं हो पाता जो कि किसी भी साहित्यकार के प्रति बज्रलेप अत्याचार है। किन्तु प्रसाद और दिनकर—दोनों को हम सामान्यतः स्वच्छन्दतावादी कवि कह सकते हैं। इसका स्पष्ट मतलब है कि इस युग की मूल प्रवृत्ति स्वच्छन्दतावादी है और छायावाद उसकी एक सबल धारा है।

निष्कर्ष यह है कि हिन्दी में साहित्य की अन्तर्मुखी चेतना का आरम्भ, जिसे हम स्वच्छन्दतावाद कहते हैं, छायावादी कवियों से होता है जो अपनी एक विशिष्ट पद्धति रखते हैं। वह छायिक पद्धति अपना प्रौढ़ रूप ले चुकी है। स्वच्छन्दतावाद की छायावादी सीमा में अब दूसरे जयशंकर प्रसाद पैदा नहीं हो

सकते किन्तु उसी की (स्वच्छन्दतावाद की) आगे सम्भावित शैलियों में दूसरे जयशंकर प्रसाद और भी बड़े हो सकते हैं। यह सम्भावना इसलिये विश्वसनीय है कि हिन्दी का रीतिकालोत्तर साहित्य अपनी अन्तर्मुखी चेतना की पराकाष्ठा पर अभी नहीं पहुँचा। और पराकाष्ठा क्या, सम्भवतः वह अपनी आधी यात्रा भी अभी पूरी नहीं कर पाया। यह बहुत-कुछ सम्भाव्य है कि एक अर्धशतक के बाद आने वाले आलोचक इस लम्बी धारा को, जिसे हम स्वच्छन्दतावाद कह रहे हैं और जिसके भीतर छायावाद जैसी काव्य-धाराओं को अन्तर्भूत कर रहे हैं, किसी दूसरे ही नाम से पुकारें पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह साहित्य कवियों की अन्तर्मुखी चेतना का परिणाम है और इसीलिये अनेक कड़ियाँ रखते हुए भी भविष्य में किसी एक ही लम्बी श्रृंखला के रूप में स्मरणीय रहेगा।

४

आलोचना की चेतना अन्तर्मुखी हो या बहिर्मुखी, वह काव्य के स्थूल पिण्ड शब्दार्थ से ही प्रारम्भ होती है क्योंकि साहित्यालोचक के सामने सबसे पहले शब्दार्थ पिण्ड ही उपस्थित रहता है। किन्तु आलोचना की अन्मुखी चेतना का पर्यवसान, शब्दार्थ पिण्ड, उसके साधन-प्रसाधनों और व्यापारों में न होकर उसकी अन्तरात्मा में बरतने वाले सौन्दर्य एवं रस भावादि में होता है जब कि बहिर्मुखी चेतना का पर्यवसान आन्तरिक सौन्दर्य और रसभावादि से परिचय करता हुआ भी शब्दार्थ पिण्ड, उसके साधन-प्रसाधनों और व्यापारों में होता है। अन्तर्मुखी चेतना व्यक्त शब्दार्थ पिण्ड से चलकर उसके अन्तःपक्ष में रमण करती है और बहिर्मुखी चेतना अन्तःपक्ष से परिचय करके भी व्यक्त शब्दार्थ की ओर लौट आती है। साहित्याचार्यों की इस अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी आलोचनाओं का इतिहास भारतीय सहित्य में बड़े मजे का मिलता है। आलोचना में बहिर्मुखी चेतना का आग्रह करने वाले अलंकार-संप्रदाय कहलाते हैं और अन्तर्मुखी चेतना का आग्रह करने वाले अलंकार्य-सम्प्रदाय। शुद्धालंकार संप्रदाय रीति संप्रदाय या गुण संप्रदाय और वक्रोक्ति संप्रदाय—ये तीन अलंकार-संप्रदाय है। रस संप्रदाय ध्वनिसंप्रदाय और औचित्य संप्रदाय—ये तीन, अलंकार्य संप्रदाय हैं। साहित्य के क्षेत्र में इन सभी को शास्त्रीय रूप प्राप्त हो चुका है। अतः ये सभी अलंकारशास्त्र या साहित्य-शास्त्र के नाम से पुकारे जाते हैं।

इन सम्प्रदायों की बुनियादी व्याख्या करने से पहले यह स्पष्टीकरण बहुत आवश्यक है कि अलंकारपक्ष और अलंकार्य पक्ष का जो अर्थ है वही क्रमशः अलंकार सम्प्रदाय और अलंकार्य संप्रदाय का नहीं है। अलंकारपक्ष का मतलब है जिसमें अलंकार की स्थिति प्रधान और अलंकार्यकी स्थिति गौण हो। उसी प्रकार अलं कार्य पक्षका अर्थ है जिसमें अलंकार्य की स्थिति प्रधान और अलंकार की स्थिति गौण हो किन्तु इन दोनों के क्रमशः विपरीत अलंकार सम्प्रदाय का तात्पर्य है वह सम्प्रदाय जिसमें अलंकार की स्थिति नहीं अलंकार की मान्यता (उसके यहां जिस रूप में भी है) प्रधान हो और अलंकार्य की स्थिति नहीं, अलंकार्य की मान्यता गौण हो। उसी प्रकार अलंकार्य-संप्रदाय का मतलब है वह संप्रदाय जिसमें अलंकार्य की स्थिति नहीं, अलंकार्य की मान्यता प्रधान हो और अलंकार की स्थिति नहीं, अलंकार की मान्यता गौण हो। इसका फलितार्थ यह हुआ कि एक ही पद्य को अलंकार सम्प्रदाय वाला यथास्थिति अलंकार की मान्यता से स्वीकार करेगा और अलंकार्य सम्प्रदाय वाला यथास्थितिअ लंकार्य की मान्यता से। यह प्रायः नहीं हो सकता कि अलंकार्य सम्प्रदाय वालों की दृष्टि से जो उत्कृष्ट पद्य है वह अलंकार-सम्प्रदाय वालों के यहां अपकृष्ट सिद्ध हो जाय अथवा जो पद्य अलंकार संप्रदाय में उत्कृष्ट समझा जाता है वही अलंकार्य-सम्प्रदाय में निकृष्ट ठहरे। कालिदास को दोनों ही सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करते हैं। पीछे इसी परिच्छेद के दूसरे प्रकरण में हमने अलंकार पक्ष और अलंकार्य पक्ष की अभ्यांतर सीमाओं से उत्तम, मध्यम और अधम काव्यों की श्रेणियाँ अलंकार्य सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से दी हैं। पर यदि हम अलंकार-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से भी विचार करें तो उन श्रेणियों में कोई विशेष अन्तर आने वाला नहीं है।

ऐसा क्यों ? इसका समाधान उन दोनों प्रकार के सम्प्रदायों की अलंकार-विषयक और अलंकार्य-विषयक मान्यताओं में मिलेगा और उन मान्यताओं का परिणाम उन्हीं सम्प्रदायों के द्वारा स्वीकृत काव्य की स्वरूप-सम्प्राप्तियों में स्पष्ट होगा। यही उन दोनों प्रकार के सम्प्रदायों की कारण-व्याख्या और कार्य-व्याख्या होगी। और भी स्पष्ट शब्दों में कारण-व्याख्या का मतलब है उन कारणों की व्याख्या जिनके आधार पर ये दोनों सम्प्रदाय परस्पर विभिन्न हैं और कार्य-व्याख्या का मतलब है उन कार्यों की व्याख्या जो उक्त सम्प्रदायों की मान्यता के परिणाम हैं। इसी का विवेचन प्रस्तुत है।

अलंकार्य-सम्प्रदाय वाले व्यङ्ग्यत्रयी (रसभावादि, वस्तु-ध्वनि, अलंकार ध्वनि) को ही आत्मस्थानीय मानते हैं, प्रधान मानते हैं, अलंकार्य मानते हैं। इनके तीन सम्प्रदाय हैं—१ रस-सम्प्रदाय, २—ध्वनि-सम्प्रदाय और ३—औचित्य सम्प्रदाय। पहले रस सम्प्रदाय को लिया जाय। इस सम्प्रदाय की साहित्यिक ऋचा भरत मुनि का यह सूत्र है—

"विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

इसका शब्दार्थ है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव दो प्रकार के होते हैं। १—आलम्बन और २—उद्दीपन। जिसके आलम्बन से भाव उद्बुद्ध होता है वह आलम्बन विभाव है। जैसे—नायक-नायिका आदि। उद्बुद्ध भाव को उद्दीप्त करने वाला उद्दीपन विभाव होता है। इसके भी दो रूप हैं—१—आलम्बन-गत और २—आलम्बन बहिर्भूत। आलम्बनगत उद्दीपन के भीतर नायक-नायिका की चेष्टायें आती हैं और आलम्बन-बहिर्भूत उद्दीपन के

भीतर एकान्तस्थान, बसन्त, चाँदनी आदि-आदि हैं। उद्बुद्ध और उद्दीप्त भावों में आश्रय की जो चेष्टायें होती हैं वे अनुभाव हैं और उद्बुद्ध और उद्दीप्त भाव को जो अपने मीलनोन्मीलन से तीव्र बनाते हैं वे अस्थायी भाव व्यभिचारी या संचारी नाम से प्रसिद्ध हैं। ये व्यभिचारी इसलिए कहे जाते हैं कि ये किसी रस-विशेष में नियत नहीं हैं। एक ही व्यभिचारी भाव कई रसों में काम कर सकता है और अनेक व्यभिचारी भी एक ही रस में उपस्थित हो सकते हैं। विशेष रूप से अभिचरण करने के कारण भी इन्हें व्यभिचारी कहा जा सकता है। शृङ्गार के उदाहरण में इन सब बातों का स्पष्टीकरण इस प्रकार होगा।

मान लीजिए नाटक में कण्व ऋषि के आश्रम में अपनी सखियों के साथ वृक्ष-सेचन करती हुई शकुन्तला को राजा दुष्यन्त लतावेष्टित तरु-गुल्मों की आढ़ से छिपकर देख रहा है। इस समय दुष्यन्त के रतिभाव का आलम्बन शकुन्तला है। दुष्यन्त रतिभाव का आश्रय कहलायेगा क्योंकि उसके साथ सामाजिक का तादात्म्य हो रहा है। तत्कालीन शकुन्तला की चेष्टायें और वार्तायें जो दुष्यन्त को उद्देश्य बनाकर नहीं कही गई, आलम्बन-गत उद्दीपन हैं और आश्रम की प्राकृतिक सुषमा आलम्बन-बहिर्भूत उद्दीपन हैं। किन्तु दुष्यन्त की तत्कालीन संकल्प-विकल्प और चेष्टायें जो कि उसके सम्मुख प्रकट होने पर भी चलती हैं साभिप्राय हैं और इसीलिए वे अनुभाव कहलायेंगी। चापल्यादि संचारी भाव रहेंगे और तब कहीं जाकर शृङ्गार-रस का स्वरूप उपस्थित होगा।

यहाँ इतना और समझना चाहिये कि नायक-नायिका में से जिस-किसी के भाव का उद्बुद्ध होना दिखाया जायगा वही सामाजिक के लिये आश्रय होगा और उसकी साभिप्राय चेष्टायें

अनुभाव कहलायेंगी। नायक-नायिका में से जिस-किसी के कारण, भाव उद्बुद्ध होगा वह सामाजिक की दृष्टि से आलम्बन कहलायेगा और उसकी सामान्यतः चेष्टायें उद्दीपन विभाव के भीतर आयेंगी। इस दृष्टि से यह आवश्यक नहीं है कि काव्य में दुष्यन्त ही आश्रय कहलाये और शकुन्तला आलम्बन ही। नहीं, शकुन्तला भी आश्रय हो सकती है और दुष्यन्त भी आलम्बन हो सकता है। कण्व के आश्रम में ही सखियों के सामने दोनों का पूर्ण परिचय होने पर सामाजिक की दृष्टि में दुष्यन्त के उद्देश्य से शकुन्तला को भी रतिभाव उद्बुद्ध होता है इसलिये वह आश्रय है और उसका आलम्बन दुष्यन्त है। दुष्यन्त की अनेक वीरमयी स्वाभाविक चेष्टायें जो वस्तुतः शकुन्तला के उद्देश्य से न की जांय, आलम्बन-गत उद्दीपन-विभाव कहलायेंगी। दुष्यन्त को छोड़कर सखियों के साथ अनिच्छाभाव से जाती हुई शकुन्तला जान बूझ कर जो अपने वस्त्र तरु-लताओं में उलझाती चलती है और उसी बहाने मुड़कर दुष्यन्त की ओर बार-बार देख लेती है—ये आश्रय-गत साभिप्राय चेष्टायें अनुभाव हैं। लज्जा, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव होंगे और इस प्रकार विप्रलम्ब शृङ्गार की सामग्री उपस्थित हो जायगी। किन्तु नायक-नायिका के बीच यह आलम्बन-आश्रय का चक्र इतनी तेजी से और चिकनाई से चलता है कि सामाजिक के लिये इसकी सामयिक रेखा तो खींचना कठिन है ही, इस रूप में इन दोनों का पृथक्-पृथक् बोध होना भी सरल नहीं है।

उपर्युक्त भरत-सूत्र के आधार पर रससम्प्रदाय में दो बुनियादी प्रश्न है।

१—रस की निष्पत्ति कहाँ होती है और किस सम्बन्ध से होती है?

२—यह रस-निष्पत्ति किस रूप में होती है अर्थात् रस का स्वरूप क्या है ?

भारत के उपर्युक्त सूत्र की लगभग १३ व्याख्यायें आचार्यों ने की है पर विचारणीय केवल चार ही हैं। इन चारों व्याख्याओं के आचार्य हैं—भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त। इन विभिन्न व्याख्यान प्रवर्तक आचार्यों की एक बात सर्वसामान्य है कि ये किसी-न-किसी रूप में सामाजिक को रस-भोक्ता स्वीकार करते हैं। कौन, किस रूप में स्वीकार करता है और किस सम्बन्ध से स्वीकार करता है—यही इनका परस्पर मत-भेद है। भट्टलोल्लट कहता है—

"मुख्यया वृत्त्यारामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानोरसः"

अर्थात् सामाजिक को मुख्य रूप से तो रस की प्रतीति रामादि अनुकार्य में होती है पर उसके रूप का अनुसन्धान करने के कारण नट में भी उसे वह प्रतीत होता है। इस व्याख्या में दो दोष निकाले जाते हैं। पहला यह कि भट्टलोल्लट ने रस की स्थिति मुख्यतः रामादि अनुकार्य में स्वीकार की है, सामाजिक में नहीं। दूसरा यह कि उसने रामादि ऐतिहासिक पुरुषों को रस का भोक्ता कहकर प्रत्यक्ष लोक में रस को पटक दिया है जब कि संसार के प्रत्यक्ष सुख-दुःख रस नहीं हो सकते।

वास्तव में भट्टलोल्लट की व्याख्या के साथ संस्कृत के टीकाकारों ने भी अन्याय किया है और हिन्दी के आचार्यों का तो बहुत कुछ वही प्रामाणिक आधार रहा है। यदि हम भट्टलोल्लट की स्थिति में अपने को डालकर उसकी व्याख्या की मीमांसा करें तो एक भी दोष निकालना कठिन है। भट्टलोल्लट के सामने यह स्पष्ट था कि जब कोई सामाजिक किसी नाटक को देखता हुआ

रहता है तब उसके सामने दो पक्ष रहते हैं। पहला पक्ष अनुकार्य का है और दूसरा अनुकर्ता का। कवि का पक्ष तो यहाँ विचारना ही अप्रासङ्गिक है। द्रष्टा की एक दृष्टि तो ऐतिहासिक या कवि-निबद्ध दुष्यन्त-शकुन्तला पर रहती है दूसरी उनका अभिनय करने वाले नटों पर। नटों में जो उसे रस की प्रतीति होती है वह इसीलिये होती है कि वे उन ऐतिहासिक या कवि-निबद्ध पात्रों के प्रतिबिम्ब हैं जिन्हें वह मुख्य रूप से अपने सामने रक्खे हुए है अथवा अपनी कल्पना पर चढ़ाये हुए हैं। इसलिये रस की प्रतीति का पहला विषय अनुकार्य है और दूसरा अनुकर्ता। भट्टलोल्लट का स्पष्ट मतलब है कि रस की प्रतीति (सामाजिक को) इन दोनों में होती है। उसने यह कब कहा कि रस इन दोनों में रहता है ? दूसरे भट्टलोल्लट के 'मुख्यया वृत्त्या' शब्दोंका मतलब यह नहीं है कि रंगशाला से बाहर प्रत्यक्ष लोक में जो साक्षात् मनोविकारों की स्थिति दीखती है उसमें सामाजिक को रस की प्रतीति होती है। यह बड़ी सीधी सी बात है कि रंगशाला के भीतर सामाजिक चर्म-चक्षुओं से ऐतिहासिक दुष्यन्त-शकुन्तला को देखता ही कहाँ है और देख ही कैसे सकता है जो भट्टलोल्लट की व्याख्या में यह दोष निकाला जाय कि उसने रस की स्थिति प्रत्यक्ष लोक व्यवहारों में स्वीकार कर ली है। वस्तुतः रंगशाला के भीतर बैठा हुआ सामाजिक रस की प्रतीति मुख्य वृत्ति से उन ऐतिहासिक दुष्यन्त-शकुन्तला में समझे रहता है जो उस समय उसके संस्कारों के रूप में अथवा कल्पित रूप में उसकी अन्तर्दृष्टि के सामने बने रहते हैं। फलतः भट्टलोल्लट के 'अनुकार्य' शब्द का कवि-निबद्ध पात्र रूप अर्थ लिया जाय तब तो वह कवि के द्वारा कल्पित है ही पर यदि 'ऐतिहासिक व्यक्ति रूप अर्थ भी लिया जाय तब भी वह स्वयं सामाजिक के द्वारा कल्पित ही ठहरता है

और सच पूछा जाय तो दुगुना कल्पित ठहरता है क्योंकि सामाजिक की कल्पना भी उस प्रसिद्ध कथानक के अनुसार ही काम करेगी जो प्राचीन कवियों अथवा इतिहासकारों के द्वारा कल्पित और संस्कारारूढ़ है। हाँ यदि कथानक और उसके पात्र नितान्त नवीन हैं और सामाजिक के लिये बिल्कुल अपरिचित है तब तो सामाजिक अपने जीवन के ही तत्सदृश संस्कारों की सहायता से अभिनेताओं और अभिनीत कथानक के आधार पर ही उनके समानान्तर कविनिबद्ध अनुकार्य पात्रों और कथानक की कल्पना करता चलेगा क्योंकि जो कुछ भी नाटक में दृश्य है उसका कवि सृष्टि के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव रहता है। सादृश्य-मूलक कल्पना होती है—इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। मूल बात यह है कि भट्टलोल्लट का अनुकार्य किसी भी दृष्टि से देखा जाय वह काल्पनिक ही ठहरता है। और अनुकार्य में रस की प्रतीति मानने का मतलब है कि भट्टलोल्लट काल्पनिक वस्तु में रस-प्रतीति मानता है। डा० नगेन्द्र ने शङ्कुक के इस आक्षेप का उत्तर तो 'आज के आलोचक' के रूप में दे दिया कि जिन नायक-नायिकाओं को हमने चर्म-चक्षुओं से देखा ही नहीं उनके भीतर रसास्वादन की अनुभूति हमें कैसे हो सकती है और इसके लिए उन्होंने सामाजिक के भीतर कल्पना-तत्व मान लिया किन्तु इससे पहले वे भट्टलोल्लट के सिर पर यह दोष स्वयं मढ़ चुके थे कि "इस प्रकार (भट्टलोल्लट के यहाँ) कल्पित पात्र और घटना वाले उपन्यास, कथा, आख्यायिका आदि के रसास्वादन का कोई समाधान नहीं रह जाता"। यहाँ भी उन्हें सामाजिक की कल्पना का ध्यान आ जाता तो अच्छा था।

भट्टलोल्लट किस सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति सामाजिक में मानता है—यह बात दोष की अपेक्षा ऐतिहासिक महत्व अधिक

रखती है। रस-सिद्धांत पर अन्तिम शब्द कहने वाले आचार्य अभिनव गुप्त को उद्धृत करते हुये मम्मटाचार्य ने लिखा है कि रस लौकिक-अलौकिक उभय-बिलक्षण है। उपचारवृत्ति से उन्होंने रस को उत्पन्न भी माना है—"चवर्णा निष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्"। वामनाचार्य ने इसकी टीका करते हुए लिखा है कि—"चर्वणोत्पत्तिमादाय रसस्योत्पत्ति व्यवहार इत्यर्थः"। इससे सिद्ध होता है कि औपचारिक ढंग से ही सही पर उत्पाद्योत्पादक भाव रूप सम्बन्ध भी रस के दीक्षान्त आचार्य मानते हैं। भट्टलोल्लट ने मीमांसक होने के नाते पहले इसी सम्बन्ध से रस-निष्पत्ति स्वीकार की थी इसलिये इस विषय में भी उसका ऐतिहासिक महत्व मानना पड़ेगा। भट्टलोल्लट के बाद रस-सिद्धांत पर बहुत-कुछ निश्चित और पूर्ण-रूप से कहा गया—यह ठीक है, किन्तु भट्टलोल्लट ने जो कुछ कहा था वह आज भी अग्राह्य नहीं है।

भरत-सूत्र के द्वितीय व्याख्याता श्री शङ्कुक हैं। ये नैय्यायिक हैं और इसलिये रस-सिद्धान्त में भी इन्होंने न्याय के फौरमूले लगाये हैं।

शङ्कुक के रस-सिद्धान्त में जो बुनियादी दोष निकाला जा सकता है वह यह है कि उसने रस को अनुमाप्य-अनुमापक भाव रूप सम्बन्ध से अनुमीयमान या अनुमिति सिद्ध किया है। इसमें अड़चन यह है कि अनुमान का सम्बन्ध मन की शुद्ध ज्ञानात्मक प्रक्रिया से है, भावात्मक प्रक्रिया से नहीं और रस भाव-क्षेत्र की वस्तु है। किन्तु शंकुक इस बात को न जानता हो—ऐसी बात नहीं है। उसके ये शब्द इसके प्रमाण हैं:—"गम्यगमकभाव रूपादनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमान विलक्षणः..."। उसकी स्पष्ट धारणा है कि अनुमीयमान होते

हुए भी स्थायीभाव अन्य शुद्ध ज्ञान के क्षेत्र की वस्तुओं से इसलिये विलक्षण है कि उसमें वस्तुसौन्दर्य के कारण मानसिक चर्वणा चलती है और रसनीयता या रसास्वादन उपस्थित हो जाता है। शंकुक कहना चाहते हैं कि न्याय-शास्त्र का जो अनुमान है उससे इस सिद्धान्त का अनुभान बहुत विलक्षण है। न्यायशास्त्र के प्रसिद्ध उपादान—सम्यक् ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय, सादृश्य आदि की प्रतीतियों से विलक्षण चित्र-तुरग-न्याय से जो नट-नटी को नायक-नायिक समझ कर सामाजिक रसोन्मुख होता है—यह भी इसी बात की पुष्टि करता है कि शङ्कुक रस-क्षेत्र की प्रत्येक सीमा में वैलक्षण्य सिद्ध करना चाहते हैं। और जब यही बात है तो शंकुक की केवल इतनी ही कमी रह जाती है कि उन्हें रस-क्षेत्र में इस भ्रमोत्पादक 'अनुमान' शब्द का व्यवहार न करके किसी अन्य शब्द का प्रयोग करना चाहिये था। उनके शब्द न्याय-शास्त्र के हैं पर प्रतिपाद्य साहित्य है—यही मूल असंगति उनके रस-सिद्धान्त की है।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि शंकुक ने स्थायीभाव और रस में कोई भेद नहीं माना। यह चिन्त्य है। शंकुक के अक्षर हैं—"रत्यादि भावैस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रसः"। अर्थात् नट-नटी में वस्तुतः न रहता हुआ भी जो सामाजिकों के द्वारा अनुमित या सम्भावित है वह स्थायी भाव है पर वही जब सामाजिक की मानसिक चर्वणा पर पहुँच जाता है तब रस कहलाता है। अनुमित होने और चर्वित होने का भेद स्पष्ट ही है।

आज के सौन्दर्य-चेता युग के लिये शङ्कुक ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही थी जिसे हम रस-सिद्धान्त के पीछे भुला नहीं

सकते। उसके उत्तर हैं कि—"वस्तु-सौन्दर्यबलात्—" अर्थात् वस्तु-सौन्दर्य की मूल स्थिति रस में कारण है। दूसरे शब्दों में कहना चाहिये कि शंकुक के यहां सौन्दर्य विषय-गत (औब्जैक्टिव) है पर सौन्दर्यानुभूति विषयि-गत (सब्जैक्टिव) और रस-पर्यवसायी है। आज रस-सिद्धान्त के सामने जो सौन्दर्यानुभूति को बांह पकड़ कर खड़ा किया जाता है—इसका अर्थ यह नहीं है कि सौन्दर्यानुभूति रसानुभूतिसे बिरोध खाती है, बल्कि यह मतलब है कि सौन्दर्यानुभूति रसानुभूति की ही पहली पीठिका है जिस पर आज के स्वच्छन्दतावादी कवियों की अधिक भीड़ लगी हुई है।

भारत-सूत्र के तीसरे विख्यात व्याख्याता सांख्याचार्य भट्टनायक हैं। इनके रस-सिद्धान्त का सारांश यह है कि साहित्य में अभिधा से आगे दो शब्द-व्यापार और होते हैं जो क्रमशः भावकत्व और भोजकत्व हैं। अभिधा के द्वारा अभिधेयार्थ का बोध होने पर सामाजिक विभावादि और रत्यादि भाव की साधारणत्वेन भावना करता है अर्थात् रत्यादि भाव का न तो कोई आलम्बनादि ही विशेष या वैयक्तिक रह जाता है और न उसका कोई आश्रय ही। रंगशाला में शकुन्तला एक साधारण और सर्व सुलभ स्त्री मात्र रह जाती है और सभी सामाजिक अपने आप को दुष्यन्तसे भिन्न नहीं पाते। इस प्रकार साधारणीकरणात्मक भावकत्व व्यापार की महिमासे लज्जा-संकोच जैसे प्रत्यक्ष लौकिक भावों की निवृत्ति हो जाती है और सत्वप्रधान स्थिति का उदय होता है। इसी समय द्रष्टा सामान्य रत्यादिभाव का आस्वाद या भोग 'भोजकत्व' नामक व्यापार से करता है। फलतः भट्टनायक के अनुसार भरत के सूत्र में 'रस-निष्पत्ति' का मतलब है रस-भुक्ति और 'संयोगात्' का मतलब है—भोज्य भोजकत्व रूप व्यापार स्पष्ट है कि भट्टनायक न तो भट्टलोल्लट के समान सामाजिक के

लिये रस की प्रतीति, कविनिबद्ध पात्र और अभिनेता में मानता है और न शंकुक के समान कवि निबद्ध पात्र में नट-नटी के माध्यम से अनुमित मानता है। वह अवश्य ही सामाजिक के हृदय में रस की स्थिति मानता है पर ध्वनिकार की भांति उसकी अभिव्यक्ति न मानकर उसकी भुक्ति स्वीकार करता है। यह कोई विशेष अन्तर की बात नहीं है; दोनों के यहां रस के विषयि-गत (सब्जैक्टिव) होने का स्पष्ट अभिधान है। भट्टनायक का रसशास्त्र में सबसे बड़ा अनुदान उसका साधारणीकरण व्यापार है जिसके बल पर साहित्य में लोक-सामान्य भावभूति की स्थापना हो सकी। इसके ऊपर आज के कुछ आलोचकों ने बड़ा जम कर लिखा है जिनमें डा० नगेन्द्र का नाम प्रमुख है। किन्तु इस विषय में उनकी थोड़ी असावधानी के कारण मौलिकता के नाम पर कुछ मौलिक संभ्रान्तियाँ हो गई हैं। अतः यह आवश्यक है कि उन्हें दूर करते हुए संस्कृत के आचार्यों द्वारा स्वीकृत और शुक्ल जी द्वारा अनुमोदित साधारणीकरण का स्पष्टीकरण कर दिया जाय।

डा० नगेन्द्र ने सबसे पहले शुक्लजी द्वारा परिभाषित साधारणीकरण का उपन्यास किया है और कहा है कि "इस प्रकार साधारणीकरण से शुक्ल जी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है।" भट्टनायक और अभिनव गुप्त के साधारणीकरण पर बोलते हुए उन्होंने कहा है कि इन दोनों ने शब्दभेद से स्थायिभाव तथा विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है। इससे आगे उन्होंने क्रमशः आश्रय के साथ, नायक के साथ और आलम्बन के साथ सामाजिक के साधारणीकरण का खण्डन करते हुए अन्त में लिखा है कि—"साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है, अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्ति करता है कि वह सभी के

हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (लेखक की अनुभूति) से तादात्म्य करते हैं।.........हम राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही तादात्म्य कर पायेंगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगा पर अमिश्रित शृङ्गार की नहीं (तुलसी की सीता के प्रति श्रद्धामिश्रित रति होने के कारण)। इसके विपरीत कुमार सम्भव या रीतिकालीन राधाकृष्ण प्रेम-प्रसङ्गों को पढ़कर यदि हमें अमिश्रित शृङ्गार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीतियुग के कवि की तद्विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उनमें कोई मानसिक ग्रन्थि न थी। यह सीधा सत्य है जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनव गुप्त, भारत की अव्यक्ति-गत (कवि के व्यक्तित्व की अस्वीकृति-परक) काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तु-परक दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाये।"

इसके उत्तर में सूत्र-रूप से तो इतना ही कहना चाहिये कि प्राचीनाचार्यों के द्वारा उपस्थापित साधारणीकरण का सिद्धान्त बिल्कुल निर्भ्रान्त है और शुक्ल जी ने भी इस विषय पर जितना कहा है वह भी अतिस्पष्ट है। जरूरत केवल इस बात की है कि हम इन लोगों के सिद्धान्त समझने में जल्दीबाजी न करें।

प्राचीन आचार्यों ने रस के प्रकरण में आलम्बन, आश्रय और सामाजिक — ये तीन ही व्यक्तित्व स्वीकार किये हैं। कवि का व्यक्तितत्व उन्होंने स्वीकार नहीं किया—यह डा० नगेन्द्र का मूल-भूत आक्षेप है। शुक्लजी को भी उन्होंने उसी परम्परा में

प्राचीन आचार्यों का पृष्ठपोषक सिद्ध किया है। और उन्होंने जो अपनी ओर से नई बात समझ कर कही है वह यही तो है कि रस के प्रकरण में वे कवि के व्यक्तित्व को ले आये हैं और उसकी (कवि की) अनुभूति के साथ सामाजिक का तादात्म्य करके साधारणीकरण को निर्दोष सिद्ध करते हुए से जान पड़ते हैं। कवि की अनुभूति के साथ साधारणीकरण माना जाय या न माना जाय—इस पर तो पीछे विचार करेंगे, पहली बात तो यही है कि कवि शुद्ध रूप से रस के प्रकरण में आ ही नहीं सकता और न उसे वहाँ घसीटने की कोई आवश्यकता ही है। रस के प्रकरण में यदि कवि आता है या दूसरे शब्दों में उसकी वहाँ आवश्यकता होती है तो वह आश्रय के रूप में ही पाया जाता है, केवल कवि के रूप में कभी भी नहीं। इसे उदाहरणों में देखने के लिये तीन ही अवस्था हो सकती हैं। एक अवस्था तो वह है जहाँ कवि ने स्वतन्त्र रूप से आलम्बन और आश्रय दे दिये हैं। शृङ्गार-रस के प्रकरण में जब रङ्गमञ्च पर शकुन्तला और दुष्यन्त, आलम्बन और आश्रय के रूप में मौजूद हैं तब सामाजिक को कवि की कोई आवश्यकता ही नहीं है। आलम्बन का साधारणीकरण हो जायगा और आश्रय के साथ सामाजिकों का तादात्म्य। डा० नगेन्द्र ने इस अवस्था का उदाहरण सीता-राम का दिया है और यह अड़चन पेश की है कि जगज्जननी सीता सबकी स्त्री नहीं हो सकती इसलिये कवि की अनुभूतियों के संवेद्य रूप सीता का साधारणीकरण होगा जिसका मतलब है कवि की अनुभूतियों के साथ साधारणीकरण होना। यह अजीब बात है। क्या ऐसा भी कोई आलम्बन या आश्रय हो सकता है जो कवि की अनुभूतियों का संवेद्य रूप न हो? नहीं हो सकता तो जिस रूप में कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण

होगा उसी रूप में उन अनुभूतियों के संवेद्यरूप आलम्बन का भी साधारणीकरण हो सकता है। सीतारूप आलम्बन में जगज्जननीत्व की प्रतिष्ठा कोई अलग से तो चली न आयेगी; यदि कवि की अनुभूतियों में वह है तो उनके संवेद्यरूप सीता पात्र में भी वह अनिवार्य रूप से रहेगी, अन्यथा नहीं। तब फिर कौन सी अड़चन है कि कवि की अनुभूतियों के संवेद्य रूप पात्र का साधारणीकरण न मान कर उसकी उन्हीं अनुभूतियों का साधारणीकरण माना जाय जिनका संवेद्यरूप वह पात्र है? कोई अड़चन नहीं है तो फिर कवि के व्यक्तित्व को वहाँ घसीटने की आवश्यकता ही क्या है जब उसने यथाआवश्यक अपनी अनुभूतियों का संवेद्य रूप, पात्र के आकार में अलग से चित्रित कर दिया है?

दूसरी अवस्था के लिए हम डा० नगेन्द्र का ही उदाहरण पेश कर रहे हैं ताकि उसका खण्डन अलग से न करना पड़े। सीता पर क्रोध करते हुए रावण का उदाहरण उन्होंने दिया है और कहा है कि यहाँ रावण के साथ सामाजिक का तादात्म्य नहीं हो सकता, इसलिए रावण रूप आश्रय का साधारणीकरण न मानकर कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण मानना पड़ेगा। यह बिल्कुल असम्बद्ध बात है। तादात्म्य होना साधारणीकरण की कसौटी नहीं है, आश्रय की है, अर्थात् सामाजिक का जिसके साथ तादात्म्य होता है वह आश्रय कहलाता है, साधारणीकरण का विषय नहीं। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए पूछना चाहिए कि सीता पर क्रोध करते हुए रावण के साथ सामाजिक का कुछ भी तादात्म्य होता है कि नहीं। यदि कुछ भी तादात्म्य हो जाता है या तादात्म्य का आभासमात्र भी हो जाता है तब तो रावण भी आश्रयाभास सिद्ध हो जाता है

जिसका मतलब है कि उक्त उदाहरण रसाभास का है। और यदि रावण के साथ लेशतोऽपि तादात्म्य नहीं होता और कवि के साथ होता है तो आश्रय कवि होगा न कि रावण। आश्रय किसी व्यक्ति का नाम नहीं है, वह भावों की गति के अनुसार सम्पन्न होता है। पीछे भरत के सूत्र का सामान्य अर्थ करते समय हमने लिखा था कि दुष्यन्त और शकुन्तला के बीच ही यह आलम्बन और आश्रय का चक्र चलता रहता है। भावों की गति के अनुसार कभी दुष्यन्त आलम्बन तो कभी शकुन्तला, उसी प्रकार कभी शकुन्तला आश्रय तो कभी दुष्यन्त। तात्पर्य यह है कि जिसके साथ जिस समय सामाजिक का तादात्म्य नहीं है उस समय वह आश्रय नहीं रह सकता। सीता पर क्रोध प्रदर्शित करते हुए रावण के साथ यदि सामाजिक का तादात्म्य नहीं होता तब वह आश्रय रहा ही कहाँ? वह तो उलटा अपने प्रति द्रष्टाओं के हृदय में क्रोध, घृणा जैसे भावों को उद्बुद्ध करने के कारण आवलम्बन बन जायेगा। ऐसी सृष्टि से कवि का उद्देश्य यह होता है कि पाठकों को अपने साथ खींच लिया जाय। उक्त उदाहरण में ही कवि का अप्रत्यक्ष उद्देश्य यह है कि रावण बड़ा अत्याचारी और दुष्ट है और फलतः उसका वध होना चाहिए। निःसन्देह कवि के इसी उद्देश्य का अनुमोदन करता हुआ पाठक कवि के साथ तादात्म्य करता है, अतः यहाँ भी कवि आश्रय के रूप में ही उपस्थित होता है शुद्ध कवि के रूप में नहीं।

यह बात प्रसंगात् समझ लेनी चाहिए कि आलम्बन विरुद्ध भाव का भी हो सकता है पर तादात्म्य समान भाव का भी सर्वत्र नहीं होता या आश्रय होने के लिए समान भाव होना भी पर्याप्त नहीं है। आखिर राम और रावण हमारे सामने क्या हैं—यह सोचने की बात है। राम एक अच्छे भावों की सृष्टि है

और रावण बुरे भावों की। दोनों का जब युद्ध होता है तो सामाजिक राम के साथ रहता है या राम के साथ तादात्म्य करता है रावण के साथ नहीं। किन्तु जो अच्छे भाव हमारे भीतर उद्बुद्ध होते हैं और जिनके कारण हम राम के साथ तादात्म्य करते हैं उनका आलम्बन अर्थात् उनके उद्बोधन में कारण तो रावण ही है जो बुरे भावों की सृष्टि है। इसका मतलब यह नहीं है कि क्रोध का आलम्बन क्रोध नहीं होता। होता है, किन्तु कोई स्थल ऐसा भी हो सकता है जहाँ क्रोध का आलम्बन केवल क्रोध न होकर उसके साथ कुछ और भी मिला हुआ हो या क्रोध के स्थान पर कोई दूसरा ही विरोधी भाव आलम्बन हो। राम-रावण के युद्ध में दोनों के क्रोध एक जैसी नहीं है। राम के क्रोध का आलम्बन केवल रावण का उनके प्रति क्रोध ही नहीं है बल्कि उसके साथ उसकी बुराइयाँ या बुरे भाव भी मिले हुए हैं। यह आलम्बन के रूप में मिश्रित क्रोध का उदाहरण है। सीता पर क्रोध करता हुआ रावण भी ऐसा ही आलम्बन है जो क्रोध मिश्रित है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ रावण का क्रोध राम के प्रति न होकर सीता के प्रति है। यदि रावण के क्रोध के प्रति सीता का क्रोध भी दिखा दिया जाय तब तो सामाजिकों का आश्रय सीता हो ही जायगी, किन्तु यदि कवि ऐसा न करे तब उसका कोई विशेष उद्देश्य होगा और ऐसी दशा में सामाजिक कवि के साथ चलेगा अर्थात् उसका तादात्म्य कवि के साथ होने के कारण वही उसका आश्रय होगा।

बिल्कुल अमिश्रित विरोधी भाव का आलम्बन भी देखा जा सकता है। किसी अबला पर बलात्कार करने के लिए प्रवृत्त किसी पात्र को देखकर यदि कोई दूसरा पात्र क्रुद्ध होता है और सहसा उसका बध कर देता है तो यह रौद्र-रस का उदाहरण

होगा जिसमें क्रोध का आलम्बन अनुचित रति है। रति भाव, क्रोध भाव का विरोधी आलम्बन है।

अब इसकी व्याख्या सुनिये कि—तादाम्य समान भाव का भी सर्वत्र नहीं होता या आश्रय होने के लिये समान भाव होना ही पर्याप्त नहीं है। समान भाव के साथ भी तादात्म्य उसी दशा में होता है—दूसरे शब्दों में समान भाव भी उसी दशा में आश्रय बन सकता है जब यह कार्य हो, कारण नहीं। कारण होना आलम्बन का धर्म है, कार्य होना आश्रय का। मान लीजिये रंग-मंच पर दुष्यन्त-शकुन्तला का परस्पर साक्षात्कार हो रहा है। दोनों की एक-दूसरे के प्रति रति है। किन्तु जिस समय जिसकी चेष्टायें रतिभाव के फल-स्वरूप कार्य रूप में प्रकट होंगी उस समय वही सामाजिक का आश्रय होगा या उसी के साथ सामाजिक का तादाम्य होगा और जिसकी रति या जो व्यक्ति दूसरे की तथाभूत चेष्टाओं के प्रति कारण होगा वह आलम्बन कहलायेगा। मतलब यह है कि शृङ्गार रस की स्थिति आने से पहले आलम्बन के भीतर भी रति की स्थापना करना अनिवार्य है किन्तु वह रति सामाजिक के रति नामक स्थायिभाव के उद्बोध में कारण होगी इसलिये भाव की समानता रहते हुए भी सामाजिक का उस आलम्बन के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता क्योंकि उन दोनों के भावों में एकजातीयता रहते हुए भी ऐसे कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध है जो समानाधिकरण से दूर पड़ता है। दूसरी ओर इसी आलम्बन के कारण जिस पात्र में रति की क्रियोन्मुखता या कार्योन्मुखता दिखाई जायगी वह सामाजिक का कार्य की दृष्टि से समानाधिकरणी और समानधर्मा भी होगा, इसलिये वही तादात्म्य का अधिकारी होगा अर्थात् आश्रय कहलायेगा। मोटे रूप में समझने के लिये यह कहना चाहिये कि सामाजिक का

उसी पात्र के साथ तादात्म्य हो सकता है या आश्रय वही कहला सकता है जो कार्य रूप में उसी भाव की समानान्तर व्यंजना या या पुष्टि करता है जो स्थायिभाव के रूप में आलम्बन के कारण सामाजिक के भीतर उद्‌बुद्ध हुआ रहता है

निष्कर्ष यह है कि सीता पर क्रोध करते हुए रावण के साथ यदि सामाजिक का तादात्म्य न होकर उसके कारण उलटा क्रोध जगता है तो रावण, आलम्बन कहलायेगा, न कि आश्रय जैसा कि डा० साहब समझे हुए हैं। दूसरी बात, यदि रावण के साथ दृष्टा का तादात्म्य न होकर कवि के साथ होता है तो कवि ही आश्रय के रूप में माना जायगा न कि आश्रय से भिन्न जैसा कि डा० साहब ने समझा था। क्योंकि सिद्धान्त है—जिसके साथ दृष्टा का तादात्म्य होता है वही आश्रय कहलाता है।

सीता पर क्रोध करते हुए रावण के उदाहरण की भाँति ही डा० साहब का पूँजीवादी नायक का उदाहरण भी है। उनकी शब्दावली यह है:—

"उदाहरण के लिये एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूंजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर पूंजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुंजीभूत कर देता है। परन्तु क्या आप उसके व्यक्तित्व तादात्म्य कर सकेंगे ?"

डा० साहब नायक के साधारणीकरण का खण्डन कर रहे हैं। नायक उन्होंने उपर्युक्त पूंजीपति को माना है। अब चूंकि उक्त पूंजीपति के साथ सामाजिक का तादात्म्य नहीं होता इसलिये उनका सिद्धान्त पक्ष है कि उपन्यासकार की अनुभूतियों के साथ तादात्म्य होने के कारण उन्हीं का साधारणीकरण मानना चाहिये। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ भी पूर्वोक्त संभ्रान्तियाँ ही

काम कर रही हैं। पूंजीवादी व्यक्ति नायक हो या प्रतिनायक— इसे हम नहीं कहते पर वह द्रष्टाओं के घृणा, क्रोध आदि भावों का आलम्बन है। फिर क्योंकि वह सामाजिकों के घृणा, क्रोध जैसे समान भावों का उद्बोध करने में कारण है इसलिये आल-म्बन होने के नाते उसका साधारणीकरण होता ही है। पर डा० साहब कहते हैं कि इस नायक का साधारणीकरण न होगा क्योंकि इसके साथ सामाजिकों का तादात्म्य नहीं होता। विचित्र फौरमूला है। इस प्रकार तो क्रूर प्रतिनायक रावण का भी जो कि क्रोध का आलम्बन है साधारणीकरण न होना चाहिये क्यों-कि सामाजिकों का तादात्म्य तो राम के साथ होगा, रावण के साथ नहीं। दूसरी बात यह है कि यहाँ डा० साहब आश्रय किसको मान रहे हैं—यह उन्होंने नहीं लिखा किन्तु उपन्यासकार की अनुभूतियों के साथ सामाजिकों का तादात्म्य होता है—इसे वे मान रहे हैं। यहाँ हम इतना ही निवेदन किये देते हैं कि उप-न्यासकार को या उसकी अनुभूतियों को आश्रय से पृथक् न समझा जाय। क्योंकि इसे घूम-घूम कर कहा जा रहा है कि जिसके साथ तादात्म्य होता है वही आश्रय कहलाता है।

अब तक दो दशाओं के उदाहरण दिये गये हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि रस के प्रकरण में यदि कवि आता है तो आश्रय के रूप में ही आता है इसलिये वहाँ आश्रय से अति-रिक्त कवि का व्यक्तित्व स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तीसरी दशा और शेष है जिसका उदाहरण प्रसाद जी का 'आँसू' रखा जा सकता है। यहां भी आलम्बन-रूप में कवि का प्रिय है और आश्रय-रूप में कवि स्वयं है। कहना न होगा कि यहां भी आश्रय से अलग कवि का व्यक्तित्व स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। फलतः रस के प्रकरण में जो प्राचीन

आचार्यों ने आश्रय से बाहर कवि का व्यक्तित्व नहीं समझा यह उनकी सूक्ष्मदर्शिता थी। हमारे ही अध्ययन कुछ मण्डूकप्लुति न्याय से चलते हैं।

अच्छा अब इस पर भी विचार कर लिया जाय कि यदि डा० साहब के अनुसार कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण मान लिया जाय तो कितनी असंगतियाँ सामने आयेंगी। सबसे पहला प्रश्न तो यही उठता है कि यावन्मात्र कवि की सृष्टि, चाहे आलम्बन हो चाहे आश्रय या और कुछ, सभी उसकी अनुभूतियों का रूप है; तब क्या कवि की इस सम्पूर्ण सृष्टि का ही साधारणीकरण माना जाय या इसमें से कुछ का। स्पष्ट है कि डा० साहब कवि की समस्त अनुभूतियों का साधारणीकरण नहीं मान सकते क्योंकि सीता पर क्रोध करता हुआ रावण और पूंजीवादी नायक के साधारणीकरण का उन्होंने तगड़े शब्दों में खण्डन किया है जो कि पात्र रूप में कवि की अनुभूतियों के ही प्रतीक हैं। इसका मतलब है कि डा० साहब कवि की कुछ ही अनुभूतियों का साधारणीकरण मानते हैं। अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि कुछ ही अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है तो वे कौन-कौन सी अनुभूतियाँ हैं अथवा उन्हें उस रूप में समझने की क्या कसौटी है? डा० साहब इसका उत्तर दे रहे हैं कि जिसके साथ सामाजिक का तादात्म्य हो उसी का साधारणीकरण माना जाय। यहीं मामला चौपट हो गया। क्योंकि क्रोध स्थायीभाव का आलम्बन क्रूर प्रतिनायक सभी सामाजिकों के साधारण रूप से क्रोध, घृणा आदि भावों का उद्बोधक होता है और इसीलिये उसका साधारणीकरण शास्त्रविहित है। शुक्ल जी के द्वारा दी गई साधारणीकरण की परिभाषा भी यहाँ अच्छी तरह घटती है।

"जब किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता है कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। विषय का इसी रूप में लाया जाना हमारे यहां साधारणीकरण कहलाता है।"

यहाँ क्रोध घृणा जैसे भावों का विषय क्रूर प्रतिनायक इस रूप में लाया गया है कि वह सामान्यतः सभी सामाजिकों के उसी भाव (क्रोध, घृणा) का आलम्बन या उद्बोधक बना हुआ है। पर डा० साहब के अनुसार यहां इस क्रूर प्रतिनायक का साधारणीकरण ही न होगा क्योंकि किसी भी सामाजिक का ऐसे क्रूर प्रतिनायक के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता। यह अव्याप्ति दोष है। अर्थात् जिसका सिद्धान्ततः साधारणीकरण होना चाहिए उसका भी साधारणीकरण डा० साहब के सिद्धान्त से नहीं हो पाता। यदि पात्र के साधारणीकरण से चिढ़ है तो यही बात इस प्रकार कही जा सकती है कि कवि की जिन अनुभूतियों का संवेद्य रूप वह क्रूर प्रतिनायक है उनका भी सामाजिकों से तादात्म्य न मिलने के कारण साधारणीकरण नहीं होगा जब कि सिद्धान्तः उनका साधारणीकरण होना चाहिये था।

और सचाई तो यह है कि डा० साहब के अनुसार तो आलम्बनमात्र का ही साधारणीकरण नहीं हो सकता। पीछे प्रतिपादित किया गया था कि आलम्बन-रूप में उपस्थित कवि की अनुभूति सामाजिकों के रत्यादिभाव के उद्बोध में कारण है इसलिये इन दोनों का ऐसा कार्यकारण भाव सम्बन्ध है जिसमें तादात्म्य नहीं माना जा सकता क्योंकि इन दोनों का परस्पर कार्य की दृष्टि से समानाधिकरण नहीं होता। कार्य की दृष्टि से सामाजिक का समानाधिकरण आश्रय के साथ चलता है। आश्रय के कार्य-कलाप चाहे वे व्यक्त हों अथवा अव्यक्त, सामाजिक की

भावना के साथ अनुमोदन पाते हैं या दूसरे शब्दों में आश्रय के द्वारा उन बातों की व्यंजना होती है जो सामाजिक की क्रियोन्मुखता के साथ अभेद रूप में एक ही दिशा में प्रस्थान करती हैं। सावधानी बरतने की बात है कि यदि रंगमंच पर आलम्बन के कार्यों के साथ सामाजिक की साथ-साथ यात्रा चल पड़े तो तत्काल समझना चाहिये कि आलम्बन, आलम्बन बिभाव नहीं रहा, आश्रय हो गया है और उसके कार्य उद्दीपन विभाव नहीं रहे अनुभाव हो गये हैं। नायक-नायिका के एक साथ चलते हुए प्रणय-व्यापार में यही एक बारीक कसौटी है जिसके आधार पर हम समझ सकते हैं कि किस समय कौन हमारे भाव का आलम्बन है और कौन आश्रय।

अच्छा यहाँ तक तो इतनी ही बात थी कि यदि डा० साहब का 'तादात्म्य' वाला फौरमूला माना जाय तो भाव की दृष्टि से न तो विजातीय आलम्बन का साधारणीकरण होगा और न सजातीय आलम्बन का। अब इससे आगे यह समझना चाहिये कि आश्रय का साधारणीकरण भी न होगा। क्योंकि आश्रय का साधारणीकरण मूलतः आलम्बन के साधारणीकरण पर ही निर्भर करता है जो डा० साहब के सिद्धान्त से सिद्ध ही नहीं हो पाता। आलम्बन का साधारणीकरण होना या आश्रय के साथ श्रोता का तादात्म्य होना—दोनों एक ही मतलब रखते हैं। यदि आलम्बन का साधारणीकरण हो जाय तब निःसन्देह श्रोता का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जायगा और तादात्म्य होने पर तो किसी का भी किसी के साथ साधारणीकरण हो जाता है इसलिये आश्रय के साथ साधारणीकरण भी स्वयं सिद्ध ही है। किन्तु यदि आलम्बन का ही साधारणीकरण न हुआ तो कोई तादात्म्य मूलक आश्रय ही नहीं बन सकता फिर उसके साधारणीकरण की

कौन कहे। उसी प्रकार यदि आश्रय के साथ तादात्म्य हो रहा है तो उसके साथ साधारणीकरण तो होगा ही साथ ही उससे यह भी स्वयं सिद्ध है कि आलम्बन का साधारणीकरण हो चुका है। इसलिये चाहे शुक्ल जी आलम्बन के साधारणीकरण की बात कहें, या कविराज विश्वनाथ आश्रय के साथ तादात्म्य-मूलक साधारणीकर पर विचार करें अथवा भट्टनायक और अभिनव गुप्त प्रकारान्तर से आलम्बन और आश्रय - दोनों के ही विषय में साधारणीकरण स्वीकार करें—सबका एक ही मतलब है। इसके लिये भी डा० साहब को परेशान न होना चाहिये। प्रकारान्तर केवल इतना है कि आलम्बन का साधारणीकरण विषय-मूलक होगा और आश्रय का साधारणीकरण तादात्म्य-मूलक। इसीलिये व्यवहार में यह कहा जाता है कि आलम्बन का साधारणीकरण होता है अथवा आश्रय के साथ साधारणीकरण होता है। किन्तु जैसा कहा जा चुका है कि विषय-मूलक साधारणीकरण या आलम्बन का साधरणीकरण पहले होता है और तादात्म्य-मूलक या आश्रय के साथ साधारणीकरण वाद में—इस दृष्टि से विषय-मूलक साधारणीकरण तादात्म्यमूलक साधारणीकरण में नित्य कारण है। फलतः यदि डा० साहब के फौरमूले के अनुसार विषय-मूलक (आलम्बनात्मक) साधारणीकरण सिद्धि नहीं होता तो तादात्म्य-मूलक (आश्रयात्मक) साधारणीकरण की भी सिद्धि नहीं हो सकती। और यदि आलम्बन, आश्रय आदि शब्दों की अपेक्षा उन्हें कवि की अनुभूतियों की बात अधिक पसन्द है तो कह लीजिये कि काव्य में कवि की जिन अनुभूतियों के प्रतीक आलम्बन, आश्रय आदि हैं उनके साधारणीकरण की सिद्धि डा० साहब के सिद्धान्तानुसार नहीं होती। अब समझ में नहीं आता कि काव्य में आलम्बन और आश्रय से अलग कौन सी अनु-

भूतियाँ कवि की रह जाती हैं जिनका साधारणीकरण डा० साहब के यहाँ होता है। यदि उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारिभाव आदि के विषय में सोचा जाय तो ये भी प्रत्येक दृष्टि से आलम्बन और आश्रय पर ही निर्भर करते हैं, उनके साधारणीकरण होने पर ही इनकी सत्ता है।

बात यह है कि जब डा० साहब कहते हैं कि साधारणीकरण केवल कवि की अनुभूतियों का होता है क्योंकि सामाजिक का तादात्म्य उन्हीं से है तब वे तादात्म्य-मूलक साधारणीकरण पर ही जोर देते हैं। तादात्म्य-मूलक साधारणीकरण मानना भी एक पक्ष से ठीक तो है – इसे हम कह ही चुके हैं किन्तु इसमें दो संभ्रान्तियाँ हो गईं जिनके कारण उनका सारा विवेचन ही असम्बद्ध हो गया। पहली तो यह हुई कि उन्होंने उसको भी आश्रय समझ लिया जिसके साथ सामाजिक का तादात्म्य नहीं हो पाता जब कि नियम यह है कि आश्रय वही होता है और उसी समय तक होता है जिसमें जब तक सामाजिक का तादात्म्य बना रहे। इस संभ्रान्ति के दो कुपरिणाम हुए—एक ओर तो वे सीता पर क्रोध करते हुए रावण को आश्रय ही समझे रहे जबकि वहाँ वह किसी क्रूर अत्याचारी प्रतिनायक की भांति सामाजिकों के क्रोध आदि भावों का आलम्बन हो जायगा, दूसरी ओर वे कवि को आश्रय से पृथक समझे रहे जबकि सामाजिकों का उसके या उसकी अनुभूतियों के साथ तादात्म्य होने पर वह या उसकी अनुभूतियाँ आश्रय के रूप में उपस्थित होंगी। दूसरी संभ्रान्ति यह हुई कि वे आलम्बन का साधारणीकरण परखने के लिये तादात्म्यमूलक साधारणीकरण की कसौटी लेकर चले जो कि आश्रय के साधारणीकरण की कसौटी थी। आलम्बन के साधारणीकरण की कसौटी विषय-मूलक है—इसका उन्हें ध्यान न

रहा। पर क्योंकि आलम्बन का साधारणीकरण न मानना डा० साहब की हिम्मत से बाहर था इसलिये यहाँ वे इसे गोल-मोल कर गये और सीता रूप आलम्बन को कवि की अनुभूतियों का एक संवेद्य रूप मान कर भी उन्होंने आलम्बन का साधारणीकरण न कह कर कवि की अनुभूतियों का ही साधारणीकरण स्वीकार किया क्योंकि सामाजिक का उनके साथ तादात्म्य हो जाता है। यह संभ्रान्ति ऐसी है जो निश्चयात्मक भी नहीं है इसलिये और भी भयंकर है। सोचने की बात है कि जब सीता रूप आलम्बन कवि की उन्हीं अनुभूतियों का संवेद्य रूप है जिनका साधारणीकरण डा० साहब मानते हैं तब इसमें क्या तुक है कि सीता-रूप आलम्बन का साधारणीकरण न माना जाय और कवि की अनुभूतियों का माना जाय ? यदि यह कहा जाय कि सीता रूप आलम्बन के साथ सामाजिकों का तादात्म्य नहीं होता इसलिये सीता का साधारणीकरण हम नहीं मानते तो सीता-रूप आलम्बन कवि की जिन अनुभूतियों का संवेद्य रूप है उनके साथ भी सामाजिकों का तादात्म्य नहीं हो सकता और फलतः उनका (कवि की उन अनुभूतियों का) भी साधारणीकरण नहीं माना जा सकता। और यदि यह कहा जाय कि सीता-रूप आलम्बन कवि की जिन अनुभूतियों का संवेद्य रूप है उनसे भिन्न जो कवि की अनुभूतियाँ हैं उनके साथ द्रष्टा का तादात्म्य होता है तब तो वे अनुभूतियाँ आलम्बन न होकर आश्रय सिद्ध हुईं और उनके साधारणीकरण का मतलब है आश्रय के साधारणीकरण की बात जो कि प्रकृत विषय आलम्बन के साधारणीकरण से दूर चली जाती है। और फिर इन आश्रय-भूत कवि की अनुभूतियों का संवेद्य रूप राम कवि ने अलग से ही आश्रय के रूप उपस्थापित कर रखा हो तो इसमें भी क्या तुक है कि आश्रय-भूत राम के साथ तादात्म्य और

तादात्म्य-मूलक साधारणीकरण न मानकर कवि की अनुभूतियों के साथ तादात्म्य और तादात्म्यमूलक साधारणीकरण माना जाय ?

उपर्युक्त संभ्रान्तियों और उनके कुपरिणामों पर विचार करने से यह बात बड़ी आसानी से समझ में आ जाती है कि डा० साहब कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण क्यों मान रहे हैं। उन्होंने समझा था कि आलम्बन, आश्रय और नायक जैसे पात्रों के साथ सामाजिक का तादात्म्य कहीं होता है और कहीं नहीं होता इसलिये कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण मान लेने से यह गड़बड़झाला समाप्त हो जायगा क्योंकि कवि की अनुभूतियों के साथ सामाजिक का सदा ही तादात्म्य होता है। किन्तु प्राचीन आचार्यों की इस मान्यता पर उनका ध्यान न पहुँचा कि कवि की जिन अनुभूतियों के साथ वे सामाजिक का सदा तादात्म्य समझ रहे हैं उन्हीं का नाम तो आश्रय है। कवि कभी तो इन अनुभूतियों को अपने से अलग किसी पात्र का चोला दे देता है और कभी इन अनुभूतियों के रूप में वह स्वयं ही उपस्थित हो जाता है। दोनों ही रूप आश्रय के हैं। कोई आश्रय हो और उसके साथ सामाजिक का तादात्म्य न हो रहा हो, उसी प्रकार जिसके साथ सामाजिक का तादात्म्य हो रहा हो और वह आश्रय न रहे—ये दोनों ही बात असम्भव हैं जिन्हें जल्दीबाजी में डा० साहब ने सम्भव समझ लिया। इसी प्रकार उनका ध्यान इस दूसरी बुनियादी मान्यता की ओर भी न गया कि आलम्बन का साधारणीकरण तादात्म्य-मूलक नहीं होता, विषयक-मूलक होता है। यदि आलम्बन के साधारणीकरण की कसौटी तादात्म्य मानी जायगी तो विधर्मी आलम्बन का ही नहीं किसी भी आलम्बन का साधारणीकरण असम्भव होगा

जिसके कारण आश्रय के साथ भी तादात्म्य-मूलक साधारणी-करण असम्भव हो जायगा।

अब इसके आगे साधारणीकरण पर पश्चिमीय ढंग से विचार करते हुए डा० साहब ने जो लिखा है, उसे भी सुनिये—

"अगर आप ऊब न गये हों तो आइये एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाय? साधारणीकरण कवि के लिये किस प्रकार सम्भव होता है? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? स्वदेशविदेश के पण्डितों ने इसके दो उत्तर दिये हैं—१—साधारणीकरण भाषा का धर्म है, २—साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है।"

यह भी कोई नई बात नहीं है। शब्दावली ही कुछ नई है। जहां तक इस संदर्भ में प्रश्नात्मक पूर्व पक्ष की बात है उसके लिये पीछे हमने देख ही लिया कि यदि कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण माना जाय तो कितनी परेशानी है। और डा० साहब के अनुसार तो कवि की प्रकरण-सम्बद्ध सभी अनुभूतियों का साधारणीकरण होता भी नहीं है क्योंकि उनके यहां साधारणी-करण की कसौटी तादात्म्य ही है जो कि सीता पर क्रोध करते हुए रावण या अन्य विधर्मी प्रतिनायक के साथ सामाजिकों का हो ही नहीं पाता है। इसलिये कवि की जिन अनुभूतियों का रूप वह प्रतिनायक है उनका साधारणीकरण डा० साहब के अनुसार कहाँ हुआ? इसी प्रकार आलम्बनमात्र का भी साधा-रणीकरण उनकी तादात्म्य वाली कसौटी से सिद्ध नहीं होता—इसे भी पीछे सिद्ध किया जा चुका है। ये तो अन्य आचार्य हैं जो सामान्य आलम्बन क्या, विधर्मी प्रतिनायक-रूप आलम्बन तक भी साधारणीकरण विषय की दृष्टि से मानते हैं और आश्रय

का साधारणीकरण तादात्म्य की दृष्टि से। इसलिये डा० साहब को तो यह कहना भी न चाहिये की कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है; उन्हें कहना चाहिये कि कवि की कुछ ही अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है। एक बात। दूसरी बात यह है कि यदि अन्य आचार्यों के अनुसार या सिद्धान्त पक्ष के अनुसार कवि की प्रकरण-बद्ध सभी अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है तब भी यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है। इसके लिये उचित कारण है और वह यह है कि कवि की प्रकरण-बद्ध सभी अनुभूतियों का साधारणीकरण एक ही प्रकार से नहीं होता। कुछ अनुभूतियां (आलम्बन रूप) तो ऐसी हैं जिनका साधारणीकरण विषय की दृष्टि से होता है और कुछ अनुभूतियाँ (आश्रय रूप) ऐसी हैं जिनके साथ साधारणीकरण तादात्म्य की दृष्टि से होता है। अब यदि हम यह कहते हैं कि कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है तो हमें इसके साथ यह भी अवश्य कहना पड़ेगा कि कुछ अनुभूतियों का साधारणीकरण विषय की दृष्टि से होता है और कुछों का तादात्म्य की दृष्टि से। यहीं जिज्ञासा समाप्त न होगी, बल्कि पाठक फिर पूछेंगे कि विषय की दृष्टि से कवि की जिन अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है उन्हें, और तादात्म्य की दृष्टि से कवि की जिन अनुभूतियों का साधारणीकरण होता उन्हें किस तरह अलग-अलग समझा जाय ? ऐसी दशा में हमें शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से उक्त दोनों प्रकार की अनुभूतियों के कवि-सृष्टि के भीतर ही दो मूर्त (कंक्रीट) रूप और दो भिन्न नाम देने पड़ेंगे। प्राचीन आचार्यों ने इसीलिये इन्हें कवि के दो पात्रों के रूप में [जिनमें कभी-कभी वह स्वयं भी आश्रय रूप से

उपस्थित होता है] आलम्बन और आश्रय के नाम से कह दिया था। हमारी समझ में तो नहीं आता कि आलम्बन और आश्रय कहने में उन महापुरुषों की क्या भूल की थी जिसे कवि की अनुभूति कह कर सुधारा जाय। आखिर उस विधाता की सृष्टि के भीतर भी यदि हम कुछ कहना और समझना चाहते हैं तो हमें अनेक अव्यक्त वस्तुओं के भी काल्पनिक रूप और नामकरण करने पड़ेंगे और करने पड़े हैं। शास्त्र और व्यवहार की यह मर्यादा है।

अब रही संदर्भ के उत्तरपक्ष की बात कि 'साधारणीकरण भाषा का धर्म है और साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है जो मनुष्य के हृदय में एक तार अनुस्यूत है' यह भी प्रकारान्तर से पिष्ट-पेषण मात्र है। आखिर पूछा जाय कि साधारणीकरण जिस भाषा का धर्म है वह कवि के यहाँ किस रूप में देखी जाती है। उत्तर होगा शाब्दिक रूप में। कवि का शाब्दिक रूप क्या है? कवि की सृष्टि। सृष्टि क्या है? कवि के पात्र। पात्र कितने हैं? वे असंख्य हैं पर उनकी दो ही श्रेणियाँ हैं आलम्बन और आश्रय। तब फिर सीधा यही क्यों न कहा जाय कि साधारणीकरण आलम्बन और आश्रय का धर्म है? और यदि भाषा की वैज्ञानिक शक्ति दिखाने का मतलब है तब भी यह कहना पड़ेगा कि साहित्य के क्षेत्र में यह शक्ति साधारणीकरण की दृष्टि से विशेष है और आलम्बन और आश्रय के रूप में प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार आगे भी जो यह कहा गया है कि 'साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है जो मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है' उसके बारे में पूछना चाहिये कि साधारणीकरण का जिसे मूलाधार बताया गया है उस मानव सुलभ सहानुभूति का कवि की सृष्टि में क्या रूप है? उत्तर यही होगा कि कवि की

संवेदनात्मक अनुभूतियों का वह रूप जिसे वह अपने आलम्बन-आश्रयात्मक पात्रों के माध्यम से सामाजिकों के लिये साधारण बनाता है। निष्कर्ष यह है कि जब कोई यह कहता है कि साधारणीकरण भाषा का धर्म है तब उसका जोर आलम्बन और आश्रय के बाह्यपक्ष पर अधिक है दूसरे शब्दों में काव्य के अभिव्यक्ति-तत्व पर अधिक है जो आलम्बन और आश्रय को साधारणीकरण के लिये प्रभावशाली बनाने में कारण है और जब कोई यह कहता है कि साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है जो मनुष्यों के हृदय में एक तार अनुस्यूत है तब उसका जोर कवि की उन संवेदनात्मक अनुभूतियों पर अधिक है जिन्हें वह आलम्बन, आश्रय जैसे पात्रों के माध्यम से सामाजिकों के लिये साधारणतः संवेद्य बनाता है। दूसरे शब्दों में यह कथन काव्य के संवेदन-तत्व पर अधिक जोर देता है जो आलम्बन-आश्रयात्मक पात्रों के अन्तः पक्ष के निर्माण में कारण है और जो सुख-दुःखात्मक रूप में मानव-मात्र के हृदय की सम्पत्ति होने के कारण सामाजिकों के लिये स्वतः ही सर्वसाधारण है।

साधारणीकरण के विषय में आधुनिक पण्डित एक समस्या और भी खड़ी किया करते हैं। आगे बढ़ने से पहले उसका भी उल्लेख कर दिया था।

मान लीजिये आज किसी ने रावण-काव्य की रचना की है जिसका उदात्त नायक रावण है और क्रूर प्रतिनायक राम। दोनों के युद्ध में वीर या रौद्र रस का आलम्बन क्रूर प्रतिनायक राम होना चाहिये और जिसके साथ तादात्म्य हो वह आश्रय होना चाहिये रावण। किन्तु भारतवर्ष के सनातन इतिहास का संस्कारी सामाजिक राम को इस रूप में आलम्बन कैसे मान सकता है

और रावण के साथ तादात्म्य कैसे कर सकता है ? कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण मानने से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि उक्त दोनों पात्र कवि की अनुभूतियों के ही तो संवेद्य रूप हैं। इन पात्रों को संस्कार-विरुद्ध चोला देने वाले कवि जी के साथ भी किसका तादात्म्य हो सकता है ? ऐसी दशा में साधारणीकरण का सिद्धान्त किस मतलब का समझा जाय—यह समस्या है।

इसका समाधान भी हमें अपने आचार्यों की मान्यता का मनन करने पर मिल जाता है। उन्होंने वासनायें दो प्रकार की मानी हैं—इदानींतनी और प्राक्तनी। प्राक्तनी वासना का संबन्ध कवि और सामाजिक के वैयक्तिक संस्कारों से है और इदानींतनी वासना का मतलब लोक शास्त्र काव्य इतिहास आदि के संस्कारों से है। कवि के पक्ष में विचार करते हुए मम्मटाचार्य ने इन दोनों को क्रमशः शक्ति और निपुणता कहा है (शक्ति निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्)। राम-रावण का इतिवृत्त अपने एक निश्चित् संस्कार मानव-जाति के हृदय में रूढ़ कर चुका है। यदि यह भी मान लिया जाय कि यह वृत्त काल्पनिक है फिर भी लोक-सिद्ध है और अपने एक निश्चित रूप में ख्यात-विख्यात है। अब यदि कोई कवि इसका बिरोध करता है तो उसमें इदानींतनी वासना अथवा निपुणता नहीं है और वह किसी भी प्रकार कवि नहीं हो सकता—यह स्पष्ट घोषणा हमारे पूर्वाचार्यों की है। मम्मटाचार्य ने साफ-साफ कह दिया है कि यदि शक्ति, निपुणता और अभ्यास—इन तीनों में से एक की भी कमी रह गई तो कोई भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। बात भी ठीक है कि यदि लोक-संस्कार के विपरीत ही कोई कविता लिखने लगे तो वह लोक के किस मतलब की होगी ? ऐसी कविता से लोक का

अहित ही होगा। और जब ऐसी ध्वंसात्मक रचना में लोकहित का सम्पादन करने वाला साहित्य ही न रहा तब साधारणीकरण का भी वहाँ कोई स्थान नहीं है और मानना भी न चाहिए क्योंकि वह साहित्य के क्षेत्र की वस्तु है, साहित्य-विरोधी क्षेत्र की नहीं।

यदि राम-रावण के प्रसिद्ध इतिवृत्त को केवल साहित्य के क्षेत्र की ही वस्तु मान लें फिर भी उसका विरोध करने वाला कोई कवि उतना ही अपराधी है जितना कोई शुद्ध इतिहासकार यह लिखकर होगा कि अशोक बड़ा अत्याचारी राजा था और औरंगजेब बड़ा उदार। साहित्यिक सत्य और ऐतिहासिक सत्य का यही तो अन्तर है कि पहला अपनी सम्भावना और प्रसिद्धि का अनुगामी है दूसरा लोक की प्रत्यक्ष प्रामाणिक घटनाओं का। साहित्य की सम्भावना और प्रसिद्धि के विरोध में चलने वाले के पक्ष में कवित्व का और कवित्व में साधारणीकरण का समाधान नहीं दिया जा सकता।

बात यह है कि साधारणीकरण में सबसे पहले आलम्बन ऐसे भाव का विषय होना चाहिये कि सबके उसी भाव का उद्बोध कर सके। यदि कोई राम को प्रतिनायक और रावण को उदात्त नायक मानकर रचना करने चले तो वह अपनी जाति से क्रोध का विषय राम को उपस्थापित करेगा किन्तु राम सामाजिकों के लिए सर्व-साधारण क्रोध का आलम्बन न वन सकेगा अर्थात् सामाजिकों के हृदय में क्रोध नामक स्थायी भाव का उद्बोध नहीं कर सकता क्योंकि सामाजिकों के संस्कारों में राम उनका प्रिय बन कर बैठा हुआ है। जब विषय-मूलक साधारणीकरण ही न हुआ तब रावण रूप आश्रय के साथ तादात्म्य और तादात्म्य-मूलक साधारणीकरण

सोचना ही बेकार है। जो राम सामाजिकों का प्रिय है उस पर क्रुद्ध होते हुए रावण के साथ उनका मेल या तादात्म्य कैसा ? किन्तु इससे आगे यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि उदात्त रूप में चित्रित रावण-रूप आश्रय के साथ सामाजिकों का तादात्म्य नहीं होता तो सीता पर क्रोध करते हुए रावण की भाँति वह आश्रय के स्थान पर आलम्बन क्यों न बन जाय, अर्थात् जिस तरह सीता पर क्रोध करता हुआ क्रूर प्रतिनायक रावण, आश्रय न रहकर सामाजिकों के उलटा क्रोध का आलम्बन बन जाता है उसी प्रकार राम पर क्रोध करता हुआ उदात्त नायक रावण सामाजिक के संस्कारों का विरोधी स्वरूप होने के कारण यदि आश्रय नहीं रहता तो आलम्बन क्यों नहीं बन जाता ? उत्तर यह है कि सीता पर क्रोध करता हुआ रावण, कवि ने क्रूर प्रतिनायक के रूप में चित्रित किया है जो कि सामाजिक संस्कारों के अनुकूल पड़ता है। यदि कवि क्रूर रावण को सीता पर क्रोध करता हुआ दिखाता है तो वह रावण की और भी क्रूरता सिद्ध करना चाहता है जिसके पीछे रावण के घोर-पतन का प्रयोजन उसके (कवि के) हृदय में है। सामाजिक के संस्कारों में भी क्रूर रावण के प्रति क्रोध है और उसके घोर-पतन की इच्छा है इसलिये एक ओर तो सीता पर क्रोध करता हुआ रावण उनके क्रोध स्थायी भाव का उद्‌बोध करता हुआ आलम्लन बन जायगा दूसरी ओर रावण के घोर-पतन का प्रयोजन रखने वाले कवि के साथ उनका तादात्म्य होने के कारण कवि स्वयं आश्रय बन जायेगा। किन्तु प्रतिनायक राम पर क्रोध करता हुआ रावण, कवि ने उदात्त नायक के रूप में चित्रित किया है जो कि सामाजिकों के संस्कारों के प्रतिकूल पड़ता है। अब यदि कवि उदात्त रावण को राम पर क्रोध करता

हुआ दिखाता है तो यह रावण की और भी उदात्तता सिद्ध करना चाहता है जिसके पीछे रावण के औचित्य-प्रदर्शन का प्रयोजन उसके (कवि के) हृदय में है। सामाजिकों के संस्कारों में उदात्त रावण है ही नहीं और न उसके औचित्य-दर्शन की इच्छा है इस लिये एक ओर तो रावण के प्रति उन्हें क्रोध या घृणा जगेगी पर साधारणीकरण नहीं होगा, क्योंकि कवि ने रावण को क्रोध या घृणा का विषय बनाकर उपस्थापित नहीं किया, दूसरी ओर रावण का औचित्य-प्रदर्शन करने वाले कवि के साथ उनका तादात्म्य भी न होने के कारण कवि आश्रय भी नहीं बन सकता। संक्षेप में यदि सीता पर क्रोध करता हुआ क्रूर रावण दिखाया जाय तो वहाँ रावण का विषय-मूलक और कवि के साथ तादात्म्य-मूलक साधारणीकरण हो जाता है। इसीलिये यह चित्रण साहित्य के भीतर होगा। किन्तु यदि प्रतिनायक राम पर उदात्त नायक रावण का क्रोध दिखाया जाय तो रावण का न तो विषय-मूलक साधारणीकरण होगा और न कवि के साथ सामाजिक का तादात्म्य-मूलक साधारणीकरण। इसीलिये यह चित्रण साहित्य के क्षेत्र में नहीं आ सकता।

ऐसे चित्रण तो साहित्य के भीतर या रसचक्र के भीतर आ जाते हैं जिनमें सामाजिकों के संस्कारों का विरोध पूर्ण रूप से नहीं हो पाता। इसीलिये आचार्यों ने कहा है कि—"रसाभासा अनौचित्य-प्रवर्तिताः" अर्थात् अनुचित ढंग से जिनका प्रवर्तन होता है वे रसाभास और भावाभास होते हैं। अनौचित्य-प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण कविराज विश्वनाथ ने दिये हैं जिनमें माँ-बाप और गुरू के प्रति पुत्र और शिष्य का क्रोध प्रदर्शन भी है। सामाजिकों के हृदय में पिता और पुत्र एवं गुरु और शिष्य के बीच बड़े-छोटे सम्बन्ध के संस्कार बद्धमूल हैं अतः ये बड़े लोग कितने ही

अत्याचारी हों फिर भी इनके ऊपर पुत्र और शिष्यों का क्रोध-प्रदर्शन सामाजिक को किसी हद तक खटकता है जिसके कारण न तो आलम्बन का विषय-मूलक साधारणीकरण ही पूर्ण रूप से हो पाता है और न आश्रय के साथ सामाजिक का पूर्णतः तादात्म्य ही। रस-क्षेत्र के भीतर भी ऐसे चित्रण इसलिये आ जाते हैं कि माँ बाप और गुरु बड़े होकर भी सम्भावित बुराइयों से अछूते नहीं समझे जा सकते और उसी प्रकार उनपर क्रोध करने वाले पुत्र और शिष्य छोटे रहने पर भी अपेक्षाकृत अच्छाइयों में बड़े हो सकते हैं। किन्तु जो व्यक्ति रावण-काव्य लिखने चला है उसने समाज के छोटे-बड़े, सम्बन्धों के संस्कारों को ही चुनौती नहीं दी बल्कि राम और रावण के साथ क्रमशः लगे हुए अच्छाई और बुराई के लोक-सिद्ध और संस्कार-बद्ध भारतीय संस्कारों की भी पूर्ण अवहेलना की है। इस रावण-महाकाव्य में अखण्डरस की अनुभूति लंका के राक्षसों को ही हो सकती है, भारतवर्ष के तो किसी बन्दर को भी न होगी। यहाँ हनुमान भी राम के उपासक थे, रावण के नहीं। यह लड़ाई की बात नहीं है, इतिहास और साहित्य के विभिन्न संस्कारों का प्रश्न है जिसका समाधान विभिन्न देश काल की सीमाओं में स्पष्ट है"।

अस्तु। बात यह चली थी कि साधारणीकरण के आविष्कार का श्रेय भट्टनायक को है। भरत के पूर्वोक्त सूत्र की व्याख्या में भी उनकी दृष्टि अपने से पहले दोनों आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सिद्धान्त-परक थी किन्तु उनके द्वारा माने हुए भावकत्व और भोजनकत्व व्यापार शब्दशक्ति के रूप में उतने गृहीत नहीं जान पड़ते जितने सामाजिक के व्यापार के रूप में। साहित्य एक वाङ्मय ही है जिसमें वाणी और अर्थ की शक्तियों का ही प्राधान्य है। सामाजिक किस प्रकार अर्थ की भावना और रस

का भोग करता है—इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त है कि शब्द की किस शक्ति की महिमा से सामाजिक अर्थ की भावना करता है और ब्रह्मास्वाद सहोदर रस का साक्षात्कार करता है। भट्टनायक ने शब्दार्थ की सबसे बड़ी शक्ति व्यंजना का खण्डन करके और सामाजिक की क्रियाओं के रूप में भावकत्व और भोजनकत्व की स्थापना करके यही कमी अपने विवेचन में रख दी जिसका निराकरण अभिनवगुप्त को करना पड़ा।

भरत सूत्र के सबसे बड़े सैद्धान्तिक व्याख्याता आचार्य अभिनव गुप्त हैं। इन्होंने रस के सम्पूर्ण विवादों को अन्तिम रूप से सुलझा दिया। भरत-सूत्र की व्याख्या के विषय में भी उनके शब्द अन्तिम हैं। मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने अपने ग्रन्थों में अभिनवगुप्त की ही प्रामाणिकता स्वीकार की है। अभिनव गुप्त के कार्य के संक्षिप्त सूत्र ये हैं:—

I उन्होंने भरत-सूत्र के 'संयोगात्' शब्द का मतलब व्यंग-व्यंजक भाव रूप सम्बन्ध किया और रस-निष्पत्ति को रसाभिव्यक्ति कहा। रस को व्यंग्य या ध्वनि रूप में मानने के लिये और व्यंजना को प्रधान शब्द-शक्ति-स्वीकार करने के लिये यद्यपि वे ध्वनिकार के ऋणी हैं फिर भी ध्वनिकार के पीछे वक्रोक्तिकार कुन्तक और व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट आदि के आक्षेपों का उक्त प्रकार से अन्तिम समाधान करने के कारण रस-विषय के परम प्रामाणिक आचार्य वे ही माने जाते हैं।

II रस की स्वरूप-सम्प्राप्ति जो अभिनव गुप्त ने दी वह उनका नितान्त मौलिक कार्य है। पीछे उसी को अक्षरशः स्वीकार करते हुए परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उसका उल्लेख किया है। रस की अलौकिकता का अपने ढंग से प्रतिपादन करने का सर्वप्रथम श्रेय भी अभिनवगुप्त को ही है।

III भट्टनायक के साधारणीकरण को उन्होंने सामाजिक के भावकत्व व्यापार के पंजे से निकाल कर शब्दशक्ति का धर्म स्वीकार किया। सामाजिक जिनका विभावन आदि करता हुआ रसाभिव्यक्ति के साक्षात्कार तक पहुँचता है वे विभावि शब्दार्थमयी सृष्टि के ही कार्य हैं। कार्य के लिये व्यापार की आवश्यकता होती है वह व्यापार व्यंजना ही होगा क्योंकि जो कार्य है उसका नाम अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति, सम्बन्ध—विशेष स्वीकार के परिहारपूर्वक और विगलित-परिमित-प्रमातृभाव पुरस्सर होती है इसलिये साधारणीकरण व्यंजना का ही अपरिच्छेद्य और अविच्छेद्य साधारण धर्म है।

अभिनवगुप्त को उपजीव्य मानकर कविराज विश्वनाथ ने रस की स्वरूप-सम्प्राप्ति इस प्रकार दी है:

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः
लोकोत्तरच्चमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः

रस की स्वरूप-सम्प्राप्ति का कारण 'सत्वोद्रेकात्' दिया है। 'कैश्चित्प्रमातृभिः स्वाकारवदभिन्नत्वेन अयं रसः आस्वाद्यते'—यह रस की सम्प्राप्ति का अन्तिम छोर है जब कि सामाजिक, रस का आस्वादन अपने आकार से अभिन्न रूप में करता है अर्थात् सामाजिक का और रस का एक ही आकार प्रतीत होने के कारण आस्वाद्य-आस्वादकभाव सम्बन्ध (यानी कौन आस्वाद्य है और कौन आस्वादक है—यह सम्बन्ध) ही नहीं रहता। इसके पहले रस की सारी प्रक्रिया सम्प्राप्ति के भीतर ही आती है। बाकी जो शब्दावली है—'अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः'

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः। लोकोत्तर—चमत्कार प्राणः' वह रस का स्वरूप है।

सत्वोद्रेक के कारण ही रस साहित्य का सबसे बड़ा जीवनोपयोगी प्रयोजन है—इसकी जमकर मीमांसा हम साहित्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए द्वितीय परिच्छेद में कर आये हैं। वस्तुतः पाश्चात्य प्रभाव की सीमा में जो मनोवैज्ञानिक व्याख्यायें रस की कुछ आधुनिक भारतीय आलोचकों ने की हैं वे सम्भ्रान्त हैं और भारतीय रस-पद्धति का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। आज जिसे मनोवैज्ञानिक कहते हैं उसमें भारत के उस सात्विक आनन्द का विचार नहीं है जिसका स्वयंसिद्ध अनुभव मानव-जाति को है और जिसे बाह्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जा सकता। आनन्द वस्तुक्रिया-परक है या वस्तुक्रिया आनन्द-परक—इस विवाद को उठाने का मतलब ही यह है कि सात्विक आनन्द पर विचार नहीं किया जा रहा। खैर यदि वैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार किया जाय तो क्रियायें अच्छी और बुरी—दोनों ही होती हैं जब कि रस का मूल कारण सात्विक आनन्द सदैव मङ्गलमय है। ऐसी दशा में इनका परस्पर प्रत्यत्त पर्यवसान कैसे माना जा सकता है? जहाँ तक अच्छी क्रियाओं और सात्विक आनन्द का सम्बन्ध है—ये दोनों ही एक दूसरे में पर्यवसान पाते हैं। हम लोक के प्राणियों का यह स्वयं सिद्ध अनुभव है कि उत्कृष्ट क्रियायें हमें एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव कराती हैं और सात्विक आनन्द हमें उत्कृष्ट क्रियाओं के लिये प्रेरित करता है। किन्तु इन दोनों का ही एकान्त पर्यवसान जीवन में होता है। जीवन एक शाश्वत धारा है जिसमें जड़-चेतन का शाश्वत संमिश्रण है। चेतन के साथ जड़ या भूत का विरोध होने से जीवन में विषमता और अविरोध

होने से समता का उदय होता है। जीवन की यह समता और विषमता ही क्रमशः सुख और दुःख हैं। चेतनांश जितना कम या प्रच्छन्न रहता है भूत उसका उतना ही विरोध करता है—यही दुःख है। और चेतनांश जितना बढ़ता जाता है भूत का उतना ही अधिक सामञ्जस्य उसके साथ होता चलता है—यही सुख है। इससे एक बात तो यह निकली कि चेतनांश का अधिकाधिक विकास, या दूसरे शब्दों में चैतन्य के साथ भूत का सामञ्जस्य, या तीसरे शब्दों में सुख ही जीवन का शाश्वत प्रयोजन है। दूसरी बात यह आई कि जीवन अपने अर्थ में न तो केवल भूत-सत्ता है और न शुद्ध-विशुद्ध चैतन्य; वह इन दोनों का सम्मिश्रण है। और इन दोनों बातों का सम्मिलित निष्कर्ष यह है कि हम एक ओर तो जीवन में कितना ही चैतन्य, प्रकाश या आनन्द प्राप्त करलें, जीवन की सीमा में भौतिक क्रियाओं को एकान्ततः छोड़ नहीं सकते, यह दूसरी बात है कि सात्विक आनन्द की प्रेरणा से हमारी भौतिक क्रियायें भी सात्विक हों। दूसरी ओर कितना ही भौतिक क्रियाओं में लिप्त रहें पर चैतन्य के प्रकाश से हमारा एकान्ततः विच्छेद नहीं हो सकता। साथ ही साथ चेतनांश के अधिकाधिक विकास के लिये हमारी भौतिक क्रियाओं की उसी रूप में कुछ-न-कुछ समर्पिति या सामञ्जस्य हमारे शाश्वत जीवन का शाश्वत प्रयोजन बना ही रहेगा। फलतः न तो यह कहा जा सकता है कि सात्विक आनन्द के बाद जीवन में क्रियाओं की इतिश्री हो जाती है और न यह कि भौतिक क्रियायें आनन्द की ओर यात्रा नहीं करतीं। दोनों की ही जीवन में एक-दूसरे की ओर गति रहती है पर सदा के लिये वे एक-दूसरे में पर्यवसित नहीं होते—यही जीवन की प्रगति है। यदि ऐसा न हो तो या तो भूत-संघ ही शेष रह जायगा या फिर

केवल चैतन्य ही जो कि दोनों ही अपनी केवल अवस्था से जीवन के क्षेत्र में अव्यवहार्य हैं। जीवन के क्षेत्र में व्यवहार्य होने के लिये भूत और चैतन्य अथवा क्रिया और आनन्द—इन दोनों की सत्ता आवश्यक है जिसका एक ओर तो यह मतलब है कि जीवन में न तो क्रियाओं का ही एकान्ततः पर्यवसान आनन्द में होता है और न आनन्द का ही एकान्ततः पर्यवसान क्रियाओं में, दूसरी ओर ये दोनों ही एक दूसरे में पर्यवसित होते हुए शाश्वत जीवन में शाश्वत पर्यवसान पाते हैं।

सात्विक आनन्द जीवन के चैतन्य से हमारा सान्द्र-निर्भर परिचय कराता है जिसका मतलब होता है—हमारी क्रियाओं का सत्वोन्मुखी अधिक होना। यही चेतनांश के साथ जड़ और भूत-जगत का समझौता है और उदार एवं विशाल जीवन का सिंहद्वार है कि हम चेतन से अधिकाधिक परिचय करते हुए भूतमात्र में इसकी अवस्था का अनुभव करें और उनके परस्पर विरोध को चेतना के एकतार से कसकर समाप्त कर दें। साहित्य में जीवन के इस सार्वभौम उद्देश्य की पूर्ति सबसे अधिक रस करता है क्योंकि वह मन की उस सात्विक दशा का परिणाम है जिसमें तेरे-मेरे का भेद-भाव समाप्त हो जाता है—एकत्व और पूर्णता का परिचय मिलता है—स्वसंवेद्यता और स्वप्रकाशत्व का भान होता है—आनन्दमात्र और चैतन्यमात्र ही शेष रह जाता है—अपरिच्छिन्न और अविच्छिन्न आह्लाद में अन्य समस्त वेद्यान्तर बह जाते हैं—वैयक्तिक सीमायें टूट जाती हैं—सांसारिक सीमायें छूट जाती हैं—व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि प्रलीन हो जाती है। इसलिये रस, अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य और ब्रह्मास्वाद सहोदर है। यही रस की अलौकिकता है कि भूत-सत्ता से

संस्पर्श रहते हुए भी सामाजिक केवल चैतन्य स्वरूप रह जाता है और यही रस की जीवन में लौकिक उपयोगिता है कि वह भूत को एक अखण्ड चैतन्य की झांकी कराकर संवेदना के द्वारा एकता, समता और सहानुभूति का पथ प्रशस्त करता है। जो लौकिक वासनायें हैं वे ही साहित्य में लोकोत्तर आनन्द और प्रयोजन बन जाती हैं। जो मनो-विकार लोक में निम्न से निम्न प्राणियों में अभिव्याप्त है और संकोच, लज्जा तथा स्वार्थ जैसे जघन्य भावों की सीमा से बाहर नहीं निकल पाता वही संस्कारापन्न और उद्बुद्ध होकर साहित्य में उदात्त, सर्वसाधारण और प्रयोजनातीत बनकर मानव-जाति के उच्चतम परमार्थ का साक्षात्कार कराता है। रस इसीलिये 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' है अर्थात् लोक में ही अलौकिक भावों की झांकी है। जो लोग यह कहते हैं कि प्राचीन आचार्यों ने तो रस को अलौकिक कह कर छुट्टी पा ली है वे निश्चय ही जीवन के सबसे बड़े प्रयोजन उसकी सात्विकता, जो भारतीय रस-सिद्धान्त की मूल आत्मा है, पर बिचार न करके साहित्य के भीतर मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना चाहते हैं जिसमें भौतिक क्षेत्र की सीमाओं में बौद्धिक साधनों से भावों की चीर-फाड़ करने का प्रयत्न है।

फिर प्राचीन आचार्यों ने रस की अलौकिकता और भी कई प्रकार से सिद्ध की है। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि लौकिक वस्तुएँ दो प्रकार की ही होती हैं—कार्य अथवा ज्ञाप्य रस कार्य नहीं है क्योंकि इसकी प्रतीति विभावादि कारणों के समाप्त होते ही समाप्त हो जाती है और विभावादि कारणों के साथ ही इसकी समूहालम्ब-नात्मक प्रतीति होती है जब कि लोक के कार्यों का यह नियम है कि कारण के समाप्त होने पर भी वे रह सकते हैं, जैसे दण्ड आदि के नष्ट होने पर भी घट आदि, और कारण-कार्य

का एक कालावच्छेदेन बोध नहीं होता जैसे चन्दन स्पर्श का और चन्दन-स्पर्शजन्य सुख का ज्ञान। रस को ज्ञाप्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि लोक में ज्ञाप्य वस्तु वह होती है जो पहले से सिद्ध हो और किसी वस्त्वन्तर से उसका ज्ञापन मात्र करा दिया जाय। अन्धकार में रखा हुआ घड़ा पूर्व-सिद्ध है, दीपक के द्वारा उसका ज्ञापन मात्र करा दिया जाता है। किन्तु रस पहले से कोई सिद्ध वस्तु नहीं है जिसका ज्ञापन विभावादि के द्वारा करा दिया जाता हो बल्कि विभावादि के साथ ही या उन्हीं के रूप में वह अपनी सिद्ध अवस्था में आता है। रस को नित्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसकी विभावादि से पूर्व कोई संवेदना नहीं होती। अनित्य भी यह नहीं है क्योंकि वासनात्मक रूप में यह जीवन का आश्वत सत्य है। रस परोक्ष इसलिये नहीं है कि यह साक्षात् आनन्दमय और प्रकाशमय है और अपरोक्ष भी इसलिये नहीं है कि इसमें शब्दार्थ का माध्यम है। रस को निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें विभावादि का सम्बन्ध रहता है जो किसी भी प्रकार के सम्बन्ध से शून्य निर्विकल्पक ज्ञान का विरोधी है। दूसरी ओर सविकल्पक ज्ञान का विषय भी रस को नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह स्वसंवेद्य, स्वयंसिद्ध और वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य है। रस वाच्य तो होता ही नहीं—इसे प्रथम परिच्छेद में ही सिद्ध कर चुके हैं। मनोविज्ञान की चीर-फाड़ भी वहाँ तक नहीं पहुँच पाती—इसे स्वयं मनोविज्ञान ही सचाई के साथ स्वीकार करता है। उसकी स्पष्ट घोषणा है कि मन की ज्ञानात्मक प्रक्रिया में जिस वस्तु का हम ध्यान करते हैं वह प्रत्यक्ष होती चली जाती है किन्तु भावात्मक प्रक्रिया में ध्यान करते ही भाव विलीन हो जाते हैं। यदि हम 'पुस्तक'

शब्द सुने और उस पर ध्यान करने लगें तो उसका अवयवावयवी-पुरस्सर एक निश्चित अक्षरमय कागदों का स्वरूप हमारे सामने उपस्थित होता जायगा किन्तु यदि कोई भाव अकस्मात् हमारे भीतर उद्‌बुद्ध हो जाय और हम उसकी किमात्मकता (वह क्या है) का ध्यान करने लगें तो वह भाव हमसे एक साथ छिन जाता है। ऐसी दशा में भाव का स्वरूप बताना किस प्रकार सम्भव है। और फिर जिसे रस कहते हैं वह भाव का भी एक प्रच्छन्न प्रौढ़ रूप है जिसको शब्दों में कहना (वाच्य बनाना) और भी असम्भव है। मनोविज्ञान जो कर सकता है वह केवल इतना ही कि संवेदना-मात्र के आधार पर और वह भी केवल ज्ञानात्मक प्रक्रिया के भीतर ही उसकी काल्पनिक चीर-फाड़ करले। वस्तुतः भाव की केवल संवेदना ही हो सकती है, प्रत्यक्षीकरण की दशा तक यह नहीं पहुँच पाता—यह मनोविज्ञान का दो-टूक उत्तर है। यही कारण है कि जो लोग रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने के लिये चले, वे भी रसानुभूति के भीतर केवल संवेदनाओं की ही व्याख्या करके रह गये।

यह रस सम्प्रदाय की अत्यावश्यक बातों की संक्षिप्त मीमांसा है जिसके आधार पर उसकी अलंकार-विषयक और अलंकार्य-विषयक मान्यताओं का पता चल जाता है। इस सम्प्रदाय का रस ही परम उपास्य है; उसी के लिये विभावादि की योजना पात्रों के माध्यम से, और पात्रों की योजना शब्दार्थ के माध्यम से कवि करता है। यहाँ रस साध्य है और तदतिरिक्त सभी कुछ साधन है अथवा रस अलंकार्य है और बाकी सभी कुछ अलंकार है।

अलंकार्यसम्प्रदायों के भीतर दूसरा नम्बर ध्वनिसंप्रदाय

का है। यह रससम्प्रदाय का ही एक उपबृंहित रूप है। रस-सम्प्रदाय ने व्यंग्य के क्षेत्र में केवल रस को ही माना था पर ध्वनिसम्प्रदाय ने वस्तु और अलङ्कार की व्यंग्यता भी स्वीकार की। रस तो सदा व्यंग्य ही रहता है पर वस्तु और अलङ्कार भी विकल्प से व्यंग्यत्रयी होते हैं अर्थात् वाच्य और व्यंग्य, दोनो होते हैं—यह ध्वनिसम्प्रदाय की मुख्य स्थापना है। ध्वनिसम्प्रदाय ने स्पष्ट ही इस व्यंग्यत्रयी को काव्य की आत्मा मानकर अलङ्कार्य घोषित किया (अलङ्कार्यतया स्थितः) और तद्व्यतिरिक्त सभी-कुछ अलङ्कार रहने दिया। पीछे एक आचार्य (कविराज विश्वनाथ) ऐसा भी आया जिसने रस संप्रदाय को ध्वनि संप्रदाय का उपबृंहित रूप सिद्ध करना चाहा, और वास्तव में कर दिया। उसने रस की 'रस्यते इति' व्युत्पत्ति करते हुए रसनीयता-धर्म का सम्बन्ध वस्तु-अलङ्कार की व्यंजना में ही स्वीकार नहीं किया, बल्कि सामान्य वाच्य के भीतर भी रस की प्रच्छन्नतम हलकी अनुभूति मानकर साहित्य की सीमाओं को उचित व्यापकता प्रदान की। खैर मतलब इतनी बात से है कि रस को काव्य की आत्मा कहने वाले (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्) कविराज विश्वनाथ ने वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि में भी प्रधानतः रसनीयता-धर्म का सम्बन्ध मानकर व्यंग्यत्रयी को पर्यायवृत्ति से काव्य का आत्मस्थानीय सिद्ध कर दिया। उसके द्वारा रसादि, वस्तु और अलङ्कार इन तीनों की व्यंजना में निर्विशेष रूप से उत्तम काव्य माना जाना भी यही सूचित करता है। इस प्रकार ध्वनिसंप्रदाय में जो अलङ्कार्य और अलङ्कार है वही रस-सम्प्रदाय में भी है।

औचित्य सम्प्रदाय यद्यपि औचित्य पर जोर देता है पर अप्रत्यक्ष रूप से रस को ही अलङ्कार्य सिद्ध करता है (औचित्यं

रस-सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्यजीवितम्) औचित्य की सिद्धि के लिये रस की सत्ता यहाँ नहीं है बल्कि सिद्ध रस के उत्कर्ष के लिये या अपकर्षाभाव के लिये औचित्य की सत्ता वहाँ है।

अलंकार सम्प्रदाय वालों के भी तीन सम्प्रदाय हैं—शुद्ध अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय (गुण सम्प्रदाय) और वक्रोक्ति—सम्प्रदाय। उपमादि अलंकारों को सर्वाधिक मान्यता देने वाला सम्प्रदाय शुद्धालंकार सम्प्रदाय है। यह सम्प्रदाय काव्य की सत्ता ही बिना अलंकार के नहीं मानता :

अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती

—जयदेव (चन्द्रालोक)

भामह इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य हैं। इन्होंने वक्राभिधेय—शब्दोक्ति को यानी बचनभंगिमा को वाचां' यानी शब्दार्थ की अलंकृति कहा है (वक्राभिधेयशब्दोक्ति रिष्टा वाचामलंकृतिः) जिसका अर्थ है कि शब्दार्थ अलंकार्य है। रस भावादि की सत्ता या तो यह सम्प्रदाय मानता ही नही, और यदि मानता है तो अलंकारों से पृथक्र नहीं मानता अथवा रसवदादि अलंकार में अध्यासित मानता है। इसका तात्पर्य यही निकला कि किसी रसपूर्ण कविता को अलंकार्यसम्प्रदाय वाला जितना महत्व अलंकार्य की दृष्टि से देगा लगभग उतना ही महत्व अलंकार सम्प्रदाय वाला अलंकार की दृष्टि से देगा। क्योंकि इन दोनों के अलंकार्य और अलंकार से अभिप्रेत वस्तु बहुत-कुछ पास पड़ जाती हैं।

रीति सम्प्रदाय अथवा गुण सम्प्रदाय भी शब्दार्थ को तो काव्यशरीर मानता है पर गुणविशिष्ट-पद-रचना रीति को काव्य की आत्मा मानता है:

"रीतिरात्मा काव्यस्य"
"विशिष्टा पदरचना रीति"
"विशेषो गुणात्मा"

अर्थात् रीति काव्य की आत्मा है। रीति क्या है? उत्तर है विशिष्टा पद-रचना। पद-रचना की विशिष्टता क्या है? उत्तर है गुणात्मकता। यहाँ भी शब्दार्थ ही अलंकार्य ठहरते हैं; उपमादि अलंकारों की दृष्टि से ही नहीं श्लेषादि बीस गुणों की दृष्टि से भी। क्यों कि गुण भी इनके यहाँ शब्दार्थ गत ही सिद्ध होते हैं। इसे इसी परिच्छेद के प्रथम प्रकरण में दिखाया जा चुका है। अब रही रसादि की बात तो इसे यहाँ गुणों के स्वरूप में ही स्वीकार कर लिया जाता है। कान्ति नामक गुण के लक्षण में तो सीधे ही इसका अभिधान है, (दीप्तरसत्वं कान्तिः) जिसका परम्परया मतलब निकलता है कि रस इनके यहाँ भी दूसरे रूप में काव्यशोभाधायक अलंकारविशेष ही है। क्यों कि गुण सम्प्रदाय के आचार्य स्वयं ही गुणों को अलंकार कहते हैं:—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते
काव्यादर्श २।१

यहाँ भी वही बात रही कि अलंकार्य सम्प्रदायवादी अलंकार्य की दृष्टि से जिस रस-पूर्ण पद्य को उत्कृष्ट कहेगा, गुणसम्प्रदाय वादी उसी पद्य को कान्ति नामक जैसे गुणों की दृष्टि से उत्कृष्ट मानेगा। क्योंकि दोनों के यहां अलंकार्य और गुण से अभिप्रेत वस्तु बहुत-कुछ एक ही है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय में भी काव्य के शरीर शब्दार्थ हैं और वे ही अलंकार्य भी हैं। अलंकार है स्वयं वक्रोक्ति।

" शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि"
"तयोः पुनरलंकृतिः
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते"

—वक्रोक्तिकाव्य जीवित

कुन्तक के यहां यह वक्रता ६ प्रकार की है—वर्ण विन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरण-वक्रता और प्रबन्धवक्रता। इन ६ वक्रताओं के भीतर कुन्तक ने सम्पूर्ण रसादिध्वनि—चक्र और गुण-चक्र समेट लिया है। फलतः यहां भी रसभावादि अलंकार के रूप में ही स्वीकृत है। क्योंकि जिस वक्रोक्ति के भीतर कुन्तक ने व्यङ्गत्रयी को खींचा है उसे पहले ही वह शब्दार्थ की अलंकृति कह चुका है। इसलिये यहां भी जिस व्यंग्यपूर्ण पद्य को अलंकार्य सम्प्रदायवादी अलंकार की दृष्टि से श्रेष्ठ समझेगा उसी को वक्रोक्तिसंप्रदायवादी वक्रता की दृष्टि से उत्तम कहेगा। क्योंकि दोनों के यहां अलंकार्य और वक्रताविशेष से अभिहित वस्तु लगभग आस-पास ही पड़ती हैं।

साफ है कि अलंकार्य सम्प्रदायों और अलंकार संप्रदायों की विभिन्न मान्यताओं के रहते हुए भी साहित्य की तात्विक मान्यता में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अब कार्य-व्याख्या की ओर चलिये। यहाँ हमें अलंकार सम्प्रदायों और अलंकार्य सम्प्रदायों की अलंकार-विषयक और अलंकार्य-विषयक मान्यताओं के परिणाम-स्वरूप उनके द्वारा स्वीकृत साहित्य की स्वरूप-सम्प्राप्तियों पर विचार करना है।

साहित्य के जितने भी सम्प्रदाय हैं वे सभी काव्य का शरीर शब्दार्थ को ही मानते हैं, इसलिये सभी का प्रस्थान-विन्दु एक है

अर्थात् सभी शब्दार्थ से यात्रा प्रारम्भ करते हैं। पर विश्रान्ति-विन्दु सबका एक नहीं है। अलंकार के तीनों सम्प्रदाय शब्दार्थ से चलते हैं और रसभावादि से परिचय करके फिर शब्दार्थ की ओर ही लौट आते हैं। अतः इन्हें प्रस्थित-प्रतिनिवृत्त कहना चाहिये, अर्थात् जहाँ से ये चलते हैं फिर वहीं लौट आते हैं। किन्तु अलंकार्य के तीनों सम्प्रदाय चलते तो शब्दार्थ से ही हैं पर आगे रसभावादि में विश्रान्त हो जाते हैं; ये पुनः शब्दार्थ की ओर नहीं लौटते। इसलिये इन्हें प्रस्थित-पर्यवसित कहना चाहिये अर्थात् जहाँ से ये चलते हैं वहाँ फिर न लौटकर दूसरी जगह पर्यवसान पाते हैं।

उक्त बात को उदाहरण में देखने के लिये भामह और मम्मट इन दो आचार्यों को लीजिये जिनमें पहला अलंकार वादी है और दूसरा अलंकार्य वादी। उधर भामह ने कहा—'शब्दार्थौ काव्यं' और इधर मम्मट ने भी कहा कि तत् (काव्य) अदोषौ शब्दार्थौ। इस प्रकार दोनों की यात्रा शब्दार्थ से ही प्रारम्भ हुई। पर आगे दोनों के प्राप्तव्य स्थान बदल गये। उधर भामह रस-भावादि से परिचय करके भी उन्हें रसवदादि अलंकार के रूप में पकड़ लाये और उनसे शब्दार्थ को सजाकर यानी शब्दार्थ को अलंकार्य बना कर बैठ गये। इधर मम्मट उपमादि अलंकारों को शब्दार्थ के शोभाधायक धर्म कहते हुए भी दोनों की योजना रसभावादि की अपेक्षा से ही मानकर रस तक पहुँच गये और दोनों को (शब्दार्थ, शब्दार्थालंकार को) व्यंग्यत्रयी के पैरों में डाल दिया तथा उसी को वास्तविक चरम अलंकार्य मानकर रम गये। वे फिर शब्दार्थ की ओर नहीं लौटे। भामह शब्दार्थ के सिंहद्वार पर खड़े हुए हैं और वहीं से वे अपनी दृष्टि रसभावादि के अन्तः प्रकोष्ठों तक घुमा लेते हैं पर मम्मट रसभावादि के

अन्तः प्रकोष्ठों की रमणीयता का घूम-घूमकर परिचय कर रहे हैं और उस शब्दार्थ के प्रति बड़े अहसानमन्द हैं जिसके द्वारा वे भीतर घुस सके।

रीति सम्प्रदाय और वक्रोक्ति सम्प्रदाय को शुद्धालंकार सम्प्रदायवादी आचार्य भामह के और अलंकार्य सम्प्रदायों को मम्मटाचार्य के आदर्श पर देखा जा सकता है। रस सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय के तो मम्मट प्रतिनिधि ही हैं। औचित्य सम्प्रदाय भी मम्मट के आदर्श का विरोधी नहीं है। वह औचित्य को काव्य का जीवित तो मानता है, पर कैसे काव्य का ? रससिद्ध काव्य का। फलतः औचित्य काव्य का जीवन है जो आत्मस्थानीय रस को महत्व दिये बिना नहीं रहता। जीवन का सम्बन्ध बाहर-भीतर दोनों से होता है इसलिये क्षेमेन्द्र ने भी काव्य के बाह्यपक्ष से (अलंकारादि से) और अन्तःपक्ष से (रसादि से) औचित्य का सम्बन्ध प्रतिपादित किया है। निःसन्देह औचित्य की यात्रा भी शब्दार्थ-योजना से चलकर रस में पर्यवसित होती है क्योंकि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को जिस काव्य का सर्वव्यापी तत्व माना उसे रससिद्ध काव्य के रूप में ही उसने घोषित कर रक्खा है। इस प्रकार सम्पूर्ण अलंकार्य सम्प्रदायों का प्रस्थान-विन्दु और विश्रान्तिविन्दु एक नहीं है। प्रस्थान-विन्दु शब्दार्थ है, विश्रान्तिविन्दु व्यंग्यत्रयी।

उधर अलंकारसम्प्रदाय भी लगभग भामह के आदर्श पर चलते हैं। शुद्धालंकार सम्प्रदाय के तो भामह प्रतिनिधि ही हैं। रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय भी उनका विरोध नहीं करते। रीति सम्प्रदाय के आचार्यों ने (वामनादि) रसभावादि को काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के गुणों में ही किसी-न-किसी प्रकार अध्यासित किया है। कान्तिनामक गुण के भीतर वे स्पष्टतः रस की सत्ता

मानते हैं (दीप्तरसत्वं कान्तिः) फिर ऐसे गुणों से वे उस रीति को विशेषित करते हैं जो 'जो पद रचना' के रूप में शब्दार्थ का ही बाह्य ढांचा थी (विशेषो गुणात्मा, विशिष्टा पदरचना रीतिः)। फलतः ये शब्दार्थ से चले और शब्दार्थ की ओर ही लौट आए।

वक्रक्ति सम्प्रदाय का भी यही हाल है। वह भी शब्दार्थ को ही काव्य-शरीर मानकर चला है और वक्रोक्ति के भीतर रसभावादि को लपेट कर पुनः शब्दार्थ के ही पास आ गया है। क्योंकि वक्रोक्ति के भीतर उसने सम्पूर्ण रसादि चक्र को माना है और फिर उसका अलंकार्य माना है शब्दार्थ (तयो पुनरलंकृतिः; वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्येते)। इस प्रकार सम्पूर्ण अलंकार सम्प्रदायों का प्रस्थान विन्दु और विश्रान्ति-विन्दु एक ही है। प्रस्थान-विन्दु भी शब्दार्थ है और विश्रान्ति-विन्दु भी।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह प्रस्थानविन्दु की एकता और विश्रान्तिविन्दु की भिन्नता दोनों प्रकार के सम्प्रदायों में अलंकार और अलंकार्य को लेकर भी है। अलंकार सम्प्रदायों ने आरम्भ से लेकर अन्त तक शब्दार्थ को ही किसी-न-किसी रूप में अलंकार्य माना और समस्त शोभाधायक धर्मों को, जिन्हें रसभावादि से किसी न-किसी प्रकार अन्तर्व्याप्त कर दिया, अलंकार ही सिद्ध किया। पर अलंकार्य—सम्प्रदायों ने प्रारम्भ से शब्दार्थ को अलंकार्य और उनके अस्थिर धर्मों (उपमादि अलंकारों) को अलंकार के रूप में पहचाना किन्तु पीछे से इन दोनों की योजना रसापेक्षिणी सिद्ध करते हुए दोनों को अलंकार और रसभावादि को अलंकार्य घोषित किया। यही दोनों प्रकार के सम्प्रदायों की दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य की व्याप्तियों में रूप-परिवर्तन और स्वरूप-भेद है। शब्दार्थ का एक के यहां अलंकार होना और दूसरे के यहाँ अलंकार्य होना

एवं रसभावादि का एक के यहाँ अलंकार्य होना और दूसरे के यहाँ अलंकार होना—रूप-परिवर्तन है। गुणों के लक्षण अलंकार-सम्प्रदायों में शब्दार्थ के धर्म माने जाने के कारण शब्दार्थ-परक हैं और अलंकार्य सम्प्रदायों में रस के माने जाने के कारण रस-परक हैं - यह स्वरूप भेद रहा। अलंकार सम्प्रदायवादी गुणों की स्थिति सर्वथा शब्दार्थ में ही मानते हैं और अलंकार्य सम्प्रदाय-वादी उनकी प्रधान स्थिति रस-गत सिद्ध करते हैं—यह स्थिति-भेद भी हो ही गया।

साहित्यालोचकों की साहित्य में अन्तर्मुखी-वहिर्मुखी चेतना के कारण जो भारतीय साहित्यशास्त्र अपने ६ संप्रदायों में प्रतिष्ठित है उसकी आलोचना यहाँ तक की गई है। पश्चिम में भी आचार्यों की इस द्विधा-प्रयुक्त चेतना के फलस्वरूप साहित्यशास्त्र का इतिहास न हो—ऐसी बात नहीं है। अन्तर्मुखी चेतना का उदाहरण फ्रायडवादी काव्यशास्त्र है ही जिसे खुल्लमखुल्ला अन्तश्चेतनावादी कहा जाता है। यह दूसरी बात है कि उसमें कुछ दोष भी हैं। इसके अनुयायी, व्यक्ति की की निजी अन्तश्चेतना को ही उसके व्यक्तित्व का चरम सत्य मानते हैं और काव्य में उसी की अभिव्यक्ति को प्रमुख तत्व ठहराते हैं इसमें एक दोष यह आ जाता है कि काव्य की सत्ता वैयक्तिक चेतना तक ही संकुचित सिद्ध होती है जब कि अन्तश्चेतना के लिये वैयक्तिक या केवल सामाजिक सीमाओं के बन्धन अनुपयुक्त हैं। अन्तश्चेतना तक पहुँचकर भी एकान्तता और वैयक्तिकता बनी रहे—यह पश्चिम की सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल भले ही हो पर भारतीय दृष्टि से बिलकुल उलटा पड़ता है। यहाँ की अन्तर्दृष्टि व्यष्टि और समष्टि का भेद ही व्यर्थ सिद्ध कर देती है और सहानुभूति-पुरस्सर एकता में समाधान पाती है।

काव्य की सम्प्राप्ति पर विचार करते हुए अन्तश्चेतनावादी आचार्य कहते हैं कि जैसे स्वप्नों का सृजन व्यक्ति की जागरूक सत्ता नहीं, अन्तर्वर्ती सत्ता करती है ठीक उसी प्रकार काव्य-का सृजन भी उसकी अन्तश्चेतना ही करती है, अर्थात् काव्य-कल्पना केवल स्वप्न-प्रक्रिया है। यहाँ इस सिद्धान्त का एक दूसरा दोष है जो उसकी सत्ता को ही निगल जाता है। स्वप्न-प्रक्रिया सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों होती हैं इसलिए साहित्य सृष्टि भी दोनों प्रकार की होनी चाहिये पर साहित्य-सर्जना की प्रेरणा सुखात्मक ही होती है, दुःखात्मक नहीं। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अनुभूतियों के विवेचन करते हुए पिछले परिच्छेदों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मन की अनेक दशायें प्रत्यक्ष होती हैं जिनका अधिकार स्वप्न-प्रक्रिया तक भी है अतः साहित्य की सीमा में स्वप्न-प्रक्रिया का सिद्धान्त प्रत्यक्ष सुख-दुःखों की भाँति ही एकदम विजातीय तत्व है।

साहित्य में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को बहिर्मुखी चेतना का परिणाम समझा जाय अथवा अन्तर्मुखी चेतना का—यह भी एक समस्या है। इसका कारण यह है कि क्रोचे का व्यक्तित्व दुहरा है। मूलतः वह दार्शनिक है और प्रसंगतः साहित्यिक। उसका सिद्धान्त कुछ इस प्रकार है :—

जानाति, इच्छति, यतते अर्थात् ज्ञान इच्छा और संकल्प — यह भारत के नैयायिकों का क्रम है। क्रोचे ज्ञान और संकल्प इन दो में ही मानसिक चक्र का विभाजन करता है। संकल्पात्मक व्यापार को उसने योग और क्षेत्र अर्थात् प्रेय और श्रेय— इन दो रूपों में विभक्त किया है जो क्रमशः अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के कारण ठहरते हैं। इन दोनों के साथ या संकल्पात्मक व्यापार के साथ साहित्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञान के भी क्रोचे दो भेद करता है—स्वयं प्रकाश (इण्ट्यूशन) और तार्किक ज्ञान। इनमें भी तार्किक ज्ञान शुद्ध प्रमा का विषय है, वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध का व्यवस्थापक है या सामान्य नियमों का संस्थापक है और तर्कशास्त्र का कारण है इसलिये यह भी साहित्य के भीतर नहीं आता। केवल स्वप्रकाश ज्ञान ही कला-संबन्धी ज्ञान है जो कल्पना में उद्भूत होता है और यही साहित्य का निदान है।

इस स्वप्रकाश ज्ञान की तीन अवस्थायें क्रोचे के सिद्धान्त में देखने को मिलती हैं। पहली अवस्था वह होती है जब किसी वस्तु के सामने आते ही तज्जन्य संस्कारमात्र के रूप में यह हमारे मन में स्वतः उद्भूत होता है। किन्तु कोई भी संस्कार अपना कुछ न कुछ मूर्त रूप लेकर ही आया करता है इसलिये यह स्वयं प्रकाश या प्रातिभ ज्ञान अपनी दूसरी अवस्था में किसी सांचे या ढांचे के रूप में उपस्थित होता है। बस यही क्रोचे की अभिव्यंजना है। दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि अभिव्यंजना प्रातिभ ज्ञान (स्वप्रकाश) का अन्तःस्थ मूर्त रूप है इसलिये अभिव्यंजना वह सांचा है जिसे स्वयं प्रकाश या प्रातिभ ज्ञान स्वयं ढलने के लिये (मूर्त होने के लिये) स्वीकार करता है। इस दूसरी दशा में पहुँच कर स्वप्रकाश ज्ञान को काल्पनिक ज्ञान भी कहा जा सकता है क्योंकि यहां स्वप्रकाश ज्ञान मूर्त होजाता है और कल्पना भी एक मूर्त रूप ही होती है। क्रोचे के यहां यही सच्ची अभिव्यंजना है जिसमें प्रातिभ ज्ञान अपनी मूर्तता से अलग नहीं किया जा सकता। साँचा बिना द्रव्य के नहीं रह सकता अथवा सांचे से अलग कोई द्रव्य मानना ही बेकार है इसी लिये क्रोचे ने सांचे को ही सब कुछ माना है, यही उसके यहाँ अभिव्यंजना है। इसी मान्यता के अनुसार क्रोचे न तो द्रव्य

में सौन्दर्य मानता है और न द्रव्य और साँचे के संयोग में बल्कि वह मात्र ढांचे या ढांचे में ही उसे स्वीकार करता है। इस सौन्दर्य-भावना का उसके यहाँ आनुसंगिक फल आनन्द है।

तीसरी अवस्था में कल्पना का स्थूल रूपों में अवतरण होता है। ये स्थूल रूप शब्द, स्वर, गति, रेखा, रंग विधान आदि हैं जिनके माध्यम से कलाकार अपनी उपर्युक्त दूसरी अवस्था में अन्तःस्थ रूप से रहने वाली अभियंजना को भौतिक जगत में ला उतारता है। पर ध्यान रखने की बात है कि क्रोचे की अभिव्यंजना का मतलब द्वितीय अवस्था में ही पूर्ण हो जाता है। यदि कोई कलाकार कूँची से कोई दृश्य-चित्र खींचता है तो यह उसका भौतिक क्षेत्र में उतरना है। अन्यथा असली क्षेत्र वही है जहाँ वह उसी चित्र को पहले अपने मानसिक जगत में खींच चुका है। तृतीय अवस्था को सच्ची अभिव्यंजना न मानने का सीधा सा मतलब है कि क्रोचे कलाकार की प्रेषणीयता को नकारता है। प्रेषणीयता के समाप्त होने पर कला का सत्य और शिव रूप भी समाप्त हो जाता है, केवल सौन्दर्य ही बच रहता है। सौन्दर्य इस लिये बच रहता है कि वह केवल प्रेषणीयता का धर्म ही नहीं बल्कि कलाकार की अन्तःस्थ अभिव्यंजना (द्वितीय अवस्था वाली) का रूप भी है; और सचमुच क्रोचे अभिव्यंजना को सौन्दर्यापरपर्याय ही मानता है, सत्य और शिव की व्यवस्था उसके यहाँ कला के क्षेत्र में नहीं है।

क्रोचे के सिद्धान्त में अनेक आक्षेप विद्वानों ने उठाये हैं और कुछ-एक भारतीय मनीषियों ने आज उनके सामाधान भी पेश किये हैं। किन्तु अत्यधिक उदार दृष्टि से देखने पर भी अभिव्यंजना की अपूर्णता खटकती है और उसकी पूर्ति अस्वाभाविक सी जान पड़ती है। दो आक्षेप तो बिल्कुल

दुर्निवार हैं। पहला तो यह है कि अभिव्यंजनावाद में सहृदय का पक्ष छूट ही गया है। जब कलाकार की सच्ची अभिव्यंजना वही है जिसे ऊपर नितान्त अन्तःस्थ (द्वितीय अवस्था वाली) कहा गया है और जिसमें शब्दार्थ-विधान की दशा नहीं आती तब प्रश्न उठता है कि सामाजिक या पाठक इसका किस प्रकार आनन्द ले सकता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने इसका समाधान करना चाहा है कि कलाकार जिस मानसिक स्थिति में उक्त अभिव्यंजना का साक्षात्कार करता है वह सामान्य है फलतः पाठक भी उसी दशा में पहुँचकर उसका आस्वादन कर लेगा। किन्तु अड़चन यह है कि सामाजिक बिना किसी मूर्त आलम्बन आदि के जिन्हें कलाकार शब्दार्थ का कलेवर देकर उपस्थित करता है, किस प्रकार सौन्दर्यानुभूति कर सकता है? सामाजिक के सामने काव्य का शब्दार्थ शरीर चाहिये तभी वह साहित्य-कला का साझीदार बन सकता है अन्यथा नहीं। यदि यह कहा जाय कि यह तो कलाकार की कृपा है कि वह किसी अन्तःस्थ अनुभूति को शब्द-बद्ध कर देता है अन्यथा उसका काम तो वहीं पूर्ण हो जाता है जहाँ वह सर्वथा अप्रकट रहती है। तब तो दुनियाँ में सभी कलाकार हैं क्योंकि वह मानसिक दशा तो सभी के लिये सामान्य है—इसे स्वयं आचार्य जी ही अपने पहले समाधान में कह चुके हैं। आखिर हम किसे कलाकार समझें या कहें—इसका निर्णय तो उसी से होगा जो कलाकार की शाब्दिक अभिव्यक्ति है। यदि वही न रही तो हम किस आधार पर एक व्यक्ति को कलाकार कहेंगे और दूसरे को नहीं? यदि अभिव्यंजनाबाद एक साहित्यिक वाद या सिद्धान्त हैं ता उसे निःसन्देह शब्दार्थ के रूप में कवि और सामाजिक—दोनों की ही सम्पत्ति होना चाहिये था।

इससे आगे कोई व्यक्ति समाधान करना चाहे तो यही कह सकता है कि शब्दार्थ रूप में अभिव्यक्त होने वाली अभि-व्यंजना भी (तृतीय अवस्था वाली) किसी न किसी रूप में अन्तःस्थ (द्वितीय अवस्था वाली) अभिव्यंजना के साथ लगी हुई माननी चाहिये तभी सामाजिक किसी व्यक्ति को कलाकार समझेगा और काव्यास्वादन भी कर सकेगा। पर निवेदन है कि यदि किसी भी रूप में शब्दार्थमयी अभिव्यंजना को अन्तःस्थ अभिव्यंजना के बाद अनिवार्यतः स्वीकार करना पड़ता है तब किसी भी रूप में अन्तःस्थ अभिव्यञ्जना का अलग से विचार करना आवश्यक भी नहीं है। क्योंकि सक्रिय (शब्दार्थमयी) अभिव्यञ्जना के भीतर उसका अनिवार्यतः समावेश हो ही जाता है। शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति को देखकर हम निःसन्देह उसकी पूर्वदशा (अन्तःस्थता) की निश्चित सत्ता मान सकते हैं किन्तु प्रकट अभिव्यञ्जना के अभाव में न तो अप्रकट अभिव्यञ्जना को मानने के लिये हमारे पास कोई प्रमाण है और न यही कहा जा सकता है कि अप्रकट अभिव्यञ्जना के बाद प्रकट अभिव्यञ्जना अनिवार्यतः उपस्थित होती है। यदि ऐसा होता तो सभी कलाकार हो जाते या कम से कम सामाजिकों को भी कलाकार कहा जाता जो उसका उसी रूप में आस्वादन करते हैं।

दूसरा आक्षेप है कि क्रोचे की अभिव्यञ्जना में जीवन-जगत का पक्ष बिल्कुल छूट जाता है क्योंकि वह नितान्त मानसिक स्थिति के भीतर जीवन-जगत की अभिव्यक्ति से दूर पड़ती है। आचार्य न० दु० वाजपेयी जी ने इसका समाधान भी बड़ी सहृदयता से किया है। उन्होंने कहा है कि क्रोचे जीवन-जगत की अनुभूति को मन की दशा विशेष से भिन्न नहीं समझता।

वह बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से दोनों को एक ही मानता है। मन की क्रिया से बाहर जीवन की कोई अनुभूति बची नहीं रह जाती जिसके लिये क्रोचे पर उपर्युक्त आरोप लगाया जाय। किन्तु इस समाधान का मतलब तो यह है कि क्रोचे जीवन-जगत की अभिव्यक्ति कला में मानता है। यहाँ विचारणीय यह है कि क्या जीवन-जगत किसी भी समय देश-काल की परिधि से बाहर भी रह सकते हैं। यदि नहीं रह सकते तो देश-काल की अभिव्यक्ति भी क्रोचे को माननी पड़ेगी जिसका मतलब होगा—देशकाल की विभिन्न समस्याओं की अभिव्यक्ति। किन्तु यह बात क्रोचे की उस मान्यता के चारों खूँट विपरीत पड़ती है जिसके आधार पर वह जीवन की समस्याओं और उनके समाधान का कोई सम्बन्ध ही कला से नहीं मानता। इसके लिये बाजपेयी जी जैसा महान् और सहृदय समाधाता भी क्या करे! यहाँ तक तो ठीक था कि जीवन-जगत को अनुभूति का कारण मान कर उसे उसकी पृष्ठभूमि में डाल दिया जाता और इस प्रकार अनुभूति को कला का सविशेष लक्षण स्वीकार कर लिया जाता किन्तु जीवन-जगत की समस्याओं और उनके समाधान पर एक दम पाबन्दी लगाने का मतलब तो यह होगा कि हम कला के भीतर लोक-संग्रह की उपेक्षा करते हैं और कला के स्वरूप की अतिवास्तविक व्याख्या करते हैं जिसकी विवेचना द्वितीय परिच्छेद में विस्तार पूर्वक की जा चुकी है।

अब यह प्रश्न बहुत सरल हो जाता है कि अभिव्यंजनावाद आलोचना की अन्तर्मुखी चेतना का परिणाम है या बहिर्मुखी चेतना का। जहाँ तक क्रोचे ने मानसिक चक्र के चार कठघरे बनाये हैं, जिनका प्रारम्भ में ही निर्देश किया गया है, वह अन्तर्मुखी चेतना का ही स्वरूप है। किन्तु जैसा कि पीछे कहा जा

चुका है कि ज्ञान के कठघरे में उसके द्वारा स्वीकृत अन्तःस्थ अभिव्यंजना लोक में अव्यवहार्य है और उसको व्यवहार पदवी पर आने के लिये शब्दार्थमय सक्रिय रूप लेना ही पड़ेगा, उसका अभिव्यंजनावाद बहिर्मुखी चेतना का परिणाम सिद्ध होता है। इस अभिव्यंजनावाद को क्रोचे यदि एक व्यापार-मात्र मानकर भारतीय ध्वनिसम्प्रदाय की भाँति किसी वस्तु-विशेष की व्यंजना कराने में कारण मानता तो अभिव्यंजनावाद भी अन्तर्मुखी चेतना का परिणाम सिद्ध होता। किन्तु क्रोचे तो अभिव्यंजना रूप साँचे को ही सब कुछ मानता है जिसका मतलब है कि अभिव्यंजना व्यवहार के क्षेत्र में सौन्दर्याध्यासित उस शब्दार्थ का रूप ही है जिसे हम तृतीय परिच्छेद के प्रथम प्रकरण में अलंकार की सीमाओं में निश्चित कर चुके हैं। इस प्रकार अभिव्यंजनावाद परिणामतः एक अलंकार-सम्प्रदाय ही सिद्ध होता है।

साहित्य में और भी अनेकवाद हैं—आदर्शवाद, यथार्थवाद प्रगतिवाद, प्रकृतिवाद इत्यादि। ये साहित्य में जीवन-जगत के वे सिद्धान्तवाद हैं जो लोक-संग्रह की दृष्टि से साहित्य के दूसरे प्रयोजन उपदेश-तत्व के भीतर अधिक आते हैं, सद्यः परिनिर्वृत्ति या ब्रह्मास्वादसहोदर रस के भीतर उतने नहीं। ये भी अपने प्रयोजन की दृष्टि से अतिवादी रूप पर पहुँच कर साहित्य के विजातीय द्रव्य बन जाते हैं। इसकी विवेचना भी हमने प्रगतिवाद और यथार्थवाद का उदाहरण देकर द्वितीय परिच्छेद में विस्तार से करदी है। प्रकृतिवाद यथार्थवाद का ही भाई-बन्धु है। अन्तर केवल इतना है कि यथार्थवाद पश्चिम से पूरब को चलता है और प्रकृतिवाद पूरब से पश्चिम को; मतलब यह है कि यथार्थवाद मनुष्य के विकास के साथ उसकी बुरी-भली वृत्तियों की चीर फाड़ करता है—प्रकृतिवाद मनुष्य

की आदिम अवस्था से पशुओं के समान उसकी काम, क्रोध आदि विकार-वृत्तियों का स्वाभाविक उल्लेख करता है। इसलिये आदर्शवाद का उलटा रूप यथार्थवाद है और मानवता का उलटा रूप प्रकृतिवाद। यथार्थवाद भौतिक धरातल पर किसी बात की वास्तविकता का अंकन चाहता है, आदर्शवाद का वायवी ताना-बाना उसे लेशतोपि स्वीकार नहीं है। उसी प्रकार प्रकृतिवाद मनुष्य को पशु-सुलभ बुरी-भली वृत्तियों का समवाय सिद्ध करता है; पशुता विरोधी सद्वृत्तियों का स्वप्न देखने वाले मानवतावाद से उसकी पटरी बिल्कुल नहीं बैठती। अन्त में यह भी समझने की बात है कि ये सभी सिद्धान्त अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी—दोनों रूपों में देखे जा सकते हैं। प्रथम परिच्छेद में इसे सोदाहरण स्पष्ट कर दिया गया है कि जब कोई सिद्धान्त साहित्य में व्यंग का स्वरूप लेकर आता है तब वह अलंकार्य क्षेत्र में, और जब वह शुद्ध वाच्य के चोले में उपस्थित होता है तब अलंकार की सीमा में समझा जाना चाहिये। आचार्यों ने इनका दर्शन दोनों रूपों में किया है। दूसरी बात यह है कि इनकी संज्ञायें देशकाल की विशेष प्रवृत्ति के कारण पड़ती हैं अन्यथा किसी भी युग में, किसी भी देश में और किसी भी कला की कृति में उक्त सिद्धान्तों के लगभग सभी सूत्र खोजे जा सकते हैं।

५

लोग अकसर यह प्रश्न उठाया करते हैं कि साहित्य का स्थायी प्रतिमान अथवा आलोचना का मापदण्ड क्या हो। बुद्धिवादी युग में यह प्रश्न लोगों को और भी परेशान करता है। किन्तु यह प्रतिमान या मानदण्ड भी अलंकार्य तत्व और अलंकार तत्व से मिलकर ही बनता है। हिन्दी के पुराने आचार्यों ने इन्हीं को क्रमशः भाव-पक्ष और कला-पक्ष कहा था। नवीनतम आलोचक इन्हीं को क्रमशः संवेदन तत्व और अभिव्यक्ति तत्व कहना अधिक पसंद करेगा। संवेदन तत्व का मतलब है जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में की जाय और अभिव्यक्ति तत्व का मतलब है संवेदन को स्पष्ट, तीव्र और सूक्ष्म बनाने का साधन। संवेदन के भीतर जीवन-जगत का तथ्य रहता है और वह भी दो रूपों में। पहला रूप सुखदुख-मूलक भावों का है और दूसरा सुख-दुखों के कारण-स्वरूप वस्तु-जगत का। साफ शब्दों में कहना चाहिये कि संवेदन के नाम पर सुख-दुःख को और तत्कारणभूत वस्तु जगत को साहित्य में अभिव्यक्ति दी जाती है। संवेदन तत्व की उत्कृष्टता का पैमाना इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी मात्रा कितनी और कैसी है। मात्रा की कियत्ता के भीतर न्यूनता और अधिकता का प्रश्न उठता है और मात्रा की कीदृक्ता के भीतर उसकी तीव्रता सघनता और व्यापकता का। सुखदुःख-मूलक भावतत्व की अधिकता और तीव्रता सूर में सब से अधिक है—यह प्रसिद्ध

ही है। उसी प्रकार भावतत्व की सघनता मीरा में और उसकी व्यापकता तुलसी में अधिक है। मीरा का पद्य है:—

मेरे तो गिरधर गुपाल दूसरो न कोई

और तुलसी का पद्य है:—

सियाराम मय सब जग जानी

मीरा के पद्य में जो भाव, आलम्बन की ऐकान्तिकता के कारण अधिक सघन हो गया है वही भाव, आलम्बन की व्यापकता के कारण तुलसी के पद्य में अधिक व्यापक हो गया है। यहाँ दोनों ही प्रकार की मात्रायें—सघनता और व्यापकता, उत्कृष्ट हैं। ऐसे भी दो उदाहरण तलाश किये जा सकते हैं जिनमें ये दोनों मात्रायें और भी उत्कृष्ट या कुछ अपकृष्ट दशा में हों। अलग-अलग कवियों की कृतियों में ही नहीं, एक ही कवि की विभिन्न कृतियों में भावतत्व का यह तारतम्य मिल सकता है। 'साकेत' में उर्मिला का भावतत्व जितना अधिक, सघन और व्यापक है उसकी अपेक्षा वही भाव 'यशोधरा' में कहीं ज्यादा अधिक, सघन और व्यापक है।

अब संवेदन के दूसरे रूप वस्तु-जगत की बात पर आइये। उसकी उत्कृष्टता और उत्कृष्टतरता के अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। हम यहाँ केवल दो दृष्टियों का संकेत करते हैं—निरीक्षण की दृष्टि और लोकसंग्रह की दृष्टि। वस्तु जगत के निरीक्षण की गहनता सूर में अधिक है पर निरीक्षण की व्यापकता तुलसी में अधिक है। इसलिये यहाँ तक तो दोनों समान हैं। किन्तु जिस प्रकार भावतत्व के क्षेत्र में तीव्रता के कारण सूर जीत रहे थे उसी प्रकार वस्तु जगत के क्षेत्र में लोक-संग्रह की दृष्टि तुलसी को जिता देती है। आगे और भी वस्तु-जगत की कुछ दृष्टियाँ हैं जिनके आधार पर शुक्ल जी ने तुलस

को कुछ अधिक ऊँचा उठा दिया है। अस्तु, संवेदनतत्व के तारतमिक विवेचन की यह दिशामात्र है।

अभिव्यक्ति तत्व के भीतर वे सभी साधन आ जाते हैं जो संवेदनतत्व को स्पष्टता, तीव्रता और सूक्ष्मता प्रदान करते हैं। जिस कवि में संवेदन तत्व की स्पष्टता तीव्रता और सूक्ष्मता जितनी अधिक होगी उसका अभिव्यक्ति-पक्ष या उसकी कला उतनी ही अधिक उत्कृष्ट समझी जायगी। अभिव्यक्ति के साधनों में शब्दार्थ के सम्पूर्ण व्यापार और उक्ति प्रकार, बुद्धि-तत्व और शैलीतत्व मुख्यतया आते हैं। संवेदन की अभिव्यक्ति में स्पष्टता का एक उदाहरण यह है:—

'जीवन-निशीथ के अन्धकार'

—कामायनी।

यहाँ रूपक की सहायता से जीवन को निशीथ (अर्धरात्रि) बनाकर कवि ने उसके (जीवन के) अधूरे पन का, अधूरेपन के कारण दुःखान्धकार की अनन्तता का और अर्धरात्रि के समय सूर्य के यथासम्भव दूरतरस्थ होने के कारण दुःखान्धकार की निबिड़ता का स्पष्ट और पूर्ण चित्र उपस्थित कर दिया है। यह स्पष्टता और पूर्णता इन शब्दों में नहीं आ सकती थी:—जीवन में दुःख का अन्त नहीं।

संवेदन की अभिव्यक्ति में तीव्रता का उदाहरण यह हो सकता है:—

'मेरी आहें सोती हैं इन ओठों की चोटी पर'

—महादेवी वर्मा।

आहें इतनी अधिक हैं कि हृदय से लेकर अधरों की नहीं बल्कि ओठों की ऊँचाई तक ठसाठस भर गई हैं और फिर भी वे मौन हैं। इससे अधिक भावों की तीव्रता की अभिव्यक्ति और

क्या होगी कि वाणी भी उनकी धार पर कट जाय। यह तीव्रता इन शब्दों में नहीं आ सकती थी—मेरी आहें रोती हैं इन पलकों की चोटी पर।

संवेदना की अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता के लिये यह पद्य रख लिया जायः—

"परिरम्भकुम्भ की मदिरा
निःश्वास मलय के झोंके"
—आँसू

इन दोनों पंक्तियों में क्रमशः आलिंगन और चुम्वन को हद दर्जे की सूक्ष्म अभिव्यक्ति दी गई है। यही बात यदि इस प्रकार कही गई होती कि—वक्षः स्थल का आलिंगन चुम्बन मिलते अधरों का—तो लगभग इक्केवालों के मतलव की स्थूल अभिव्यक्ति हुई होती।

यहाँ तक संवेदन के सुख-दुःख मूलक भावतत्व की अभिव्यक्ति की बात थी। यही बात संवेदन के दूसरे पक्ष यानी सुख-दुःख के कारणभूत वस्तु-जगत की अभिव्यक्ति के विषय में भी लागू होती है। वस्तु-जगत के अगणित पहलू हो सकते हैं अतः सबका उदाहरण देना और समझना किसी के बलबूते की बात नहीं है। अधिक से अधिक जो किया जा सकता है वह इतना ही कि उनमें से किसी की भी दिशा-मात्र का ज्ञान हो जाय। वास्तविक तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए यह शुक्ल जी की पंक्ति है :—

'बैर क्रोध का मुरब्बा है'
—चिन्तामणि।

क्रोध स्थिर और चुपचाप रहकर बैर में परिणत हो जाता है—यह बात मुरब्बा के रूपक से कितनी साफ हो गई है।

मुरब्बा बनाने के लिए भी किसी चीज को पाग कर बर्तन में मुँह बन्द करके रख दिया जाता है।

तथ्यात्मक अभिव्यक्ति की तीव्रता इस पंक्ति में देख लीजिए—

'सफल मृत्यु जीवन है असफल जीवन मृत्यु'

—सीकर।

यहाँ जीवन और मृत्यु की तथ्यात्मक परिभाषाओं में अभिव्यक्ति की तीव्रता है।

स्थूल तथ्य को भी बारीक अभिव्यक्ति दी जाती है:—

"शाखाओं पर झूल रहा जो आसमान का फूल है
भूल न जाना उसका पलता इस मिट्टी में मूल है"

—झञ्झा २

गरीब लोगों की मेहनत से ही मालदार लोग, मालदार बने हुए हैं—यह बहुत मोटी बात थी जिसे उपर्युक्त पंक्तियों में मिट्टी और फूल के सम्बन्ध से सूक्ष्मातिसूक्ष्म बनाकर कहा गया है।

अभिव्यक्ति की इन तीनों दिशाओं में भी स्पष्टता और स्पष्टतरता, तीव्रता और तीव्रतरता एवं सूक्ष्मता और सूक्ष्मतरता की असंख्य श्रेणियाँ हो सकती हैं जिनके आधार पर हम किसी कवि की कला को तारतमिक व्यवस्था दे दिया करते हैं। इस प्रकार संवेदन तत्व (अलंकार्य तत्व) और अभिव्यक्ति तत्व (अलंकार तत्व) की सीमाओं में साहित्य का प्रतिमान अथवा आलोचना का मानदंड चलता रहता है। संवेदन तत्व मूलतः एक ही है और शाश्वत है। सुख दुख के कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए विभिन्न हो सकते हैं पर उनकी संवेदना का सामान्य रूप सबके लिए एक ही है। इसलिए संवेदनतत्व ही एक ऐसा तार है जो प्राणिमात्र के मन को बींध कर निकल गया है और जिसके माध्यम से हमारी

एकता सिद्ध होती है। साहित्य इसी तार को झकझोरता है। दूसरे, जब तक सृष्टि का क्रम है, सुख दुःख की संवेदना से छुटकारा प्राणिमात्र को कभी प्राप्त नहीं हो सकता है; इसलिये संवेदन तत्व शाश्वत भी है। संवेदन तत्व की मूलतः एकता और शाश्वतभाव के कारण ही साहित्य का प्रतिमान या आलोचना का मानदण्ड भी मूलतः एक और शाश्वत है किन्तु नित्यपरिणामी देश-काल के अनन्त और असंख्य प्रकारों में अभिव्यक्ति पाने वाला संवेदन तत्व अपनी सीमाओं में सदैव असीम है और अपने रूपों में सदैव असंख्य है, एवं उसकी अभिव्यक्ति की स्पष्टता, तीव्रता सूक्ष्मता की कोई पराकाष्ठा नहीं है इसलिये साहित्य का प्रतिमान या आलोचना का मानदण्ड भी अपनी सीमाओं में सदैव असीम है और अपने रूपों में सदैव असंख्य है एवं उसके विकास की भी कोई पराकाष्ठा नहीं है। फलतः अपने मूल में एक रह कर भी अपने अनन्त रूपों में दैनंदिन विकसित होने वाले साहित्य के प्रतिमान की अथवा आलोचना के मानदण्ड की कोई सीमान्त रेखा नहीं खींची जा सकती और न उसके बारे में कभी कोई अन्तिम शब्द ही कहा जा सकता है। जो कुछ कहा जा सकता है वह इतना ही कि यह कभी अपनी अन्तिम दशा में न पहुँचने वाले और सदैव परिवर्तनशील देश-काल की महिमा है जो शाश्वत चिरन्तन संवेदन भी अपनी अभिव्यक्ति में साहित्य का स्थायी प्रतिमान नहीं बना सकता। उदाहरणार्थ संवेदन की सीमा में उत्साह भाव को ले लीजिये। एक समय था जब संसार में इसकी अभिव्यक्ति तेग-तलवारों से की जाती थी और उस युग का यही सत्य भी था किन्तु आज परमाणु अस्त्रों के युग में कोई कवि हिटलर की वीरता का वर्णन उसी माध्यम से करने लगे तो वह इस युग के साहित्यिक प्रतिमान

के अनुरूप नहीं हो सकता। इसी लिये संवेदन-तत्व और अभिव्यक्ति-तत्व के साथ देश-काल की अनिवार्य परिस्थितियों का सम्बन्ध भी हमें साहित्य के प्रतिमान या आलोचना के मानदण्ड के भीतर मानना पड़ेगा। एक वाक्य में कहना चाहिये कि साहित्य का प्रतिमान अथवा आलोचना का मानदण्ड इस बात पर निर्भर करता है कि जीवन के चिरन्तन भाव और उनके शाश्वत कारण, युग-सत्य की कितनी ऊँचाई पर अभिव्यक्ति पा सके हैं।

आलोचना अपने बचपन में प्रयोगात्मक, जवानी में सैद्धान्तिक और बुढ़ापे में प्रायः शास्त्रीय हो जाती है। यह ठीक है कि जब तक साहित्य में किसी विशेष प्रयोग की समृद्धि होती रहती है तब तक उसकी आलोचना का सच्चा रूप प्रयोगात्मक ही अधिक रहता है; सैद्धान्तिक कम और शास्त्रीय तो और भी कम। नये प्रयोगों पर सैद्धान्तिक आलोचना और शास्त्रीय व्यवस्था एक व्यर्थ का लदान है जब तक सिद्धान्तों की उन प्रयोगों में एकात्मीयता न हो और शास्त्रीय व्यवस्था की उनमें विशेषता न हो। दूसरी ओर आलोचना-मात्र बिना किसी सिद्धान्त और शास्त्रीय व्यवस्था के एक पैर भी नहीं चल सकती। प्रयोगात्मक आलोचना भी वर्तमान प्रयोगों में से सिद्धान्त निकाल कर ही टिकाऊ बन सकती है और शास्त्रीय-व्यवस्था का वैशिष्ट्य पाकर ही सार्वजनिक रूप हासिल कर सकती है। शुक्लजी ने सूर और तुलसी की जो प्रयोगात्मक आलोचना उपस्थित की थी उसमें अनेक ऐसे सिद्धान्त थे जो उक्त कवियों की कविताओं में से ही निकाले गये थे और जिन्हें शास्त्रीय व्यवस्था का विशिष्ट रूप प्रदान करा दिया गया था। उदाहरणार्थ काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था एक ऐसा ही

सिद्धान्त है जिसे शुक्लजी ने उक्त कवियों की कविताओं में से उसी प्रकार ढूँढ़ निकाला जिस प्रकार डण्टन ने पाश्चात्य काव्यों में शक्ति और आनन्द का द्विविध स्रोत खोज लिया था। सूर सागर को उन्होंने अधिकतर सिद्धावस्था का और रामचरित मानस को साधनावस्था का काव्य कहा। कर्मसौन्दर्य और लोकसंग्रह की मात्रा साधनावस्था वाले कवियों में शुक्लजी को अधिक जान पड़ी अतः उनके यहाँ तुलसी, सूर की अपेक्षा कुछ ऊँचे आसन पर हैं। किन्तु उक्त सिद्धान्त के साथ शास्त्रीय व्यवस्था कितनी गुथी हुई है और किस रूप में गुथी हुई है—यही उस सिद्धान्त की सार्वजनिकता का समाधान है। साहित्य शास्त्र में सद्यः परिनिर्वृत्ति और कान्तासंमित उपदेश नामक दो प्रयोजनों का शुक्लजी के सिद्धावस्था वाले और साधनावस्था वाले काव्यों के साथ उतना ही असामान्य सम्बन्ध है जितना उनके उपर्युक्त सिद्धान्त का। वैसे शास्त्र किसी विषय के स्वतन्त्र चिन्तन का फल होता है। यदि शुक्ल जी के उपर्युक्त सिद्धान्त पर कोई प्रतिभाशाली आचार्य स्वतंत्र विवेचन उपस्थित करे तो यह शास्त्र का मार्ग होगा। संस्कृत साहित्य शास्त्र के पीछे न जाने कितने हजार वर्षों का ऐसा ही स्वतन्त्र चिन्तन है। तत्कालीन आचार्यों ने अनेक सिद्धान्त यत्र-तत्र शास्त्रार्थ आदि की परिपाटी से उपलब्ध किये होंगे और तब उन पर एड़ी-चोटी का पानी एक किया होगा।

खैर मतलब यह है कि नये प्रयोग स्वयं पुराने प्रयोगों की प्रतिक्रिया हुआ करते हैं अतः उन्हें समझने के लिये पुराने प्रयोग और उनसे सटे हुए सिद्धान्त तो समझने आवश्यक होते ही हैं साथ ही साथ उन्हें यथासम्भव सार्वभौम बनाने के लिये कोई शास्त्रीय रूप भी देना पड़ता है अन्यथा कोई भी आलोचना

एक अनन्त की दौड़ और शून्यता की लड़ाई होगी। साहित्य के स्थायी प्रतिमान अथवा आलोचन के स्थायी मानदण्ड पर निर्णय देने वालों को यह साहित्य और उसकी आलोचना के इतिहास की चेतावनी है।